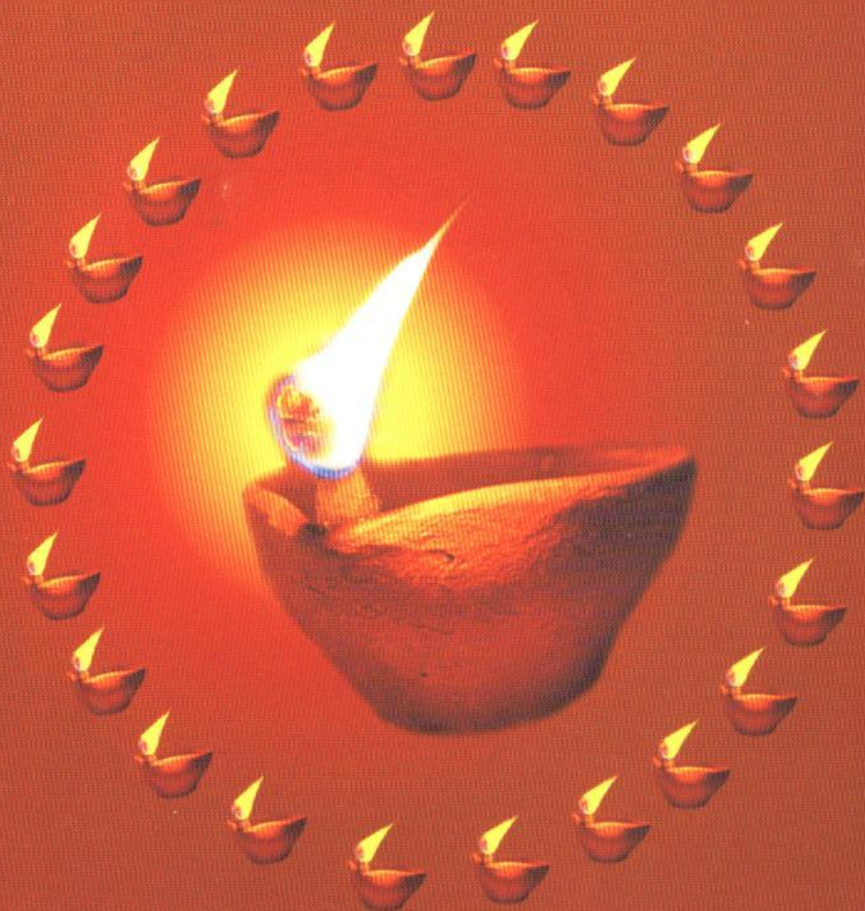
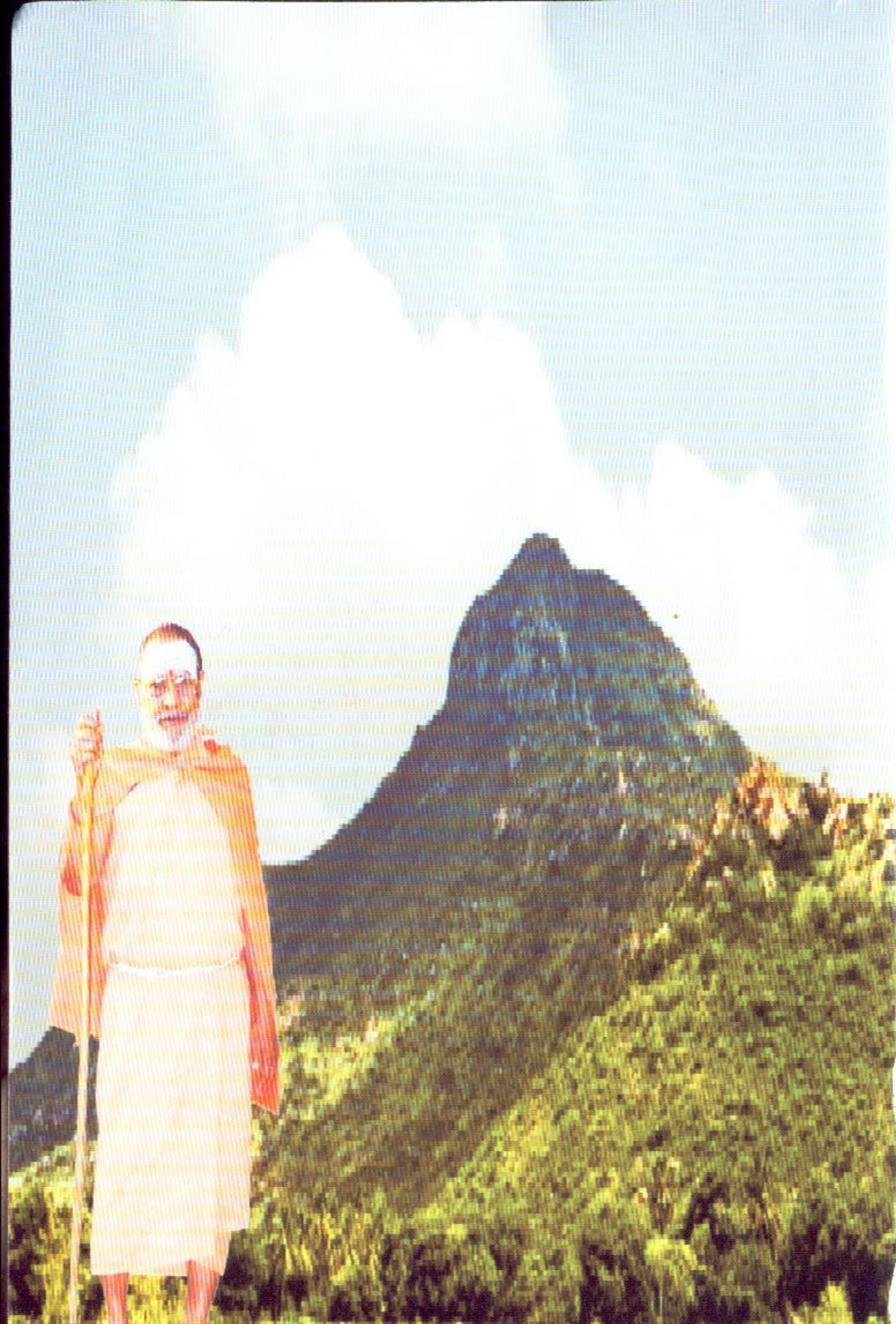
प्रश्नोत्तर दीपमाला

भाग - ३



स्वामी रामानन्दजी सरस्वती



प्रश्नोत्तरदीपमाला

भाग-३

कथं तरेयं भवसिन्धुमेतं का वा गतिर्मे कतमोऽस्त्युपायः।
जाने न किञ्चित्कृपयाव मां भोः संसारदुःखक्षतिमातनुष्व।।
मा भैष्ट विद्वंस्तव नास्त्यपायः संसारसिन्धोस्तरणेऽस्त्युपायः।
येनैव याता यतयोऽस्य पारं तमेव मार्गं तव निर्दिशामि।।
(विवेकचूडामणि-४२,४५)

एक मुमुक्षु सद्गुरु के पास जाकर विनती करता है -

'हे प्रभो! मैं इस भवसागर को कैसे पार करूँगा, मेरी गति क्या होगी? मैं तो कुछ नहीं जानता। कृपया आप मेरे संसारदुःख के नाश का उपाय करके मेरी रक्षा कीजिए।'

सद्गुरु उसे आश्वस्त करते हुए उत्तर देते हैं -

'हे वत्स! तू भयभीत मत हो, तेरा नाश नहीं होगा। इस संसारसागर को पार करने का उपाय है। पूर्व में यत्नशील मुमुक्षुओं ने जिस मार्ग से इसे पार किया है, उसी मार्ग का मैं तुझे उपदेश करूँगा।

श्री मार्कण्डेय संन्यास आश्रम, पो. ओंकारेश्वर - ४५०५५४

प्रकाशक : श्री मार्कण्डेय संन्यास आश्रम पब्लिक ट्रस्ट, ओंकारेश्वर

प्रथम संस्करण : रविवार, ७ अक्टूबर, २०१२
आश्विन कृष्ण सप्तमी, वि.सं. २०६९
महाराजश्री की चतुर्थ पुण्यतिथि

प्रतियाँ : ३००० (तीन हजार)

प्रधान सम्पादक : स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती
सम्पादक मण्डल : स्वामी आशुतोष भारती
ब्र. किशोर चैतन्य

मुखपृष्ठ संकल्पना एवं अक्षर संयोजन : स्वामी परशुरामानन्द पुरी

पुस्तक प्राप्ति स्थान
श्री मार्कण्डेय संन्यास आश्रम, पो. ओंकारेश्वर - ४५०५५४.
जिला : खण्डवा (म.प्र.)
फोन नं. : ०७२८०-२७१२६७, ९८२७८१३७११, ९४२५९३९५६७

सहयोग राशि : ₹ ५०/-

मुद्रक : प्रिण्टपैक प्रा. लि., इन्दौर

विभिन्न आश्रम

परम पूज्य सद्गुरुदेव ब्रह्मलीन स्वामी अभयानन्द सरस्वतीजी महाराज तथा परम पूज्य सद्गुरुदेव ब्रह्मलीन स्वामी रामानन्द सरस्वतीजी महाराज के द्वारा स्थापित एवं पूज्य स्वामी प्रणवानन्द सरस्वतीजी महाराज के संरक्षण में संचालित आश्रमों का विवरण :-

१. **श्री मार्कण्डेय संन्यास आश्रम**
ओंकारेश्वर, मांधाता, जिला-खण्डवा-४५०५५४ (म.प्र.)
फोन. नं. ०७२८०-२७१२६७, मो.- ०९८२७८१३७११

२. **अभय कैलाश आश्रम,**
बाराबंकी (उ.प्र.)
फोन नं. ०५२४८-२२४८९८, ०७३७६७६७४१९,
०९०४४२८१२४४

३. **श्री अभय संन्यास आश्रम,**
वनकुटी, बंकी, बाराबंकी (उ.प्र.) मो.- ०९५५४६०३७९६

४. **श्री अभय संन्यास आश्रम**
सी.के.८/१२, गढ़वासी टोला
वाराणसी-२२१००१ (उ.प्र.) मो.- ०९९८४७४१४९४

५. **श्री अभय साधना कुटीर** (ओंकारेश्वर महादेव)
मु.पो. **केरपानी,** तहसील. करेली, **नरसिंहपुर-४८७००१,** (म.प्र.)
फोन नं. ०७७९३-२७८५५५, ०९४२४९६४२९१

६. **श्री तुरीय आश्रम,** माई की बगिया,
अमरकण्टक-४८४८८६, जिलाः अनूपपुर-(म.प्र.)
मो.- ०६४२४३५३२६३, ०८८७८७४८६४१

७. **श्री अभयधाम,**
नटवा जंगी रोड, अभय तिराहा, **मिर्जापुर -२३१००१**(उ.प्र.)
मो.- ०६६१६३२६०२६

८. **श्रीरामकुटी आश्रम, रामगढ़,** जिलाः खरगोन (म.प्र.)
मो - ०६००६३६५४८५

६. **अभयभक्तिराम आश्रम,** लक्ष्मीनारायण मन्दिर, **कटघड़ा**
जिला - खरगोन (म.प्र.)

****



श्री मार्कण्डेय संन्यास आश्रम
संक्षिप्त परिचय

ब्रह्मलीन परमपूज्य स्वामी रामानन्द सरस्वतीजी महाराज के द्वारा नर्मदा तट पर पवित्र ओंकारेश्वर क्षेत्र में स्थापित श्री मार्कण्डेय संन्यास आश्रम भारतवर्ष के प्रतिष्ठित आश्रमों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इस आश्रम की स्थापना की कहानी भी विलक्षण ही है। सन् १९६२ में पूज्य महाराजश्री एक ब्रह्मचारी के रूप में नर्मदा-तट पर परिव्रजन करते हुए ओंकारेश्वर तीर्थ में पहुँचे। वर्तमान में जहाँ आश्रम स्थापित है, उस स्थान के निकट ही एक अर्जुन वृक्ष के नीचे रहकर उन्होंने तीन माह का समय गहन साधना में व्यतीत किया।

इसके पश्चात् वे माँ नर्मदा को प्रणाम कर आगे भ्रमण के लिए चल दिए। परन्तु इस स्थान के शान्त, एकान्त और पवित्र वातावरण ने उनके मन को कुछ ऐसा आकर्षित कर लिया कि सन् १९६५ में वे पुनः साधना की दृष्टि से यहीं लौट आए। इस बार उनके अभिन्न सखा पूज्य स्वामी श्री कृष्णानन्दजी 'विरक्त' भी उनके साथ थे। दोनों विभूतियों ने एक कच्ची कुटिया बनाकर लगभग छह मास तपश्चर्यापूर्वक इस स्थान पर निवास किया। तत्पश्चात् उन दोनों ने प्रयाग कुम्भ में भाग लेने के लिए प्रस्थान किया। प्रयाग में जब महाराजश्री ने अपने गुरुदेव ब्रह्मलीन परमपूज्य स्वामी श्री अभयानन्द सरस्वतीजी को अपने रेवातट-निवास के विषय में बताया तो उनके मन में भी ओंकारेश्वर-दर्शन का भाव स्फुरित हो गया। अतः महाराजश्री ओंकारेश्वर पहुँचकर गुरुदेव के लिए कुटिया के निर्माण में जुट

गए।

कुछ समय पश्चात् पूज्य गुरुदेव पधारे और इस स्थान की नीरवता से आकर्षित होकर तीन वर्ष तक कहीं गए ही नहीं। उनके यहाँ रहने से विरक्त सन्त एवं गृहस्थ भक्त भी आने लगे। उस समय ओंकारेश्वर क्षेत्र में अभ्यागत महात्माओं के लिए भिक्षा आदि की कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी। इस समस्या को देखकर करुणहृदय गुरुदेव के मन में ऐसा संकल्प आया कि यहाँ अभ्यागत सन्तों के निवास और भिक्षार्थ कोई स्थायी व्यवस्था बने तो अच्छा हो। अपने गुरुदेव के इस संकल्प को पूर्ण करने के लिए ही महाराजश्री ने इस आश्रम के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया।

आश्रम के प्रारम्भिक वर्षों में महाराजश्री ने सन्तों के साथ मिलकर निर्माण-कार्य में अथक परिश्रम किया। सन्तों के परिश्रमरूपी नींव पर खड़े होने के कारण आज भी इस आश्रम के वातावरण में एक सात्त्विक पवित्रता का अनुभव सभी को होता है। धीरे-धीरे आश्रम में गोशाला, श्री अभयेश्वर महादेव मन्दिर एवं भगवान् भाष्यकार मन्दिर की स्थापना हुई। वाटिका, सन्त-निवास, सत्सङ्ग-भवन एवं भक्त-निवास का भी निर्माण हुआ। तीर्थ-यात्रियों को नर्मदा स्नान आदि की सुविधा उपलब्ध कराने की दृष्टि से एक विशाल 'अभयघाट' का निर्माण भी कुछ वर्ष पूर्व आश्रम के श्रद्धालु भक्तों द्वारा कराया गया।

पूज्य महाराजश्री शांकर-वेदान्त तथा आगमशास्त्र के मूर्धन्य एवं अनुभवी विद्वान् थे। **स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्** - इस श्रुति को जीवन में आत्मसात् करते हुए उन्होंने यहाँ रहकर मुमुक्षुओं के कल्याणार्थ मुक्तहस्त से अपनी ज्ञान-सम्पदा का वितरण किया। श्रीमद्भगवद्गीता, दशोपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र - इस प्रस्थानत्रयी का शांकरभाष्य आत्मज्ञान-प्राप्ति का मूल आधार है। **संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्** - इस श्रुति के आदेशानुसार परमहंस संन्यासी सम्प्रदाय में तो इसका स्वाध्याय अनिवार्य

ही है। महाराजश्री इस प्रस्थानत्रयी का विवेचनापूर्ण स्वाध्याय जिज्ञासुओं के हितार्थ वर्षों तक अनवरतरूप से कराते रहे। उनके द्वारा पोषित इस शांकरी परम्परा को उनके सुयोग्य शिष्य स्वामी प्रणवानन्द सरस्वतीजी पूर्ण निष्ठा से आगे बढ़ा रहे हैं। देश के कोने-कोने से विरक्त एवं गृहस्थ सभी प्रकार के जिज्ञासु साधक यहाँ आकर अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करते हैं। यहाँ से लब्धज्ञान अनेक सन्त समाज में धर्म तथा ज्ञान का प्रचार कर सनातन धर्म के रक्षण में सहयोग दे रहे हैं। आश्रम में जिज्ञासुओं के उपकारार्थ एक विशाल पुस्तकालय की भी व्यवस्था है।

आश्रमस्थ गोशाला, वाटिका, मन्दिर, पाकशाला, धर्मार्थ चिकित्सालय आदि प्रकल्पों में अनेक प्रकार की सेवा प्रवृत्तियाँ चलती रहती हैं, जिनमें सहयोग करके कोई भी साधक निष्काम कर्मयोग के अनुष्ठान का सुन्दर अवसर प्राप्त कर सकता है। आश्रम के मन्दिरों में प्रातः एवं सायंकाल आरती-पूजन एवं सामूहिक स्तोत्रपाठ नियमित रूप से होते हैं। साथ ही साथ माँ नर्मदा के हर-हर निनाद से गुञ्जित आश्रम का शान्त वातावरण साधकों के भजन-ध्यान में उत्प्रेरक सहयोगी की भूमिका बखूबी निभाता है। इस आश्रम को देखकर वैदिक-ऋषिपरम्परा के आश्रमों की स्मृति सजीव हो उठती है। यहाँ ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा कर्मयोगरूपी तीन धाराओं की त्रिवेणी सतत प्रवाहमान है, जिसमें अवगाहन करके मुमुक्षु साधक सहज रूप से अपने कल्याण का सम्पादन कर सकते हैं।

****



प्राक्कथन

ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में एक सूत्र आया है- **उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च।** अर्थात् इस संसार का अनादित्व युक्तियों से उपपन्न होता है क्योंकि अकस्मात् बिना कारण कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती और **धाता यथापूर्वमकल्पयत्** इत्यादि श्रुतियों से भी अनादित्व उपलब्ध होता है अर्थात् जाना जाता है। यह जाना नहीं जाता है कि कब से संसार का प्रादुर्भाव हुआ है। किन्तु इतना तो सत्य है कि यह उसी तरह से निरन्तर प्रवाहित हो रहा है जिस तरह अपने उद्‌गम स्थान से निकलकर समुद्र-पर्यन्त अनवच्छिन्न रूप से प्रवाहमान नदी की धारा। अनादिकाल से संसाररूपी भवाटवी में भटका हुआ यह जीव अपने स्वाभाविक ज्ञान और कर्म की सहायता से इस धारा को ऊर्जा देता हुआ स्वयं भी इसी धारा में बह रहा है। यह जानने के बाद भी कि मुझे इस जीवन में उन शास्त्रीय प्रवृत्तियों को प्रमुखता से अङ्गीकार करना चाहिए जो स्वाभाविक प्रवृत्तियों की उच्छेदिका तथा आध्यात्मिक जागृती के उन्मेष में कारण है, वह सहजता से उन्हें स्वीकार नहीं कर पाता।

पुरुषार्थ की सिद्धि का आधार यही है कि व्यक्ति राग-द्वेष से होने वाली क्रियाशीलता को अधिक से अधिक नियन्त्रित करते हुए कर्तव्यदृष्टि से सम्पादित होने वाली प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करे। पुरुषार्थ की गवेषणा में लगे हुए मुमुक्षु का इस प्रकार का प्रयास आरम्भ में अन्तर्द्वन्द्व को जन्म दे सकता है। परन्तु शास्त्रीय दृष्टि वाला, गुरुमुखी, ईमानदार साधक जल्दी ही इस उलझन से बाहर आकर अपेक्षाकृत निर्द्वन्द्वभाव से आगे बढ़ता है। जागतिक वैभव से वैराग्य, लक्ष्य के प्रति समर्पण तथा साधना के प्रति पूर्ण

अनुराग निश्चित रूप से उसे लक्ष्य तक पहुँचा देते हैं। भगवान् कृष्ण ने गीता में - **मय्येव मन आधत्स्व....** एवं **सर्वधर्मान्परित्यज्य....** इत्यादि अनमोल वचनों से मानवमात्र को यही सन्देश दिया है।

यह तो सार्वजनीन प्रसिद्धि है कि प्राणिमात्र की नैसर्गिक रुचि अविनाशी आनन्द की प्राप्ति में है। उसी की खोज में उसको प्राप्त होता है परिच्छिन्न आनन्द - जिस में वह सन्तुष्ट सा हो जाता है। जैसे ऊपर फेंका गया मिट्टी का ढ़ेला अपने अंशी(पृथ्वी) से मिलने के लिए तेजी से नीचे की ओर आता है, समुद्रगा नदी समुद्र-पर्यन्त अथक प्रवाहित रहती है-बीच में ठहराव नहीं आता, उसी तरह से यह प्राणी भी जब तक पूर्ण विश्राम को प्राप्त न होगा तब तक ठहराव नहीं आयेगा। जिज्ञासामयी उसकी धारणायें उसे जिज्ञासु के रूप में ही रखेंगी।

ऐसे ही जिज्ञासु साधकों की जिज्ञासाओं को निमित्त बनाकर प्रस्तुत **प्रश्नोत्तरदीपमाला भाग-३** पूज्य महाराजश्री के श्रीमुख से निःसृत हुआ है। परम पूज्य गुरुदेव ने अस्वस्थ अवस्था में भी यथासम्भव हर जिज्ञासा का पूर्णतः समाधान करने का प्रयास किया है। उनके प्रवचन की शैली-भाषा तथा भाव को अक्षुण्ण रखते हुए सम्पादन करने का प्रयास किया है। यह कितना सफल हुआ है इसका तो निर्णय विज्ञ पाठकगण ही करेंगे, परन्तु सम्पादक मण्डल की यही कोशिश रही है कि उपरोक्त बातें और शुद्धता सुरक्षित रहे। इससे पहले भी पूज्यश्री की साहित्यसरिता की दो तरंगों के रूप में **प्रश्नोत्तरदीपमाला भाग-१** तथा **भाग-२** को श्री मार्कण्डेय संन्यास आश्रम, ओंकारेश्वर ने प्रकाशित करके जिज्ञासुओं के करकमलों तक पहुँचाया था उसी की यह तीसरी कड़ी है।

पूर्व की भाँति इस प्रकाशन में भी हमारे आत्मीय **स्वा. आशुतोष भारतीजी** तथा **ब्र. किशोर चैतन्यजी** का यह अथक प्रयास रहा है कि आश्रमीय अन्य सेवाओं से समय निकाल कर इस प्रकाशन-कार्य को यथा-समय सम्पन्न करें। उसी का परिणाम है कि यह **प्रश्नोत्तरदीपमाला भाग-३**

आज हम सबके हाथों में है। **स्वा. परशुरामानन्द पुरीजी** ने कम्प्यूटर पर टाइपिंग और कम्पोजिंग करके प्रकाशन में अमूल्य योगदान दिया है। भगवान् आशुतोष से प्रार्थना है कि ऐसे निष्काम मुमुक्षुओं को उत्तरोत्तर साधनापथ पर आगे बढ़ाते रहें।

पूज्य महाराजश्री की अनुगत शिष्याओं **कु. ऋचा टावरी, कु. रानू मोहता, कु. प्रिया मुँधड़ा एवं कु. सोनम चौबे** ने कैसेट सुनकर पाण्डुलिपि तैयार करने के दुरूह कार्य को तत्परता से सम्पन्न करके इस प्रकाशन में भी पूर्व प्रकाशनों की तरह सहायता पहुँचाई। इनके अतिरिक्त भी जिन सन्तों एवं भक्तों ने अपना-अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है वे निरन्तर सन्मार्ग की ओर अग्रसर हों।

इत्यों शम्

रविवार, ७ अक्टूबर २०१२
आश्विन कृ. सप्तमी, वि.सं.२०६९
महाराजश्री की चतुर्थ पुण्यतिथि

गुरुचरणानुरागी,
स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती
ओंकारेश्वर



विषयानुक्रमणिका

कर्म-सिद्धान्त और गति-विचार

जिज्ञासा :- उत्तरायण में शरीर छोड़ने वाले को ब्रह्मलोक की प्राप्ति कही गई है। यदि किसी के कर्म ब्रह्मलोक-प्राप्ति के अनुकूल नहीं है तो वह वहाँ कैसे जायेगा?

समाधान :- उत्तरायण में शरीर छोड़ने मात्र से किसी को ब्रह्मलोक की प्राप्ति नहीं होती। यहाँ पर उत्तरायण का तात्पर्य काल से नहीं है, अपितु मार्ग से है। यदि काल से होता तो कृष्णपक्ष के अभिमानी देवता के अधिकार में गया जीव भी ब्रह्मलोक को प्राप्त करता, क्योंकि उत्तरायण में भी कृष्णपक्ष आता है। उत्तरायण मार्ग उस जीव के लिये है जो शास्त्र के अनुसार कर्म करता है और उपासना भी। इस मार्ग से वह कर्म-उपासना के अनुसार ब्रह्मलोक तक क्रम से जायेगा। पहले वह अर्चि-अभिमानी देवता के अधिकार में जायेगा फिर दिनाभिमानी देवता के अधिकार में जायेगा। वह उसे शुक्लपक्षाभिमानी देवता तक पहुँचा देगा। शुक्लपक्ष का अभिमानी देवता उसे उत्तरायण के अभिमानी देवता के अधिकार में पहुँचा देता है। इस प्रकार वह ब्रह्मलोक तक जाता है। इसलिये इस भूल में नहीं रहना चाहिए कि उत्तरायण में शरीर छोड़ने वाला ब्रह्मलोक जाता है। उसके लिये बड़ी साधना की आवश्यकता है।

****

जिज्ञासा :- कर्म की फलसिद्धि में मुख्य हेतु क्या है?

समाधान :- इस विषय में भगवान् भाष्यकार कहते हैं -

अधिकारिणमाशास्ते फलसिद्धिर्विशेषतः।
उपाया देशकालाद्याः सन्त्यस्मिन्सहकारिणः।।(विवेक चूडामणि-१४)

कर्मफल की सिद्धि में मुख्य हेतु साधक में रहने वाला अधिकारित्व (फलप्राप्ति की योग्यता)ही है। सहकारी साधन के रूप में देश, काल, संग

इत्यादि भी होते हैं।

****

जिज्ञासा :- क्या मनुष्य शरीर में पुरुषार्थ करके पूर्ण कलाओं का विकास किया जा सकता है?

समाधान :- शास्त्र में पूर्ण कलाओं की संख्या सोलह बताई गई है। मनुष्य शरीर में पुरुषार्थ करके सात कलाओं तक का विकास किया जा सकता है। इससे अधिक कहीं दिखाई देती हैं तो उसे **अवतार कोटि** का माना जाता है।

****

जिज्ञासा :- व्यक्ति की गति कर्मों के अनुसार होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार जिसने कोई पुण्य-पाप किया ही नहीं, ऐसे एक अबोध शिशु की मृत्यु होने पर उसकी क्या गति होगी?

समाधान :- यह बात आप उस शिशु के केवल वर्तमान जन्म को मान कर कह रहें हैं। मृत्यु के उपरान्त किसी जीव की गति में केवल वर्तमान शरीर के कर्म और संस्कार ही हेतु नहीं बनते वरन् पूर्व के जन्मों में किये हुए जिन कर्मों का फल भोग अभी तक नहीं हुआ है वे सभी कर्म एवं उनके संस्कार भी भावी जन्म में हेतु बनते हैं। अतः अबोध शिशु ने वर्तमान शरीर में भले ही कोई कर्म न किया हो, उसके पूर्व के कर्म और संस्कार अभी शेष हैं। उनके अनुसार उसकी गति हो जाएगी। शास्त्रों में इस प्रकार का भी वर्णन आता है कि अमुक पाप करने से व्यक्ति को बहुत से जन्मों तक अल्प आयु में ही मरना पड़ता है।

****

जिज्ञासा :- शास्त्रों में स्वर्ग जाने के लिये तो धूममार्ग बताया है परन्तु नरक में जाने के लिये किसी मार्ग का कथन नहीं किया है। नरक में जीव किस प्रकार जाता है?

समाधान :- उपनिषदों में स्वर्ग जाने के लिये धूममार्ग तथा ब्रह्मलोक जाने के लिये अर्चिमार्ग का कथन किया है एवं जो इन लोकों को प्राप्त नहीं करता उसके लिये तीसरी गति कही है -

जायस्व म्रियस्व इत्येतत्तृतीयं स्थानम्....।(छान्दो.उप.-५.१०.८)

यहीं बार-बार जन्मो और मरो। अब यदि इसका नाम रखो तो निरन्तर जन्म-मरणरूप मार्ग हो जाएगा। इस प्रकार तीन मार्गों का कथन किया है। यदि आपके पुण्य और पाप सामान्य हैं, न कोई विशेष पुण्य किया न ही कोई विशेष पाप तो यहाँ पर ही मनुष्य या पशु-पक्षी, वृक्ष इत्यादि के रूप में उत्पन्न हो जाएंगे।

परन्तु किसी व्यक्ति का बहुत बड़ा पाप है जिसका फल इस पार्थिव शरीर के द्वारा नहीं भोगा जा सकता उसके लिये एक विशेष व्यवस्था है। उसे नरक में ले जाया जाता है। उपनिषदों में नरक में जाने के मार्ग का वर्णन इसलिये नहीं किया क्योंकि वहाँ उपासक और कर्मी का प्रसंग है। नरक के मार्ग का कथन करना इसलिये भी आवश्यक नहीं समझा कि मनुष्य शरीर से ऊपर जाने के लिये मार्ग जानने की आवश्यकता पड़ती है, नीचे गिरने के लिये मार्ग जानने की क्या आवश्यकता है। अरे! पहाड़ पर चढ़ना हो तब मार्ग जानने की आवश्यकता पड़ती है जिससे सावधानीपूर्वक, निर्विघ्न ऊपर पहुँच जाएं। अब किसी को पहाड़ से गिरना हो तो मार्ग जानने की क्या आवश्यकता है, जिधर से जगह मिलेगी नीचे पहुँच जाएगा। नरक में जाने का मतलब है नीचे गिरना। उसे तो यमदूत गले में फाँसी लगा कर जिस किसी भी रास्ते से ले जाएंगे।

पुराणों में नरक जाने के मार्ग का विस्तार से वर्णन किया है। मार्ग में बड़े विलक्षण अनुभवों का वर्णन है। किस पाप वाले को किस प्रकार की यातनाएं मिलती हैं यह सब वहाँ विस्तार से कहा है। उस मार्ग का नाम यातना मार्ग रखा गया है। उस समय जीव को जो शरीर मिलता है उसे यातना-शरीर या नारकीय-शरीर कहते हैं। उसे चाहे जितना कष्ट दें वह न तो नष्ट होता है, न ही बेहोश। उसमें संवेदना बहुत अधिक होती है। कुछ लोग तो इस बात को अर्थवाद समझते हैं। वे कहते हैं पाप से निवृत्त करने के लिये ऐसा कहा है, पर ऐसी बात नहीं है। शास्त्र में जो बात कही है उसे सत्य ही समझना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- कर्म करते समय न चाहने पर भी मन में आ ही जाता है कि यह कर्म मैं कर रहा हूँ, इसमें क्या कारण है?

समाधान :- यही माया है। मूल में अहंकार बैठा है जो सचाई को स्वीकार करने नहीं देता। भगवान् भाष्यकार कहते हैं पूरा संसार इसी में दौड़ रहा है। सचाई को स्वीकार नहीं करता -

देहस्त्रीपुत्रमित्रानुचरहयवृषास्तोषहेतुर्ममेत्थं
सर्वे स्वायुर्नयन्ति प्रथितमलममी मांसमीमांसयेह।
एते जीवन्ति येन व्यवहृतिपटवो येन सौभाग्यभाज-
स्तं प्राणाधीशमन्तर्गतममृतममुं नैव मीमांसयन्ति।।(शतश्लोकी-५)

दुनिया इसी में दौड़ रही है कि मेरा शरीर बड़ा स्वस्थ है। मेरी स्त्री बड़ी सुन्दर है, मेरा पुत्र आज्ञाकारी है, अनुचर सब मेरे वश में हैं, मेरे पास हाथी-घोड़े इत्यादि बहुत सारा धन है। मेरी बराबरी कौन कर सकता है? इस प्रकार सभी लोग इस **मांस की मीमांसा** में ही लगे हुए हैं। जिससे ये सभी जीवित हैं-**एते जीवन्ति येन,** उसकी तरफ किसी का ध्यान नहीं जाता।

जो आज नहीं तो कल छूटने वाले हैं उनमें मन लगाए बैठे हैं कि ये सब मेरे हैं। अरे! जिनको तुम अपने मान रहे हो उनका स्वयं का कोई भरोसा नहीं कि कब गायब हो जाएं। अपने आप को व्यवहार में बड़ा कुशल मान रहे हो। परमात्मा शक्ति दे रहा है इसलिये तुम व्यवहार में कुशल हो। तुम प्रसन्न हो रहे हो कि फूल-माला चढ़ रही है, पूजन हो रहा है। अखबार में बड़ी प्रशंसा हो रही है। पर यह विचार नहीं करते कि वह शक्ति न दे, बुद्धि न दे तो तुम क्या कर लोगे? जो हृदय को चलाने वाला है, जो प्राणों को चलाने वाला है उसकी तरफ किसी का ध्यान नहीं जाता। इस सचाई को कोई स्वीकार कर ले कि उस परमेश्वर ने ही इस कार्यकरणसंघात को बनाया है, वही इसमें श्वास चला रहा है, इसलिये यह जीवित है तो मैं अभिमान किस बात का करूँ, तब उसकी बुद्धि समर्पित हो जाएगी। पर सुनना जितना सरल लगता है यह उतना सरल नहीं है। इस सचाई को माया स्वीकार करने नहीं देती।

****

जिज्ञासा :- जीवन में नित्य और नैमित्तिक कर्मों की अनिवार्यता क्यों है?

समाधान :- यह बात सभी जानते हैं कि हमारे कोई प्रयास न करने पर भी घर में कचरा आ ही जाता है। यदि झाड़ू न लगाएँ तो कचरा बढ़ता जाएगा और अन्ततः घर रहने लायक नहीं रहेगा। इस झाड़ू लगाने के काम में रविवार की भी छुट्टी नहीं होती है, रोज ही करना पड़ता है।

इसी प्रकार हम लोग जगत् में व्यवहार करते हैं तो मन में कचरा (जगत् के संस्कार) अपने आप आता है। उस कचरे को प्रतिदिन निकालने के लिये जो कर्म शास्त्र में कहे गए हैं उनका नाम है - **नित्य कर्म**। जैसे सन्ध्या, अग्निहोत्र, नियमित गुरुमन्त्र का जप इत्यादि। इन कर्मों का कोई विशेष फल नहीं है परन्तु तुम नहीं करोगे तो पाप लगेगा। जैसे झाड़ू न लगाने पर घर रहने लायक नहीं रहता उसी प्रकार तुम नित्य कर्म नहीं करोगे तो तुम्हारा मन किसी देवता के बैठने लायक नहीं रहेगा।

किसी देश, काल के निमित्त को लेकर जिन कर्मों का विधान है उनका नाम है - **नैमित्तिक कर्म**। जैसे किसी पर्व का अथवा विवाह, जन्म, मरण आदि का निमित्त, इन अवसरों पर कुछ कर्म अवश्य करने पड़ते हैं। इनका भी किसी फल-विशेष से सम्बन्ध नहीं है, मन के शोधन से ही सम्बन्ध है। इन्हें न करने पर दोष लगता है। अतः मन की शुद्धि के लिये नित्य और नैमित्तिक कर्मों को करना अनिवार्य है।

आजकल सन्ध्या, अग्निहोत्र आदि वैदिक नित्य कर्म तो प्रायः कोई करता ही नहीं, कई व्यक्ति गुरुमन्त्र का जो नियमित जप करते हैं उसे भी कामना से जोड़ देते हैं। तब आपका जप काम्यकर्म बन जाता है, नित्य कर्म नहीं रहता। ऐसे में वह जप मन का शोधन नहीं करेगा। आजकल नित्यकर्मों का अभाव हो जाने से लोगों के मन की समस्या बहुत बढ़ गई है। साधक को इस विषय में बहुत सावधान रहना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- यज्ञ, दान और तप को गीता में अवश्य कर्तव्य क्यों बताया? इन्हें किस प्रकार करना चाहिए?

समाधान :- देवताओं से हमें बहुत कुछ प्राप्त होता है इसलिये उसके बदले में उन्हें भी कुछ देना हमारा कर्तव्य है। गीता में ही कहा -

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।(३.१२)

देवताओं का भाग उन्हें दिए बिना भोग करोगे तो चोर कहलाओगे। सूर्य, वायु, इन्द्र आदि देवताओं के अनुग्रह के बिना तुम जीवित नहीं रह सकते। तुम्हारे पास जो कुछ भी आया उसमें पहले देवता का अधिकार हो गया कि नहीं! देवता के प्रति जो कर्तव्य का निर्वाह है वही **यज्ञ** है। इसमें देवताओं के लिये आहुति दी जाती है, उनका भाग उन्हें पहुँचाया जाता है। समाज के बिना भी तुम जीवित नहीं रह सकते, तुम्हारा उत्कर्ष नहीं हो सकता। इसलिये समाज का भी तुम पर ऋण है। उसे चुकाने हेतु समाज के उत्कर्ष के लिये जो त्याग करते हो उसका नाम है- **दान**। ये यज्ञ और दान जीवन में अनिवार्य हैं क्योंकि इनके बिना तुम पर ऋण बढ़ता जाएगा। यज्ञ-दान के बिना अर्थात् देवता और समाज का ऋण चुकाए बिना यदि तुम सम्पत्ति का उपभोग करते हो तो तुमसे जबर्दस्ती वसूली होगी। तब तुम्हारा पैसा बीमारी में जाएगा, मुकदमे में जाएगा या चोरी ही हो जाएगा। पैसा तो वसूल होगा ही।

इसलिये मानलो तुम्हारे खेत में मिर्च का पौधा है, जिसमें १० मिर्च लगे हैं। उनको जब तोड़ो तो एक मिर्च को अलग कर दो। वह तुम्हारा नहीं देवता का है। एक को समाज के लिये अलग कर दो। बाकी ८ मिर्च तुम्हारे हैं, उसका उपभोग कर सकते हो। अब जो तुम्हारा है उसमें भी त्याग कर सकते हो तो वह तुम्हारा **तप** बन जाएगा।

****

जिज्ञासा :- शास्त्र कहता है कि निष्काम भाव से किए कर्मों से चित्त

शुद्ध होता है लेकिन चित्त शुद्ध हुए बिना मन में निष्कामता आएगी ही कैसे? तब निष्काम कर्म करना कैसे सम्भव होगा?

समाधान :- पहले कोई भी साधन प्रयासपूर्वक किया जाता है। इस प्रकार दीर्घकाल तक करने के बाद उसकी सुदृढ़ भूमिका हो जाती है। जैसे महापुरुषों के जीवन में जो स्वाभाविक व्यवहार होता है वही साधक के लिये प्रयाससाध्य होता है। पहले निष्काम कर्म का अनुष्ठान प्रयासपूर्वक होगा। साधक किसी भी कर्म में सावधान रहेगा, मन में कामना तो आएगी ही पर वह शास्त्र और गुरु-उपदेश के आधार पर उसे काटेगा। उस कर्म के साथ किसी प्रकार का संकल्प करने से बचेगा। अपने कर्म को कर्तव्यदृष्टि से करेगा और उसे भगवान् के साथ जोड़ेगा। यह सब पहले बहुत प्रयास से होगा, पर जैसे-जैसे निष्कामता बढ़ती जाएगी वैसे-वैसे स्वाभाविक होता जाएगा।

कोई कहे कि पहले साइकिल चलाना आ जाए उसके बाद साइकिल पर बैठेंगे तो वह कभी साइकिल चला पाएगा! कोई कहे कि हमको तैरना आ जाए तब पानी में उतरेंगे क्योंकि बिना जाने उतरने पर डूब जाएंगे। तो उसको जीवन भर तैरना नहीं आएगा। यह बात ठीक है कि बिना तैरना जाने पानी में डूबने का खतरा है,पर यह भी सच है कि बिना पानी में उतरे तैरना नहीं आएगा।

इसी प्रकार निष्काम कर्म के साधक को पहले प्रत्येक कर्म में विचारपूर्वक कर्तव्यबुद्धि को प्रधान बनाते हुए कामना को गौण कर देना चाहिए। एक अध्यापक कर्तव्य को प्रधान और पैसे को गौण करेगा तभी बालक के उत्थान में अपनी पूरी शक्ति लगा पाएगा। पैसा तो उसे तब भी मिलेगा जिससे उसका व्यवहार चलेगा। धीरे-धीरे जब वह अपने कर्तव्य को परमेश्वर से जोड़ देगा तब परमेश्वर ही प्रधान हो जाएगा, पैसे का कोई महत्त्व नहीं रहेगा।

कोई भी चीज क्रमिक होती है। आप कहो पहले चित्त शुद्ध होकर निष्काम हो जाएगा तब निष्काम कर्म करेंगे। ऐसी बात नहीं है। कर्तव्य को प्रधान बनाकर कर्म करने से निष्कामता शुरु हो जाती है और चित्त शुद्ध होते-होते जब कर्तव्य पूर्णतः ईश्वर से सम्बन्धित हो जाता है तब निष्कामता पूरी हो जाती है।

निष्काम कर्म का फल भी चित्तशुद्धि ही है। चित्तशुद्धि होने पर बड़े-बड़े फल प्राप्त हो जाएंगे। ज्ञान को धारण करने की योग्यता आ जाएगी।

****

जिज्ञासा :- कोई किसान किसी बैल से सेवा ले रहा है, उसे पीट रहा है। कर्म सिद्धान्त के अनुसार अगले जन्म में किसान बैल बनेगा और बैल किसान बनके अपना बदला लेगा। उस बदला लेने वाले किसान को पुनः उस कर्म से बन्धन होगा क्या? यदि होगा तो यह शृंखला कैसे टूटेगी?

समाधान :- कर्म से भोग होता है और भोग भी कर्म बनता है। जो कर्म के साथ सम्बन्धित होगा उसे कर्म पकड़ेगा। देखो! कोई व्यक्ति देशरक्षा के लिये पकड़ा गया, उसे फाँसी की सजा हुई। यह सजा उसका भोग है जिसका सम्बन्ध पिछले जन्म के किसी कर्म से होगा। लेकिन उसके अन्दर जो भाव आ रहा है कि मैं देश के लिये बलिदान हो रहा हूँ तो वह सजारूपी भोग एक विशिष्ट कर्म का हेतु बन जाएगा। उसका भाव एक दिव्य कर्म का हेतु बनेगा। कर्म का सम्बन्ध तो अहंता से है, इसलिये इसकी गति बहुत गहन है। एक व्यक्ति कर्म करने पर भी कर्ता नहीं बनता और एक चुपचाप बैठने पर भी कर्म कर रहा है। व्यक्ति प्रातःकाल आलस्य के कारण सन्ध्या नहीं करता तो उसे दोष लगेगा। अतः न करने पर भी वह दोष का कर्ता बन जाता है।

संस्कार बदल जाने पर कर्म शिथिल हो जाता है और संस्कार या दृष्टि नहीं बदली तो वह कर्म नहीं बदलेगा। उसका फल फिर चुकाना पड़ेगा। मान लीजिए आपका कोई ऋणानुबंधी मित्र है जो आपका कर्ज नहीं चुका पाया। उसका शरीर छूटने पर कर्ज चुकाने के लिये वह आपका पुत्र या पशु बनकर आ सकता है। मित्र होने से वह आपको हमेशा सुख देना चाहेगा और आप भी उसे कष्ट नहीं देंगे।

यदि कोई ऋणानुबंधी शत्रु कर्ज चुकाने के लिये आपका पुत्र बना तो वह आपको दुःख ही देगा। जब तक संस्कारों में परिवर्तन नहीं होता तब तक ऋणानुबंध ऐसे ही चलता रहेगा। पर जिस दिन सत्संग से, शास्त्रचिन्तन से

संस्कार बदल जाएंगे तो कर्म से सम्बन्ध शिथिल हो जाएगा, अन्यथा यह कर्म परम्परा ऐसे ही चलती रहेगी। गीता में भगवान् ने कहा - **गहना कर्मणो गतिः(४.१७)**। कर्म की गति बहुत जटिल है इसे सहजता से कोई समझ नहीं सकता। इस परम्परा से पूरा छुटकारा तो तभी मिलता है जब यह ज्ञान हो जाए कि वस्तुतः आत्मा का कर्म से कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

एक बात यह भी है कि दृष्टि के अनुसार पाप-पुण्य में बहुत अन्तर पड़ जाता है। आप एक व्यक्ति का घर उजाड़ देंगे तो आपको पाप लगेगा परन्तु जब सरकार बाँध बनाती है तो हजारों लोगों के घर उजाड़ देती है पर उसे कोई दोष नहीं लगता क्योंकि उसकी दृष्टि किसी को उजाड़ने की नहीं है। वहाँ तो दृष्टि व्यापक कल्याण की है। जब तक व्यक्ति स्वार्थ-प्रधान रहता है तब तक कर्म से दोष होता है परन्तु कर्तव्य-प्रधान होने पर वह दोष नहीं होता। अब इसी बात से बैल और किसान की शृंखला को भी समझ लेना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- गीता में भगवान् ने एक ओर तो कर्म को कल्याण का साधन कहा है तो दूसरी ओर कर्म के त्याग को कल्याण का साधन बताया है। इसका तात्पर्य क्या है ?

समाधान :- इस कथन में कोई विरोधाभास नहीं है। अधिकारी-भेद से दो साधन कहे गए हैं इसे न समझने के कारण विरोध प्रतीत होता है। भगवान् ने इन साधनों के अधिकारियों का स्पष्ट रूप से विभाग कर दिया है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारुढ़स्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।(गीता ६.३)

आरुरुक्षु अर्थात् चढ़ने की इच्छा रखने वाला। जैसे एक होता है पेड़ पर चढ़ने की इच्छा रखने वाला और दूसरा है जो पेड़ पर चढ़ गया। इन दो में से जो पेड़ पर चढ़ने की इच्छा वाला है उसे तो कर्म करना ही पड़ेगा, प्रयास करेगा तभी चढ़ेगा, संकल्पमात्र से नहीं चढ़ सकता। जब पेड़ पर चढ़ गया तब भी क्या कुछ करना पड़ेगा? तब तो शान्त बैठना ही काम है।

इसी प्रकार एक होता है योगी और एक होता है संसारी। संसारी व्यक्ति जब शास्त्र के अनुसार चलता है, केवल कर्तव्यदृष्टि से ईश्वर के लिये कर्म करता है तो उसका मन शुद्ध होता है। तब धीरे-धीरे वह जगत् को पढ़ लेता है, उसे वैराग्य होता है। फिर वह अन्तर्मुख होकर मननशील हो जाता है, उसकी **मुनि** संज्ञा हो जाती है। इससे पहले तो जगत् में भटका हुआ है। वह जगत् का ही चिन्तन करेगा वास्तविकता का नहीं। तब तक बाह्य कर्म ही उसका साधन बनता है। उसका देवता भी बाहर ही होता है परन्तु मुनि बनने पर देवता बाहर से अन्दर प्रवेश कर जाता है - **मुनीनां हृदि दैवतम्।** मुनि होने पर उसको योगी बनने की इच्छा होती है। इसी को कहा - **योगं आरुरुक्षोः।** योगी वही है जो आत्मदर्शन के लिये, भगवत्-प्राप्ति के लिये लगा हुआ है, जगत् के लिये नहीं। आरुरुक्षु योगी बनना चाहता है अभी बना नहीं है। उसकी कामना का विषय जगत् न होकर भगवान् होता है।

चाहने मात्र से व्यक्ति कर्म छोड़कर योगी (आत्मध्यानी) नहीं बन सकता। **न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।(गीता - ३.४)** कर्म करना बन्द कर देने से तुम निष्कर्मा नहीं हो पाओगे, तुमसे कर्म नहीं छूटेगा। शास्त्र की विधि से कर्म कर लोगे तो कर्म स्वतः छूट जाएगा। सचाई से पढ़ लोगे तो पास हो जाओगे, कक्षा छूट जाएगी और नहीं पढ़ोगे तो फेल हो जाओगे, कक्षा नहीं छूटेगी। इसलिये आरुरुक्षु पहले कर्मयोगी बनता है। उसका प्रत्येक कर्म जगत् के लिये नहीं बल्कि ईश्वर के लिए होता है। उसके जीवन में नित्यकर्म बढ़ जाता है। वह प्रत्येक कर्म ईश्वर-आराधनारूप से करता है।

ऐसा करते-करते उसका कर्म छूट जाएगा। वह योगी बन जाएगा। अब शास्त्र उसे कहता है कि कर्म छोड़कर संन्यासी बन जाओ, शान्त हो जाओ। **शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा...(बृह.उप.-४.४.२३)।** अब उस योगी को शम, दम का अभ्यास करना चाहिए। कर्मों का जो अभ्यास पड़ा है उसे छोड़कर उपरत होना चाहिए। उसका तो एक ही लक्ष्य है - **आत्मदर्शन**। इसमें तो कर्म बाधक ही बनेगा। इसके लिये तो **शम** अर्थात्

बहिर्मुखता छोड़कर शान्त हो जाना ही साधन है। शान्त हो जाए तो स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाएगा।

जब पेड़ पर चढ़ गए तो शान्त हो जाओ, अन्तर्मुख हो जाओ, बस! जगत् की लीला देखते रहो। ऊपर उठ गए तो कर्म की कक्षा छूट गई। इसलिये समझना चाहिए कि अधिकारी भेद से ये दो साधन गीता में कहे गए हैं।

****

जिज्ञासा :- कर्मत्याग का क्रम क्या है ?

समाधान :- कर्मत्याग का विधान सभी के लिये नहीं है। इसलिये कर्मत्याग में सभी का अधिकार नहीं है। परमार्थ मार्ग के साधक को पहले सभी कर्म त्यागने का विचार नहीं करना चाहिए। प्रारम्भ में अनावश्यक कर्मों का त्याग करे और कर्तव्यरूप से प्राप्त कर्मों को सम्यक प्रकार से करके ईश्वरार्पण कर दे। उनके फल की इच्छा न रखे। कुछ काल तक ऐसा करने से उसका अन्तःकरण शुद्ध होगा। तब कर्मों से मन स्वतः हटने लगेगा और आत्मसाक्षात्कार की प्यास बढ़ती जाएगी। उस समय साधक कर्मसंन्यास ले सकता है।

****

तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य।
प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्।
तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानः।।
(बृह.उप.-४.४.६)

इस सकाम संसारी जीव का मनःप्रधान लिङ्गशरीर जिस स्वर्गादि फल की अभिलाषा वाला होता है वह उसी प्रकार के कर्मों का सम्पादन करके अन्तकाल में उसी फल में आसक्त हुआ उसे प्राप्त कर लेता है। इस लोक में जीव जो कुछ कर्म करता है उसका फल भोगकर उस लोक से कर्म करने के लिए पुनः इस मनुष्य शरीर में आ जाता है। सकाम पुरुष निश्चित ही इस प्रकार से संसरण करता रहता है।

भक्ति और उपासना

जिज्ञासा :- कोई भक्त पुराणों में कही हुई भगवान् की लीला, धाम इत्यादि में ज्यादा रुचि नहीं रखता है तो उसकी भक्ति का स्वरूप कैसा होना चाहिये ?

समाधान :- सामान्य व्यक्ति के लिये इस प्रकार भक्ति करना कठिन है। भगवान की लीला, गुण इत्यादि के बिना सामान्य व्यक्ति के लिये चिंतन का कोई आधार ही नहीं रहेगा। हाँ ! इस प्रकार की उपासनाएं भी शास्त्रों में देखी जाती हैं **- ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ....(गीता - १२.३)** इतना कहकर भगवान् ने फिर कहा -

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।(गीता - १२.५)

इसलिये ऐसी उपासना करने से पहले अपने सामर्थ्य को अवश्य जानना चाहिए। देहाभिमानी के लिये ऐसी उपासना कर पाना सम्भव नहीं है।

****

जिज्ञासा :- सामूहिक प्रार्थना या मन्त्रोच्चार में भाव की उत्पत्ति नहीं हो पाती है। यह कैसे उत्पन्न हो ?

समाधान :- चाहे समूह हो या एकान्त, भाव तो एक ऐसी वस्तु है जो वहाँ उत्पन्न होती है जहाँ आपका राग है, जिसका महत्त्व आपके चित्तमें बैठा है। आपका कोई प्रिय व्यक्ति आपके पास में आए तो आप उससे बात करने के लिये कितने सावधान हो जाते हैं और भगवान् के सामने बैठकर मनोराज्य करते हैं। इसका मतलब अभी चित्त में जगत् की अपेक्षा भगवान् का महत्त्व कम बैठा है। जिस दिन बुद्धि में यह निश्चय हो जायेगा कि एक समय इस जगत् के बिना ही हमको काम चलाना पड़ेगा, उस समय हमारा साथी भगवान् ही होगा, उसी दिन से भगवान् का महत्त्व बुद्धि में बैठ जाएगा। तब भाव को उत्पन्न करने के लिये

किसी अन्य प्रयास की आवश्यकता नहीं रहेगी।

एक समय होता है जब बालक के चित्त में माता-पिता का बड़ा महत्त्व होता है। वह उनके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता । फिर एक समय ऐसा भी आता है जब उसके चित्त में स्त्री-पुत्र आदि का महत्त्व अधिक हो जाता है तो वह माता-पिता को ही भूल जाता है। मैं बार-बार कहता हूँ कि जगत् के विषयों में जो तुमको रस मिल रहा है उससे अधिक रस जब भगवन्नाम-जप में मिलेगा तभी तुम्हारे जगत् के संस्कार दूर होंगे। उस दिन जगत् का महत्त्व खत्म हो जाएगा और भगवान् का ही महत्त्व जीवन में रह जाएगा। तब जगत् में कहीं भी रहते हुए भगवान् के प्रति भाव बना रहेगा।

****

जिज्ञासा :- दहरोपासना प्रकरण में सगुण-निराकार परमात्मा की उपासना का विधान किया, परन्तु उसका फल सगुण-साकार हिरण्यगर्भ की प्राप्ति बताया गया है। इसका क्या कारण है ? दहरोपासना और प्रजापति विद्या में परस्पर क्या अन्तर है ?

समाधान :- हिरण्यगर्भ समष्टि सूक्ष्म शरीराभिमानी है। जब आपका सूक्ष्म शरीर निराकार है तो समष्टि सूक्ष्म शरीराभिमानी हिरण्यगर्भ साकार कैसे हो सकता है। इसलिये उसे सगुण-निराकार ही समझना चाहिए। प्रजापति विद्या का विषय आत्मज्ञान है और दहरोपासना में उपासना का प्रसंग है।

****

जिज्ञासा :- शास्त्रों में भक्ति को ज्ञान का साधन बताया है परन्तु गीता में ज्ञान होने के पश्चात् भक्ति की बात कही है -

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।(१८.५४)

यहाँ पर यथार्थ क्रम क्या है ?

समाधान :- यहाँ पर भी भक्ति को ज्ञान का साधन ही कहा है, परन्तु क्रम को ठीक से न समझने पर बहुत लोगों को यहाँ भ्रम हो जाता है। देखिए, गीता में

जिस भक्ति की बात की गई है उसके अनन्तर ही ज्ञान कहा है -

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।(१८.५५)

यह है अन्तिम ज्ञान। इसी को कहते हैं ज्ञान की पराकाष्ठा। ऐसी जगहों पर पहले तो देखना चाहिए कि प्रकरण कहाँ से प्रारम्भ हो रहा है। यह प्रकरण यहाँ से प्रारम्भ हुआ -

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।।(१८.४९)

इस श्लोक में साधक के लक्षण कहे हैं। उसकी जगत् में कहीं आसक्ति नहीं होनी चाहिए, उसकी इन्द्रियाँ और मन वश में होने चाहिए, इस लोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं होनी चाहिए। ऐसे साधक को ही संन्यास का अधिकार दिया गया है। इससे पहले तो गुणात्मक साधन बताए हैं। अब वह संन्यास के द्वारा नैष्कर्म्यसिद्धि को जिस प्रकार प्राप्त करता है उसे बताया -

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।।(१८.५०)

जब इस प्रकार सिद्धि(ज्ञाननिष्ठा की योग्यता) प्राप्त हो गई, तदुपरान्त ज्ञाननिष्ठा कैसे प्राप्त होती है उसको बताते हैं -

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ।।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।।(१८.५१,५२)

ऐसा साधक विशुद्ध बुद्धि के द्वारा शब्दादि विषयों को छोड़कर, मन का निग्रह कर लेता है। नहीं तो रागद्वेषयुक्त होकर मनोराज्य करेगा। उसे विविक्तसेवी भी होना है। समुदाय में रहेगा तो इधर-उधर की बातें सुनकर उसको विक्षेप होगा। उसे लघ्वाशी भी होना पड़ेगा, अर्थात् संयमित भोजन करना पड़ेगा, नहीं

तो एकान्त का लाभ सोने के लिये उठा लेगा। फिर कहा - **यतवाक्कायमानसः।** वह यत्न करके इन्द्रियों को, मनको संयमित करता है। ऐसा नहीं करेगा तो कभी घूमने की इच्छा हो जाएगी और नहीं तो प्रकृति को देखने की ही इच्छा हो जाएगी। अब तो उसका एक ही कर्तव्य है - **ध्यानयोगपरो नित्यम्।** इसके लिये अत्यन्त वैराग्य की आवश्यकता है क्योंकि कहीं भी थोड़ी सी इच्छा रही तो वह मन को ध्यान में केन्द्रित नहीं होने देती। इसलिये वह वैराग्य का आश्रय भली-भाँति लेता है- **वैराग्यं समुपाश्रितः।** कभी-कभी व्यक्ति में ज्ञान का भी अहंकार हो जाता है। पर वह तो इस विषय में भी सावधान है -

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।(१८.५३)

वह अहंकार, बल(जगत् सम्बन्धित), घमण्ड, काम, क्रोध और परिग्रह का त्याग करके ममता से रहित हुआ, शान्तचित्त वाला, ध्यानयोग के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। इसके पश्चात् उसका लक्षण कहा - **ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति** । इसे **ब्रह्मभूयाय कल्पते** की व्याख्या समझना चाहिए। फिर कहा - **समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।** इसी भक्ति के विषय में भक्ति प्रकरण में कहा था - **ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्(७.१८)।** यही है ज्ञानी भक्त। इस भक्ति को ही पराभक्ति कहते हैं। यह पराभक्ति अनुभव में सहायता करती है। इसलिये कहा -**भक्त्या मामभिजानाति।** इसी भक्ति से भगवत्तत्त्व का ज्ञान होगा। अपराभक्ति से भगवत्तत्त्व का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। देखिए, नामदेवजी की भक्ति से भगवान् अति प्रसन्न थे। उनके साथ खाना-पीना, खेलना इत्यादि व्यवहार भी होता था। फिर भी भगवान् ने कहा - ''नामदेव तुम मेरे यथार्थ स्वरूप को अभी भी नहीं जानते। इसके लिये तुम्हें गुरु से उपदेश लेना ही पड़ेगा।''

इसलिये पराभक्ति से युक्त भक्त ही परमेश्वर को ठीक पहचानता है। वह उसे अनन्यरूप से जानता है। इसीलिये भगवान् ने कहा - **ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।** यह ज्ञानी भक्त है। इसलिये भाष्यकार भगवान् ने भी इसको भक्त ही कहा

है। यहाँ पर समझना कठिन इसलिये हो जाता है कि ज्ञाननिष्ठा-प्राप्ति की प्रतिज्ञा - **समासेनैव कौन्तेय....(१८.५०)** से प्रारम्भ किया और अनुभूति - **विशते तदनन्तरम्(१८.५५)** में पहुँचाकर समाप्त किया। बीच में भक्ति का प्रसंग आ जाने से यहाँ यह भ्रम हो ही जाता है कि पहले ज्ञान है या भक्ति। परन्तु इस सम्पूर्ण प्रकरण को एक साथ समझने पर विषय स्पष्ट हो जाता है।

****

जिज्ञासा :- शक्ति उपासना का प्रचलन कितना पुराना है?

समाधान :- शक्ति उपासना की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। यह वैदिक उपासना है। वेदों में शक्ति से सम्बन्धित बहुत से सूक्त हैं। जैसे-श्रीसूक्त, देवीसूक्त, लक्ष्मीसूक्त इत्यादि। त्रिपुरोपनिषद्, भावनोपनिषद्, अरुणोपनिषद्, देव्यथर्वशीर्ष इत्यादि उपनिषद् भी प्रसिद्ध हैं जो शक्ति उपासना की प्राचीनता का समर्थन करते हैं। पुराणों में देखें तो सबसे अधिक विवरण शक्तितत्त्व का मिलता है। देवीभागवत, ब्रह्माण्डपुराण, मार्कण्डेयपुराण और कालिकापुराण में शक्तितत्त्व का भली-भाँति प्रतिपादन किया गया है। अन्य पुराणों में भी शक्ति उपासना का विवरण मिलता है। तन्त्रशास्त्र तो शक्तितत्त्व के प्रतिपादन के लिये प्रसिद्ध ही है। इसलिये शक्ति उपासना की परम्परा प्राचीन, व्यापक तथा शिष्ट लोगों के द्वारा ग्राह्य रही है।

****

जिज्ञासा :- अव्यभिचारिणी तथा अनन्य भक्ति में क्या अन्तर है?

समाधान :- पहले तो अनन्यता और अव्यभिचारिता का अर्थ जानना चाहिए। **अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता,** अन्य किसी का आश्रय न ले कर किसी एक का आश्रय लेना, उसे कहते हैं अनन्यता। यदि वह आश्रय परमात्मा का है तो उसका नाम होगा परमात्मा की अनन्यभक्ति। वह हमेशा **तदनन्यत्व** ही देखता है। परमात्मा से भिन्न किसी को नहीं देखता। सभी रूपों में अपने इष्ट को देखता है। यही शुद्ध अनन्यभक्ति है। कुछ लोग इसका दूसरा अर्थ करते हैं कि हमारे इष्ट को छोड़कर किसी दूसरे देवता के मन्दिर में नहीं जाएंगे, किसी दूसरे देवता का

प्रसाद नहीं लेंगे। यह विचार उत्तम नहीं है। इससे तो आप अपने इष्ट की व्यापकता को तोड़ रहे हैं।

व्यभिचारी का अर्थ प्रसिद्ध है। जहाँ सम्बन्ध है उसे छोड़कर दूसरी जगह सम्बन्ध बना लेने वाले को व्यभिचारी कहते हैं। अव्यभिचारी का अर्थ हुआ किसी जगह से बने हुए सम्बन्ध को नहीं छोड़ना अर्थात् यथावत् बनाए रखना। यदि किसी की इष्ट के प्रति भक्ति यथावत् है, वह उसे छोड़कर किसी दूसरे की भक्ति नहीं कर रहा है तो ऐसी भक्ति को अव्यभिचारिणी भक्ति कहते हैं। इस प्रकार अव्यभिचारिणी तथा अनन्य भक्ति में शब्द मात्र का ही अन्तर लग रहा है। कहीं-कहीं पर व्यभिचारी का मतलब अभाव भी होता है, तब अव्यभिचारी का अर्थ हुआ सदा रहने वाला। अव्यभिचारिणी भक्ति का तात्पर्य हुआ सदा एकरस रहने वाली भक्ति। ऐसी भक्ति किसी निमित्त को लेकर नहीं होती। निमित्त को लेकर होने वाली भक्ति निमित्त के समाप्त होने पर समाप्त हो सकती है। परन्तु यहाँ पर ऐसी सम्भावना नहीं है।

****

जिज्ञासा :- आप कहते हैं - अनन्य भक्ति में अपने इष्ट को सभी देवताओं में समान रूप से देखना चाहिए। ऐसे में तो इष्ट के प्रति जो दृढ़ निष्ठा है उसके बिखरने की सम्भावना हो सकती है।

समाधान :- इसका मतलब आप मेरे कथन को समझे नहीं। आप यह बताइए कि जो इष्ट को सर्वोपरि मानकर उपासना करता है वह अपने इष्ट को भगवान् मानता है कि नहीं? सृष्टि का कर्ता भी मानता है। इससे जितने भी रूप हुए वे उसके इष्ट के हुए कि नहीं? यदि वह किसी दूसरे का रूप मानता है तो उसका इष्ट बहुत छोटा है, व्यापक नहीं। उसका इष्ट बहुत कमजोर है। ऐसे में उसका अपमान हुआ। फिर तो वह भगवान् भी नहीं हो सकता। यदि तुम उसे भगवान् मानते हो तो यह मानना ही पड़ेगा कि सभी रूप उसी के ही हैं। ऐसे में दूसरा कहाँ से आएगा जिससे तुम द्वेष करो।

यह जो कहा है कि अपनी बुद्धि को एक जगह केन्द्रित करें उसका तात्पर्य

इसमें नहीं है कि किसी दूसरे को छोटा मानो। ऐसी बात भी नहीं है कि एक जगह बुद्धि केन्द्रित करके अन्य जगह व्यवहार नहीं हो सकता। ऐसा आप लोक में देखते भी हैं, प्रत्येक स्त्री के लिये उसका पति सर्वोपरि है, उसका लोक और परलोक सम्पूर्णतया उसी के आधार पर टिका रहता है। फिर भी उसको व्यवहार अनेकों के साथ करना पड़ता है। सास-ससुर की सेवा करनी पड़ती है। ननद, देवर इत्यादि की उपेक्षा नहीं कर सकती। इससे उसकी जो पति के प्रति सर्वोपरि दृष्टि है वह तो नहीं गड़बड़ाती। इस लिये यहाँ पर अपने इष्ट को सर्वोपरि कहने का तात्पर्य ठीक से समझना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- प्राणोपासना को ज्ञानोपासना कहें तो क्या आपत्ति है?

समाधान :- प्राणोपासना की चर्चा जहाँ आती है वहाँ प्राण का अर्थ हिरण्यगर्भ होता है। हिरण्यगर्भ के साथ अपनी अहंता को मिलाकर उपासना होती है। यह अहंग्रहोपासना है। इसका फल हिरण्यगर्भ लोक की प्राप्ति है।

ज्ञानोपासना में ज्ञान की भावना की जाती है, **अहं ब्रह्मास्मि** की भावना की जाती है। विचारपूर्वक अनुभूति नहीं है, मात्र भावना की जा रही है। इसलिये यह उपासना है। अतः प्राणोपासना और ज्ञानोपासना में अन्तर समझना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- गीता के बारहवें अध्याय में सगुण और निर्गुण के उपासकों में से किसे श्रेष्ठ बताना भगवान् को अभीष्ट है?

समाधान :- गीता में साधना के दो ही मार्ग बताए हैं एक कर्मयोग और दूसरा ज्ञानयोग। कर्मयोगी सगुण-साकार परमेश्वर की उपासना करता है और ज्ञानयोगी अक्षरब्रह्म अर्थात् निर्गुण-निराकार की। दोनों उपासक हैं। यहाँ अर्जुन का प्रश्न इस प्रकार का है, जैसे कोई बालक अपनी माता से पूछे कि आप मुझसे ज्यादा प्रेम करती हैं या पिताजी से? तब माता क्या जवाब देगी? यही कहेगी, बेटा! मैं तुमको सबसे ज्यादा प्रेम करती हूँ और तुम्हारे पिताजी तो मेरी आत्मा ही हैं, उनके विषय में मैं क्या कहूँ। ठीक इसी प्रकार यहाँ भगवान् का उत्तर है।

भगवान् ने पहले कहा -

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥(१२.२)

सगुण-उपासक को युक्ततम अर्थात् श्रेष्ठ योगी बताया और आगे अक्षर उपासक के लिये कहा -

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।(१२.४)

उनके विषय में क्या कहा जाए। वे तो मुझे प्राप्त करते ही हैं। तब प्रश्न होता है कि जब ऐसा है तो सगुण-उपासक को योगवित्तम क्यों कहा? इसका जवाब भगवान् ने दिया -

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।(१२.५)

सामान्य साधक के लिये निर्गुण की उपासना अत्यन्त कठिन है। सगुण की उपासना सरल पड़ती है, उसे सभी साधक कर सकते हैं। इस सरलता की दृष्टि से ही भगवान् ने सगुण-उपासक को श्रेष्ठ कहा है।

****

जिज्ञासा :- गीता के बारहवें अध्याय में अक्षरोपासक की चर्चा है। जिसमें कोई गुण या रूप ही नहीं है ऐसे अक्षरब्रह्म की उपासना किस प्रकार हो सकती है?

समाधान :- बात तो ठीक ही है, सगुणोपासक के समान अक्षरोपासक की उपासना का स्वरूप नहीं हो सकता। भगवान् ने पहले अक्षर का स्वरूप बताया -

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥(१२.३)

अक्षर का शब्द से निर्देश नहीं कर सकते। वह अव्यक्त है, उसका कोई व्यक्त स्वरूप हमारे सामने नहीं है। पर एक बात है- **सर्वत्रगम्**, वह सब जगह है, केवल उसे पहचानना पड़ता है। यदि कहो बुद्धि से पहचान लेंगे, तो यह सम्भव नहीं क्योंकि वह बुद्धि का विषय नहीं है- **अचिन्त्यम्**। यह सारा जगत् उत्पन्न

और नष्ट हो रहा है। उसमें एक अक्षर तत्त्व ही ऐसा है जो बदलता नहीं, एकरस बना रहता है। अक्षर **कूटस्थ** है। कूट कहते हैं माया को, उसमें जो सत्तारूप से स्थित है और **अचलम्**, बिना हिले स्थित है। तीनों कालों में एकरस रहता है। जैसे पर्दे पर अग्नि दिखती है, बारिश होती दिखती है, परन्तु पर्दा न गर्म होता है और न गीला। ऐसे अक्षर को - **पर्युपासते।** संन्यासी इस अक्षर की उपासना करते हैं। इस उपासना का स्वरूप आगे बताते हैं।

इन्द्रिय और मन के द्वारा ही बाह्य विषयों से सम्बन्ध बनता है। इसलिये कहा **सन्नियम्येन्द्रियग्रामम्।** जब इनकी बहिर्मुखता को रोक देते हैं तो अन्दर स्थित अक्षरतत्त्व से सम्बन्ध बन जाता है। यहाँ से अक्षर की उपासना शुरु होती है। इसके बाद संन्यासी का अभ्यास बताया- **सर्वत्र समबुद्धयः।** उसे किसी को भी अपने से बाहर नहीं देखना चाहिए। वह एक सम आत्मतत्त्व का उपासक है, इसलिये कहीं भी उसकी बुद्धि में विषमता नहीं आनी चाहिए। बुद्धि को निरन्तर एक तत्त्व में ही स्थित रखना उसका अभ्यास है। उसका व्यवहार कैसा होगा, तो कहा- **सर्वभूतहिते रताः।** उसके व्यवहार से किसी को भी कष्ट नहीं होता, वह पूर्ण अहिंसक होता है।

संन्यास संस्कार के समय जल में खड़े होकर प्रतिज्ञा की जाती है - **अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।(नारद परिव्राजक उप.-४.३७)** संसार के सभी प्राणी मेरी आत्मा हैं, मेरे मन में किसी के प्रति विषमता नहीं आएगी, सब मुझसे निर्भय हो जायें। ऐसे संन्यासी उपासक का फल भगवान् ने बताया- **ते प्राप्नुवन्ति मामेव**, वे उस अक्षर ब्रह्म के साथ एक हो जाते हैं।

****

जिज्ञासा :- किस प्रकार से भजन करें कि ईश्वर के नजदीक रहें?

समाधान :- तुम जप, ध्यान, स्तोत्रपाठ, देवपूजन किसी भी प्रकार से ईश्वर का भजन कर सकते हो। जिसमें तुम्हारी श्रद्धा हो, मन लगता हो उस प्रकार से भजन करो। पर दो बातें समझ कर रखना। ईश्वर का भजन ईश्वर के लिये करोगे तो ईश्वर के नजदीक रहोगे और यदि ईश्वर का भजन जगत् के लिये

करोगे तो जगत् के नजदीक रहोगे।

****

जिज्ञासा :- भगवान् का अनन्य भक्त होने में बाधा क्या है ?

समाधान :- चाहे व्यक्ति ज्ञान मार्ग में जाए अथवा भक्ति मार्ग में, चाहे कर्म योग का अनुष्ठान करने का प्रयास करे सब जगह मुख्य बाधक तो कामना ही है। यह कामना ही भगवान् के प्रति अनन्य नहीं होने देती। न ज्ञान में प्रतिष्ठित होने देती है, न भक्त बनने देती है और न कर्मयोगी। माया जगत् में व्यक्ति को कभी निश्चिन्त नहीं होने देती। एक न एक समस्या इसके जीवन में रखेगी। चाहे गरीबी की समस्या हो, चाहे स्वास्थ्य की, या यश की, कोई न कोई समस्या आ ही जाती है। कोई समस्या बाहर की होती है तो कोई मन की। समस्याग्रस्त व्यक्ति की साधना में समस्या-निवृत्ति की कामना निमित्त बन जाती है। यह कामना जब तक रहेगी तब तक वह शुद्ध भाव से, अनन्यता से साधना नहीं कर सकता।

यदि कहो कि समस्या रहने पर साधक क्या करे ? तो इसका उपाय है कि उस समस्या को भगवान् के चरणों मे अर्पित कर दो। तुम क्यों चाहते हो कि भगवान् उसे दूर कर दे। तुम्हारा हित भगवान् अधिक जानते हैं या तुम ? तुम तो हमेशा अपना मन भगवान के ऊपर लादना चाहते हो। भगवान् ऐसा कर दे, वैसा कर दे। तुमने तो भगवान् को नौकर ही बना दिया। जो अनन्य भक्त होता है वह सब कुछ सह लेता है, भगवान् से कुछ भी नहीं माँगता। वह केवल भगवान् के लिये ही भजन करता है। उन्हीं को चाहता है। ऐसे भक्त की जिम्मेदारी भगवान् को लेनी पड़ती है।

****

जिज्ञासा :- वेदान्त-अध्ययन करने के बाद भी मेरे मन में ऐसी वृत्ति बार-बार उठती है कि मुझे सगुण ईश्वर की भक्ति करनी चाहिए। क्या ऐसा करना उचित होगा ?

समाधान :- भक्ति करने में तो किसी प्रकार का दोष नहीं है। आप सगुण की भक्ति करेंगे तो भी आपका परमेश्वर तो समर्थ है, वह अपने निर्गुण स्वरूप

का ज्ञान करा देगा।

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।(गीता-१८.५५)

बिना भक्ति के आप भगवान् के यथार्थ स्वरूप को समझ नहीं सकते। भक्ति करने से ज्ञान प्राप्ति के प्रतिबन्ध बहुत जल्दी क्षीण हो जाते हैं।

"**अद्वैतसिद्धि**" के रचनाकार मधुसूदन सरस्वतीजी अपने समय के वेदान्त के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे। भगवान् की कृपा से एक बार एक अवधूत ज्ञानी महात्मा उनके पास पहुँच गए। उनसे कहा - "मेरे प्रश्न का सच्चा जवाब दे सकते हो ?" उन्होंने कहा - पूछिए। महात्मा ने कहा - शास्त्रार्थ में जब तुम्हारा पक्ष कमजोर होता है तो मन में कुछ ग्लानि होती है या नहीं ? कहा - होती है। फिर उन्होंने पूछा - जब तुम्हारा पक्ष उत्कर्ष को प्राप्त होता है तो मन में प्रसन्नता होती है या नहीं ? कहा - होती है। तब महात्मा ने कहा - पुस्तक में तो तुमने अद्वैत सिद्ध कर दिया, पर तुम्हारे जीवन में अद्वैत कहाँ सिद्ध हुआ ? यदि हो जाता तो मन में हर्ष और शोक नहीं होते।

तब मधुसूदनजी ने महात्मा से कोई उपाय बताने के लिये प्रार्थना की। उन्होंने कहा - तुम्हारा 'विद्या का अहंकार' ही ज्ञान में प्रतिबन्ध है। यह उपासना से ही दूर होगा। फिर उन्होंने कृष्ण-उपासना की एक विधि उन्हें समझा दी। उस विधि से उपासना करने पर उनका प्रतिबन्ध नष्ट होकर अपरोक्ष साक्षात्कार हो गया। मेरा तात्पर्य यही है कि अहंता का नाश करने में सगुण उपासना का बहुत बड़ा उपयोग है।

****

जिज्ञासा :- परमेश्वर की प्राप्ति के लिये जैसा प्रेम और भक्ति आवश्यक है उसका जीवन में आविर्भाव कैसे हो ?

समाधान :- परमेश्वर तो सर्वत्र है - **हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। (मानस बाल.-१८४.३)** उसकी प्राप्ति का अर्थ यही होगा कि उसका प्रत्यक्ष दर्शन हो जाए, ज्ञान हो जाए, वह हमारे सामने प्रकट हो जाए। उस व्यापक परमेश्वर का दर्शन कैसे हो इसका उपाय शिवजी ने देवताओं को बताया - **प्रेम**

तें प्रगट होहिं मैं जाना।(मानस बाल.-१८४.३) इस प्रेम और भक्ति के आविर्भाव के लिये वल्लभाचार्य ने एक सूत्र बताया है-**महत्त्वश्रवण।** भगवान् के गुण, लीला एवं सामर्थ्य का श्रवण करने से उनके महत्त्व का ज्ञान होगा। इसीलिये आश्रम में हमलोग रोज 'शिवमहिम्न स्तोत्र' का पाठ करते हैं अर्थात् उनकी महिमा का, ऐश्वर्य का गान करते हैं। उनकी महिमा के गान से उनके प्रति हमारा प्रेम बढ़ेगा।

परमेश्वर की दो बातों का श्रवण और गान करना चाहिए। पहला उनका प्रभाव और दूसरा स्वभाव। **प्रभाव** -जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय उनके संकल्प से ही हो जाते हैं। दुष्टों का नाश करके धर्म की रक्षा करते हैं। उनका **स्वभाव** -सबको अपना आत्मरूप समझना। वे सबसे अहैतुक प्रेम करते हैं। न किसी की जाति देखते हैं न लिङ्ग, न पाण्डित्य, बस जो भी उनके प्रति भाव रखे उससे प्रेम करते हैं। वे तो सबसे प्रेम करने के लिये तैयार बैठे हैं पर दुनिया ही प्रेम नहीं करती तो क्या करें? उनका तो कहना है कि तुम मेरे लिये एक कदम बढ़ाओ तो मैं दस कदम तुम्हारी ओर बढ़ाऊँगा। वे सबका उद्धार करने के लिये सदा तत्पर रहते हैं- **सर्वोपकारकरणाय सदार्द्रचित्ता(दुर्गासप्तशती-४.१७),** लोकोपकार के लिये उनका हृदय पिघला रहता है। **भुवनभयभङ्गव्यसनिनः**- संसार के भय का नाश करना ही उनका व्यसन है। इस प्रकार जब उनके कृपामय स्वभाव का निरन्तर श्रवण करेंगे तो उनके प्रति प्रेम का प्राकट्य होगा।

****

जिज्ञासा :- ब्रह्मसूत्र में आता है कि जो उपासक ब्रह्मलोक जाते हैं वे वहाँ इन्द्रियों से रहित होकर केवल मन से ही वहाँ के विषयों का उपभोग करते हैं। केवल मनरूप से रहना कैसे सम्भव है?

समाधान :- अच्छा यह बताइए कि स्वप्नावस्था में आप शरीर और इन्द्रियों के साथ रहते हैं या उनके बिना? वहाँ तो शरीर निश्चेष्ट पड़ा है और इन्द्रियाँ भी लीन हैं। अतः स्वप्न में जितना भी आपका व्यवहार होता है वह केवल मन से ही होता है। वहाँ आप मनस्वरूप ही रहते हैं। आपका मन शरीर की

भी कल्पना कर लेता है और इन्द्रियों की भी, साथ ही उनके द्वारा सारा व्यवहार भी कर लेता है। मन विषयों को भी रच लेता है और उनको ग्रहण करने के लिए इन्द्रियों को भी। इसलिए मन की सामर्थ्य तो कमजोर नहीं दिखाई देती। जैसा भोग जाग्रत में होता है, उसी प्रकार का स्वप्न में भी हो जाता है। ऐसा नहीं होता कि स्वप्न में आपको भूख लगे और स्वप्न के अन्न से आपका पेट न भरे। स्वप्न में कोई आपको माला पहनाता है तो आपको प्रसन्नता होती है और गाली देता है तो दुःख भी होता है। इसलिए केवल मन से भोग होने में कोई विसंगति तो नहीं दिखती।

स्वप्न में आपका मन रज-तम से युक्त होता है, इसलिए इष्ट-अनिष्ट विभिन्न प्रकार के स्वप्न दिखाई देते हैं। परन्तु जो उपासक ब्रह्मलोक में पहुँचता है उसका मन तो शुद्ध-सात्त्विक होता है, उसमें बड़ी ताकत रहती है। इसलिए वह केवल मन से कैसे भोग करेगा, इस प्रकार से हमें संशय नहीं करना चाहिए। यहाँ भी कोई-कोई योगी पचास मील दूर तक देख सकते हैं क्योंकि उनकी इन्द्रियशक्ति वहाँ तक पहुँच जाती है। ब्रह्मलोक पहुँचे उपासक की सामर्थ्य तो ऐसे योगियों से बहुत अधिक होती है। इसलिए वह केवल मन से वहाँ सम्पूर्ण विषयों का उपभोग कर सकता है।

****

जिज्ञासा :- ब्रह्मलोक में पहुँचे उपासक के विषय में छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है -

संकल्पादेव अस्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति...(८.२.१)

यहाँ प्रश्न होता है कि पितर लोग तो पितृलोक में रहते हैं, उसके संकल्प से तुरन्त ही वहाँ उपस्थित कैसे होंगे?

समाधान :- उस उपासक के लिए देश, काल कल्पित हैं। हमारी कल्पना से हमें दूर या नजदीक मालूम होता है। हमें लगता है कि ब्रह्मलोक से पितृलोक बहुत दूर है। परन्तु उस उपासक के लिए देश, काल का कोई व्यवधान नहीं है, कोई दूरी भी नहीं है। वे पितर वहीं मौजूद हैं, इसलिए उसके संकल्प मात्र

से उपस्थित हो जाते हैं।

****

जिज्ञासा :- श्रद्धा का स्वरूप क्या है? हम श्रद्धावान् हैं यह कैसे जानें?

समाधान :- जब गुरु और शास्त्रवाक्य आपकी बुद्धि से ऊपर रहें अर्थात् आपको जब ऐसा निश्चय हो जाए कि इनका कथन ही सत्य है, हमारा अनुभव झूठा हो सकता है, तब समझना चाहिए कि मुझमें श्रद्धातत्त्व है।

****

जिज्ञासा :- भगवान् की भक्ति करते समय भक्त को भगवान् के साथ कैसा सम्बन्ध बनाना चाहिए?

समाधान :- भगवान् के अनेक भक्त पहले हुए हैं, उनमें से किसी ने दास्यभाव से भक्ति की तो किसी ने सख्य, वात्सल्य, शान्त, माधुर्य भावों से भी भक्ति की। किसी ने गुरुरूप में माना तो किसी ने आत्मरूप से भी भगवान् को माना। जैसा जिसने माना भगवान् ने वैसा ही स्वीकार किया। इसलिए भगवान् तो कुछ भी बनने के लिए तैयार हैं, पर आपको हृदय से बनाना पड़ेगा, मात्र वाणी से नहीं।

****

द्रुतस्य भगवद् धर्माद् धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृतिर्भक्तिरित्यभिधीयते।।(भक्तिरसायन)

भागवत धर्मों का अनुष्ठान करने से द्रवित हुए मन की वृत्ति जब सर्वकाल में निरन्तर धारावाहिक रूप से एकमात्र सर्वेश्वर परमपुरुष परमात्मा को ही विषय करती है तो वही भक्ति कहलाती है।

ज्ञान-चर्चा

जिज्ञासा :- सुषुप्ति में अज्ञान स्वीकार किया गया है और ज्ञानी को भी सुषुप्ति होती है। फिर ज्ञानी की नित्य ज्ञान में स्थिति रहती है यह कैसे सम्भव होगा?

समाधान :- सुषुप्ति में अज्ञान कहने का तात्पर्य जाग्रत को लेकर है। जैसा जाग्रत में विषयों का ज्ञान रहता है वैसा सषुप्ति में नहीं रहता। पर ज्ञानी के लिये तो जाग्रत और सुषुप्ति दोनों ही बाधित हैं इसलिये जिस प्रकार जाग्रत में इन्द्रियों के द्वारा होने वाले विषयज्ञान का उसके साथ सम्बन्ध नहीं बनता उसी प्रकार सुषुप्ति में रहने वाले अज्ञान का भी उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं बनता। इसीलिये ज्ञानी के नित्य ज्ञान का विलोप नहीं हो सकता।

****

जिज्ञासा :- जिनको केवल परोक्ष ज्ञान हुआ है प्रलय काल में उनकी क्या स्थिति होगी?

समाधान :- जैसे किसी परोक्ष ज्ञानी को सुषुप्ति आए तो उठने के पश्चात् उसके परोक्ष ज्ञान में कोई अन्तर नहीं पड़ता, उसी प्रकार प्रलय के पश्चात् जब पुनः सृष्टि होगी तब भी उसका परोक्ष ज्ञान बना ही रहेगा।

****

जिज्ञासा :- अभाव को किस इन्द्रिय से जाना जाता है?

समाधान :- आपके पास पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और छठा मन है। बहुत से लोग मन को भी इन्द्रिय मानते हैं। इस प्रकार छः ज्ञानेन्द्रियाँ हो गईं। श्रवणेन्द्रिय से जो ज्ञान होगा उसे **श्रावण** ज्ञान कहेंगे, चक्षु से जो ज्ञान होगा उसे **चाक्षुष** ज्ञान कहेंगे, त्वक् से जो ज्ञान होगा उसे **त्वाच** ज्ञान कहेंगे, रसना से जो ज्ञान होगा उसे **रासन** ज्ञान कहेंगे और घ्राण से जो ज्ञान होगा उसे **घ्राणज** ज्ञान कहेंगे। इसी

प्रकार मन से होने वाले ज्ञान को **मानस** ज्ञान कहते हैं।

नैयायिक लोगों के अनुसार जिस विषय का ज्ञान जिस इन्द्रिय से होता है उसके अभाव का ज्ञान भी उसी इन्द्रिय से होता है। **येनेन्द्रियेण या व्यक्तिर्गृह्यते तेनैवेन्द्रियेण तद्गता जातिः तदभावश्च गृह्यते।**

इसलिये वे अभाव को भी प्रत्यक्ष प्रमाण का ही विषय मानते हैं। पर वेदान्ती और मीमांसक लोग अनुपलब्धि नाम का एक प्रमाण भी मानते हैं। वे कहते हैं - **यदि स्यात्तर्हि उपलभ्येत नोपलभ्यतेऽतो नास्ति।** यदि होता तो दिखाई देता, नहीं दिखाई दे रहा है तो नहीं है! यह अभाव कैसे जाना जा रहा है? अनुपलब्धि प्रमाण से जाना जा रहा है।

****

जिज्ञासा :- शास्त्रों में मन को अन्तःकरण कहा है। ऐसे में मन को शरीर के अन्दर ही रहना चाहिए। पर प्रक्रिया ग्रन्थों में मन की वृत्ति का बाहर जाना स्वीकार किया है और अनुभव में भी आता है कि मेरा मन अमुक जगह गया। वास्तविकता क्या है?

समाधान :- यद्यपि मन का नाम अन्तःकरण है, फिर भी वह इन्द्रियों के माध्यम से बाहर जाता हुआ मालूम पड़ता है। जैसे किसी घट में प्रकाश हो तो वह छिद्रों के माध्यम से बाहर जाता है उसी प्रकार मन को समझ लेना चाहिए। विषय को समझाने के लिये कोई प्रक्रिया तो अपनानी पड़ेगी। कुछ लोग कहते हैं कि मन की वृत्ति इन्द्रियों के माध्यम से बाहर जाती है और वही विषयाकार बन जाती है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि विषय ही अन्दर आता है। इस प्रकार से समझाने के लिये ये भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएं हैं।

****

जिज्ञासा :- भगवद्गीता में भगवान् **मैं** शब्द का बार-बार जो प्रयोग करते हैं उस **मैं** का क्या स्वरूप है?

समाधान :- गीता में भगवान् ने अलग-अलग प्रकरण में **मैं** शब्द का कई बार प्रयोग किया है। इसीलिये उसका अर्थ प्रकरण के अनुसार ही करना चाहिए। कहीं पर तो **मैं** शब्द का प्रयोग शुद्ध स्वरूप के अर्थ में किया है, जैसे-

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्।(१४.२७) जब कहा- **प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय..**।(४.६) ऐसी जगह पर ईश्वररूपता के लिये प्रयोग किया है। जहाँ पर अर्जुन को सखा कहकर पुकारा है वहाँ तो वसुदेव के पुत्ररूप में प्रयोग हुआ है। व्यवहार में यदि **मैं** शब्द का भेद नहीं करेंगे, मात्र पारमार्थिक अर्थ ही लेंगे तो बड़ी विसंगति हो जाएगी। किसी ने आपसे पूछा- 'कहाँ से आये', आपने उत्तर दिया- 'आत्मा में आना-जाना कैसे होगा' तो वह क्या समझेगा! अब भोजन के समय आपको कोई कहे जब आत्मा में आना-जाना नहीं होगा तो खाना-पीना कैसे होगा। इसलिये ऐसी जगह पर **मैं** का अर्थ शरीर ही होता है।

****

जिज्ञासा :- यह जीव यदि ब्रह्म है तो स्वयं को जानता क्यों नहीं? स्वयं को जानने के लिये किसी अन्य की क्यों आवश्यकता है?

समाधान :- यह जीव ब्रह्म ही है। यदि यह स्वयं ब्रह्म नहीं होता तो कभी किसी को ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता था। इसलिये कि ब्रह्म किसी का विषय तो बन नहीं सकता, हमारे पास जितने साधन हैं उनका विषय ब्रह्म नहीं बन सकता है। परन्तु ऐसा देखा गया है कि महापुरुषों को ब्रह्मज्ञान हुआ है। सभी को इसका ज्ञान न होने में कारण यह है कि इसके साथ दूसरा मिश्रित हो गया है। शुद्ध **मैं** के साथ शरीर आ गया। इसी को कहा है - **अज्ञानेनावृतं ज्ञानम् (गीता- ५.१५)**। ज्ञान तो है ही केवल आवृत हुआ है। कैसे आवृत हुआ है? तब कहा -

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।।
आवृतं ज्ञानमेतेन......।(गीता- ३.३८,३९)

इस प्रकार जो आवरण हुआ है इसी को हटाने का काम वेदान्त करता है। कोई ज्ञान कराने का काम वेदान्त नहीं करता।

****

जिज्ञासा :- साधनचतुष्टय में वैराग्य को रखा है और फिर षट्सम्पत्ति में उपरति को रख दिया। वैराग्य और उपरति में क्या अन्तर है?

समाधान :- दोनों में कुछ अन्तर है। वैराग्य विवेक से उत्पन्न होता है।

विवेक द्वारा बहुत समय तक विचार करने पर वैराग्य उत्पन्न होता है और वह दृढ़ होता है।

उपरति में ऐसा नहीं होता। किसी घटना के द्वारा, किसी स्थान से मन झट से हट जाता है। तब व्यक्ति उससे उपराम हो जाता है, उदासीन हो जाता है। यही उपरति है।

वैराग्य प्रारम्भ में द्वेषज होता है पर विचार करते-करते वह विवेकज हो जाता है। अब उस वस्तु के प्रति द्वेष नहीं रहता, उपेक्षा रहती है। पर प्रारम्भ में लक्ष्य के प्रति राग और अलक्ष्य के प्रति द्वेष होता है। तभी वैराग्य पुष्ट होता है। उपरति भी द्वेषज ही होती है लेकिन कभी-कभी निमित्त हटने से शान्त भी हो जाती है।

****

जिज्ञासा :- ज्ञान होने के समय जो अनुभव हुआ उसके विषय में जनकजी ने कहा - "एक ऐसा प्रकाश दिखाई दिया जिसके तेज से बारह सूर्यों के तेज की तुलना नहीं हो सकती।" उनको प्रकाश दिखाई दिया इससे तो द्रष्टा, दृश्य और दर्शन की त्रिपुटी सिद्ध हो रही है जब कि अन्य शास्त्रों में ज्ञानकाल में त्रिपुटी का अभाव कहा है। दूसरी शंका यह होती है कि उस प्रकाश का रंग कैसा था?

समाधान :- जनकजी ने उस चैतन्य प्रकाश के विषय में कहा जिसके बिना सूर्य प्रकाशित नहीं हो सकता अर्थात् वह सूर्य के प्रकाश का भी कारण है। जैसे विद्युत के द्वारा अनन्त बल्ब प्रकाशित हो रहे हैं। सभी का केन्द्र विद्युत है। कितना बड़ा प्रकाश होगा विद्युत में! पर आप से कोई पूछे कि उस प्रकाश का रंग कैसा होता है तो आप नहीं बता सकते।

आप घोर अंधकार में बैठे हैं आँखें भी बन्द कर रखीं हैं। उसी समय आप के मन में एक संकल्प हुआ। आपने उसको जान लिया। वह किस प्रकाश से जाना? उसे चैतन्य प्रकाश की ही महिमा मानना चाहिए। कितना बड़ा होगा वह प्रकाश? संसार के सम्पूर्ण प्रकाश मिलकर भी उसकी बराबरी नहीं कर सकते क्योंकि वह सब का कारण है। जनकजी के कहने का तात्पर्य इतना मात्र है, किसी

प्रकाश का रंग सिद्ध करना या ज्ञानकाल में त्रिपुटी सिद्ध करना नहीं है।

****

जिज्ञासा :- शास्त्रों में कहा गया है कि आत्मदर्शन अत्यन्त सुलभ है। क्या वास्तव में ऐसा है? हमें तो यह संसार का सबसे कठिन कार्य मालूम पड़ता है।

समाधान :- हाँ! सुलभ तो है परन्तु जगत् में कई चीजें सुलभ होने पर भी कठिन मालूम पड़ती हैं। मकान बनाना सरल है या छोड़ देना? छोड़ना सरल होने पर भी कठिन मालूम पड़ता है। जैसे गृहस्थ के लिये मकान छोड़ना कठिन है वैसे ही देहाभिमान छोड़ना साधु के लिये भी कठिन हो रहा है। विचार से तो निश्चय हो जाता है कि हम चेतन हैं शरीर नहीं, फिर क्यों देहाभिमान करते हो?

एक बार याज्ञवल्क्यजी जनक की सभा में आए। मिथिला का जो भी राजा होता था उसका नाम जनक हो जाता था। ज्ञानी-अज्ञानी बहुत से जनक हुए हैं। जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि ज्ञान होने में कितना समय लगता है? याज्ञवल्क्य हँसे और बोले, "अरे! दूसरे को जानना हो तो वहाँ पराधीनता है, उसमें समय लग सकता है पर अपने को जानने में क्या समय लगेगा! फूल को मसलने में जितना समय लगता है, ज्ञान होने में उतना भी समय नहीं लगता।"

जनक ने कहा, "हमें ज्ञान करा दीजिए।" याज्ञवल्क्य ने कहा, "ज्ञान तो मैं करा दूँगा लेकिन ज्ञान होने पर तुम ज्ञानी हो जाओगे, तब मैं तुमको कुछ बोल नहीं सकूँगा। मैं जो ज्ञान कराऊँगा उसकी दक्षिणा मुझे पहले दे दो।" जनक ने कहा, "आप जो कहें वह दक्षिणा देने को मैं तैयार हूँ।" उन्होंने कहा, "जो तुम्हारा हो वह हमको दे दो।" जनक ने कहा, "मैं अपना सारा राज्य आपको अर्पित करता हूँ।"

याज्ञवल्क्य बोले, "राज्य में तुम्हारा क्या है? इस राज्य को पहले तुम्हारे पिता कहते थे कि यह मेरा है। उनके साथ तो राज्य गया नहीं, तुम्हारे साथ भी नहीं जाएगा। एक राजा जाता है, दूसरा राजा बनता है, पर राज्य-प्रजा सब वैसे ही चलते हैं। जो वस्तु तुम्हारी हो वह दो।" अब तो जनक संकट में पड़ गए, बोले, "मैं अपना महल और सम्पूर्ण परिवार आपको सौंपता हूँ।"

याज्ञवल्क्य ने कहा, "इसमें तुम्हारा क्या है? दूसरे की वस्तु देकर क्यों छल करते हो?" जनक ने कहा, "मैं अपना शरीर आपको अर्पित करता हूँ।" उन्होंने कहा, "शरीर भी तुम्हारा कहाँ है, वह तो यहीं चिता पर जलने वाला है। तुम्हारे साथ तो जाएगा नहीं। जो तुम्हारी वस्तु हो उसे दो।" अब तो जनक बहुत संकट में पड़ गए। उन्होंने कुछ देर विचार किया और कहा, "मैं अपना मन आपके चरणों में अर्पित करता हूँ।" तब याज्ञवल्क्य चुप हो गए, कुछ बोले नहीं।

इतने में एक ब्राह्मण सभा में आया और बोला, "महाराज! आपकी जय हो। मैं गरीब ब्राह्मण हूँ, बहुत दूर से आया हूँ। अपनी कन्या के विवाह के लिये आपसे पाँच सौ स्वर्ण मुद्राएँ चाहता हूँ।" जनक ने सोचा कि जब मन ही गुरुजी को दे दिया तो इससे कैसे बोल सकता हूँ? वे चुप रहे। ब्राह्मण कुछ देर तो स्तुति करता रहा, कोई जवाब न मिलने पर वह नाराज हो गया और राजा को भला-बुरा कहने लगा। तब याज्ञवल्क्य ने मंत्री से कहा, "इस ब्राह्मण को यथेष्ट धन दे दो।"

अब याज्ञवल्क्य ने जनक से पूछा, "जब उसने पहले तुम्हारी स्तुति और बाद में निन्दा की तब तुम्हें कैसा लगा?" जनक ने कहा, "जब मैंने अपना मन ही आपको अर्पित कर दिया तो निन्दा-स्तुति किसे लगनी है?" याज्ञवल्क्य बोले, "बस! यही ज्ञान है। मन सहित जितना कुछ अपना था वह सब तुमने छोड़ दिया, यही ज्ञान है। इसको हमेशा ध्यान रखना। अब तुम मेरी आज्ञा से राज्य का शासन करो।"

इसीलिये भगवान् भाष्यकार ने ज्ञान को सरल कहा क्योंकि अपने को ही जानना है। परन्तु जब तक प्राणी मोहाविष्ट है तब तक दुनिया भर का इतिहास पढ़ेगा, सब कुछ जानना चाहेगा, बस! अपने को जानने की बात ही मन में नहीं आती। भगवान् भाष्यकार बड़े दुःख से कहते हैं -

देहस्त्रीपुत्रमित्रानुचरहयवृषास्तोषहेतुर्ममेत्थं
सर्वे स्वायुर्नयन्ति प्रथितमलममी मांसमीमांसयेह।
एते जीवन्ति येन व्यवहृतिपटवो येन सौभाग्यभाज-
स्तं प्राणाधीशमन्तर्गतममृतममुं नैव मीमांसयन्ति।।(शतश्लोकी-५)

दिनरात व्यक्ति इसी चिन्ता में रहता है कि मेरा शरीर कैसा है, स्त्री-पुत्र अप., मानते हैं या नहीं, मेरे पास घोड़ा है, कार है, मकान है, कोई कमी नहीं है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त इसी मीमांसा(विचार) में लगा रहता है, मांस की मीमांसा में लगा रहता है। परन्तु जो इसके प्राणों को चला रहा है - **प्राणाधीशम् अन्तर्गतम् अमुम् आत्मानम्,** जो इसे अन्दर से सम्भाल रहा है उस आत्मा के विषय में विचार ही नहीं करता। तुम मनुष्य हो और **मैं** की जिज्ञासा तुम्हारे अन्दर नहीं हो रही है तो बड़ा दोष है।

आत्मा है तो **अत्यन्तदर्शनगोचरताप्राप्तम्,** परन्तु उसकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं है। इसमें हेतु बताया- **दृष्टादृष्टविषयभोगबलाकृष्टचेतस्तया।** जगत् के दृष्ट(इस लोक के) और अदृष्ट(परलोक के) भोगों ने इसके चित्त को खींचकर बाहर फेंक दिया है। इसलिये आत्मा का विचार करने की फुर्सत ही नहीं मिलती। इस विषय में - **अनेकधा मूढ़ा नानुपश्यन्ति,** बहुत प्रकार से मोहित होने के कारण अपने को ही नहीं जान पाते, शरीर को ही **मैं** मान लेते हैं। कोई थोड़ा विचार करता है तो सूक्ष्म शरीर को **मैं** समझता है। कोई कहता है सबका आत्मा एक कैसे हो सकता है, अलग-अलग होगा। भाष्यकार भगवान् कहते हैं - **अहो! कष्टं वर्तते** बड़ा भारी कष्ट है कि इतना सरल होने पर भी मनुष्य आत्मदर्शन के लिये प्रयास नहीं करता। जगत् की ओर खिंचाव इसे कठिन बना देता है।

****

जिज्ञासा :- ज्ञानयोग क्या है? उसका अनुशीलन किस प्रकार करना चाहिए?

समाधान :- वैसे तो शास्त्रों में बहुत से योगों की चर्चा है, परन्तु परम्परागत रूप से दो ही योग मुख्य हैं। **ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।(गीता- ३.३)** जब आप मोक्षप्राप्ति के लिये वेदान्त में कहे गए ज्ञान का श्रवणादिपूर्वक अभ्यास करते हैं तो इसे ज्ञानयोग कहते हैं। परन्तु इसके अनुशीलन के लिये एक योग्यता की अपेक्षा होती है। इसके लिये भगवान् ने

गीता में बताया कि अपने कर्म को योग बनाओ। अपने कर्म को भगवान् से जोड़ो, जगत् से नहीं। भगवान् की आज्ञा का पालन समझ कर कर्म करो।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।(गीता-१८.४६)

अपने कर्मों के द्वारा भगवान् की आराधना करने से सिद्धि प्राप्त होगी। यहाँ सिद्धि का अर्थ ज्ञानप्राप्ति की योग्यता है, कुछ और नहीं। तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होकर तुम्हें ज्ञानयोग का अधिकार प्राप्त हो जाएगा। जब तक मन शुद्ध और एकाग्र नहीं है तब तक ज्ञानयोग में प्रवेश नहीं होता। ज्ञानयोग में जाने का सर्टिफिकेट है - **साधनचतुष्टय-सम्पन्नता।** अब कहो, क्या इसके पहले ज्ञान की चर्चा भी नहीं कर सकते? अरे! जिस चर्चा से जीवन न बने उस चर्चा से क्या फायदा है।

यदि तुम्हारे पास योग्यता है, साध्य-साधन-एषणा का परित्याग हो गया है तो तुम्हारा यही कर्तव्य है कि बाह्यकर्मों से शान्त हो जाओ। उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र आदि ग्रन्थों का श्रवण करो। श्रवण भी ऐसे महापुरुषों से करो जिन्होंने गीता को, उपनिषद् को जीवन में पचा लिया है। उस सुने हुए के मनन और निदिध्यासन में लग जाओ, यही तुम्हारा कर्तव्य है। तब तुम्हें उस ज्ञान की अनुभूति हो जाएगी जिससे सर्व संशय निवृत्त हो जाते हैं।

पर यह बात ध्यान रखने की है कि योग्यता से पहले श्रवण करके तुम परोक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकते हो, जो बुद्धि का वैभव होगा, जीवन नहीं बना सकता। उस ज्ञान का प्रवचन करके तुम पैसा कमा सकते हो, यश कमा सकते हो, लाखों लोगों को भक्त भी बना सकते हो। इसमें कोई बाधा नहीं आएगी। पर तुम ज्ञानयोगी नहीं बन सकते। ज्ञान सीख लेना अलग बात है और ज्ञानयोगी बनना अलग है। तुम क्रोध पर बोल सकते हो पर उसे जीत नहीं सकते। योगी उसे जीत लेता है।

****

जिज्ञासा :- गीता में जीव को परा प्रकृति क्यों कहा है?

समाधान :- गीता में भगवान् ने दो प्रकृतियाँ बताई हैं - एक परा और

दूसरी अपरा। अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ यह सब मिलकर अपरा प्रकृति है। इसी से पञ्चभूतों और सभी प्राणियों की सृष्टि होती है, परन्तु यह अपरा प्रकृति जीव के बिना सृष्टि नहीं कर सकती। तेरहवें अध्याय में भगवान् ने अपरा प्रकृति को क्षेत्र नाम से कहा और जीव को क्षेत्रज्ञ बताया। आगे कहा —

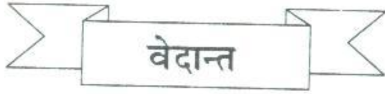
यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद्विद्धि भरतर्षभ॥(१३.२६)

संसार में जितने भी चर और अचर पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे क्षेत्र (अपरा प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (जीव) के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि सृष्टि में हेतु क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ संयोग ही है। जीव संज्ञा भी उपाधि से युक्त चेतन की ही है क्योंकि उपाधि को छोड़ दें तो जीव संज्ञा ही नहीं रहेगी। इस उपाधि में अभिव्यक्त चेतना को लेकर ही सृष्टि होती है। सम्पूर्ण प्राणियों में प्राणधारण भी इस जीव को लेकर ही होता है, अतः बिना जीव के केवल जड़ प्रकृति सृष्टि नहीं कर सकती। चेतन होने के कारण जीव अपरा प्रकृति से श्रेष्ठ अर्थात् पर है। इसी दृष्टि से गीता में जीव को परा प्रकृति कहा गया है।

****

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥
(श्वेताश्वतर उप.-२.१५)

जिस अवस्था में ज्ञानयोगी अपने प्रकाश स्वरूप आत्मा से ब्रह्म का साक्षात्कार करता है अर्थात् परमात्मा को आत्मरूप से जान लेता है, उस समय अजन्मा, अच्युत, अविद्या और उसके कार्यों से असंस्पृष्ट स्वयंप्रकाश परमात्मा को जानकर अविद्या आदि सम्पूर्ण पाशों से मुक्त हो जाता है।



जिज्ञासा :- व्यष्टि का सम्बन्ध समष्टि से जोड़ने की क्या प्रक्रिया है?

समाधान :- व्यष्टि का सम्बन्ध समष्टि के साथ पहले से ही है, मात्र इसे समझना है। समष्टि उपाधि की अंशभूता उपाधि का नाम व्यष्टि उपाधि है। जैसे समष्टि उपाधि पंचमहाभूत की अंशभूता व्यष्टि उपाधि आपका यह पाञ्चभौतिक कार्यरूप स्थूल शरीर है। जैसे मिट्टी के घड़ों में मिट्टी व्यष्टि रूप है और सम्पूर्ण पृथ्वी की मिट्टी समष्टि रूप है। कहने का तात्पर्य है कि सम्बन्ध का ज्ञान ही करना है, सम्बन्ध तो है ही। इसलिये कहा- **वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् (छान्दो.उप.-६.१.४)** मिट्टी और घड़े में शब्द के अतिरिक्त भेद कहाँ है। इस प्रकार की समझ हो जाए तो समष्टि के अतिरिक्त व्यष्टि का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता, पर भ्रम से भेद मालूम पड़ता है। विद्युत को भूलकर बल्ब अहंकार करे कि मैं प्रकाश कर रहा हूँ तो वह अहंकार मिथ्या ही होता है। इसी प्रकार शरीर से लेकर अन्तःकरण तक व्यवहार हो रहा है। आप सोचते हैं कि मैं कर रहा हूँ पर सचाई तो यह है कि तुम्हारा हृदय, तुम्हारा प्राण कोई दूसरा ही चला रहा है, तुम क्या कर सकते हो? पर देखो अहंकार कितना है।

इसी प्रकार अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत का अभिमानी हिरण्यगर्भ समष्टि होता है और अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत के कार्य सूक्ष्म शरीर के अभिमानी **हम** व्यष्टि हैं। इस प्रकार का विचार पक्का करना है। कोई नया सम्बन्ध स्थापित करना नहीं है।

****

जिज्ञासा :- छान्दोग्योपनिषद् में मन को पाञ्चभौतिक कहा है और

योगवासिष्ठ में कहा है - **चित्तं चिदिति जानीयात्।** यहाँ चित्त को चैतन्य बताया है। यथार्थ में मन का क्या स्वरूप है?

समाधान :- केवल छान्दोग्योपनिषद् में ही नहीं, प्रकरण ग्रन्थों में भी मन को सूक्ष्म पञ्चमहाभूतों का कार्य बताया है। पृथक-पृथक महाभूत के सात्विक अंश से पञ्चज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति और सभी के सात्विक अंश को मिलाकर मन की उत्पत्ति बताई है। इसी प्रकार पृथक-पृथक महाभूत के रजोगुण अंश से पञ्चकर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति और सब को मिलकर प्राण की उत्पत्ति बताई है।

योगवासिष्ठ में जो कहा है- **चित्तं चिदिति जानीयात् तकाररहितं यदा।**
तकारो विषयाध्यासो जपारागो यथा मणौ।।

चित्त जब तकार से रहित होता है तो चैतन्य स्वरूप ही हो जाता है। यहाँ पर विषयाध्यास ही तकार है। विचार कीजिए कि मन यदि कोई संकल्प नहीं कर रहा हो उस समय उसका स्वरूप चैतन्य के अतिरिक्त क्या होगा? मन ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व ही कल्पित है। अब कल्पित वस्तु का अधिष्ठान के अतिरिक्त क्या स्वरूप होगा। अधिष्ठान तो सभी का चैतन्य ही है। इसलिये मन का पृथक् अस्तित्व तभी तक मालूम पड़ता है जब तक उसका विषयों के साथ सम्बन्ध रहता है। मन विषयसम्बन्ध से रहित हुआ कि अधिष्ठानरूप चैतन्य ही रह जाएगा। मन को भौतिक मानें तो भी कोई विरोध नहीं क्योंकि प्रत्येक भौतिक पदार्थ का अधिष्ठान भी चैतन्य ही है।

****

जिज्ञासा :- अन्नमयं हि सोम्य मनः।(छान्दो.उप.-६.५.४) यहाँ पर मन का उपादान कारण अन्न को क्यों बताया है?

समाधान :- यहाँ पर अन्न को मन की उत्पत्ति में हेतु नहीं कहा है बल्कि उसके पोषण में हेतु बताया है। **अन्नमशितं त्रेधा विधीयते।(छान्दो.उप. -६.५.१)** जो अन्न हम भोजन करते हैं वह तीन भागों में विभाजित हो जाता है। एक मल-मूत्र के रूप में बाहर निकल जाता है दूसरा रसादि क्रम से सप्तधातु बनकर स्थूल शरीर का पोषण करता है। तीसरा जो ऊर्जा भाग है

वह मन-इन्द्रिय में जाकर सूक्ष्म शरीर का पोषण करता है। इसलिये अन्न ग्रहण न करने पर मन कमजोर मालूम पड़ता है।

इसी बात को दृष्टि में रखकर मैं बार-बार कहता हूँ कि भोजन के समय प्रत्येक ग्रास में मंत्र की व्याप्ति करें। इससे उसका ऊर्जा भाग संस्कारित होकर मन को शुद्ध करेगा। यह एक विज्ञान है।

****

जिज्ञासा:-

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।।

(मुण्ड.उप.- ३.२.६)

यहाँ कहा है - ''संन्यासयोग के द्वारा शुद्ध अंतःकरण वाले ब्रह्मलोक में मुक्त हो जाते हैं।'' क्या संन्यास के बिना ब्रह्मलोक में गये लोग लौट आते हैं?

समाधान :- इस मंत्र का तात्पर्य है वेदान्त-विज्ञान के द्वारा जिन्होंने अर्थ का निश्चय कर रखा है, संन्यास के द्वारा जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है वे साधक ब्रह्मलोक में जाकर निवास करते हैं और महाप्रलय के समय जब सृष्टि का विलय होता है तब ब्रह्माजी के साथ मुक्त हो जाते हैं।

ब्रह्मलोक में तो अनेक साधनों से बहुत लोग जाते हैं। उनमें से जिनको यहाँ परोक्ष ज्ञान हुआ है वे लौट कर नहीं आते, उनको वहाँ अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है। जो कर्मी या पञ्चाग्नि उपासक वहाँ जाते हैं उनमें तो परोक्ष ज्ञान का संस्कार नहीं है, इसलिये वे लौट आते हैं। प्रश्न यह होता है कि यहाँ परोक्ष ज्ञान किसको होगा? तब कहा - **संन्यासयोगात्** - संन्यासयोग से परोक्ष ज्ञान होगा। संन्यास के बिना व्यक्ति श्रवण कैसे करेगा। संयमित नहीं होगा तो वह अपने चित्त का शत-प्रतिशत भाग श्रवण में नहीं लगा सकेगा, इससे वह वेदान्त के तात्पर्य को धारण करने में समर्थ नहीं होगा। इसलिये उसे परोक्ष ज्ञान होना सम्भव नहीं है। जिसने एषणात्रय का परित्याग

नहीं किया वह मोक्षार्थी नहीं हो सकता। वेदान्त के तात्पर्य को तो मोक्षार्थी ही समझ सकता है। यहाँ पर संन्यास का मतलब लिङ्ग (गैरिकादि वस्त्र तथा शिखा-सूत्र का त्याग) से नहीं है। जिसने एषणात्रय त्याग किया है वही संन्यासी है। उसे परोक्ष ज्ञान है और वह अपरोक्ष का प्रयत्न कर रहा है। अतः शरीर छूटने पर वह ब्रह्मलोक में जाकर मुक्त हो जाता है।

(टिप्पणी:-यद्यपि भगवान् भाष्यकार ने इस मन्त्र का अर्थ **सद्योमुक्तिपरक** किया है, परन्तु कैवल्योपनिषद् में भी यह मन्त्र उपलब्ध होता है। दीपिका टीका में उसकी व्याख्या करते समय स्वामी शंकरानन्दजी ने परोक्ष ज्ञानी की ब्रह्मलोक में मुक्ति होती है ऐसा अर्थ किया है। पञ्चदशी के ध्यानदीप प्रकरण के श्लोक ५२ में स्वामी विद्यारण्यजी ने भी इस मन्त्र को परोक्ष ज्ञानी की क्रममुक्ति में प्रमाणरूप से उद्धृत किया है। अतः यहाँ दिये गये समाधान को दीपिका टीका के अनुसार समझना चाहिए।)

****

जिज्ञासा :- क्या वेदान्त-चिन्तन के लिये भी आसनसिद्धि की आवश्यकता है?

समाधान :- किसी भी आसन में तीन या इससे अधिक घण्टे तक बिना किसी कष्ट के सहजता से बैठने का यदि आपका अभ्यास है तो समझो आपका आसन सिद्ध है। यदि आपका आसन सिद्ध है तो वेदान्त-चिन्तन में बहुत लाभ होगा। शरीर की स्थिरता का मन तथा प्राण के साथ सम्बन्ध होता है। इससे प्राण सूक्ष्म होगा और मन स्थिर होगा जिससे ध्यान धारणा इत्यादि में बहुत लाभ होगा।

****

जिज्ञासा :- अथातो ब्रह्मजिज्ञासा(ब्रह्मसूत्र-१.१) का अर्थ करते समय कुछ लोग कहते हैं -''साधनचतुष्टयसम्पन्नता के पश्चात् ही ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए''। क्या अपेक्षित योग्यता के पहले ब्रह्मजिज्ञासा करना अनुचित है?

समाधान :- **जिज्ञासा** शब्द का अर्थ है जानने की इच्छा। इस सूत्र की व्याख्या करते समय बहुत विद्वानों ने जिज्ञासा शब्द का जो अर्थ प्रसिद्ध है वही किया है। इसलिये **भामतीकार** कहते हैं ''साधनचतुष्टय सम्पन्नता के बाद ही साधक में ब्रह्मजिज्ञासा होती है।'' जिसे भूख ही नहीं है वह भोजन कैसे पाएगा? इसी विषय में **विवरणकार** कहते हैं - ''साधनचतुष्टय - सम्पन्नता के अनन्तर ही ब्रह्म को जानने के लिये विचार करना चाहिए। तभी वह विचार फलीभूत होगा।'' यहाँ पर जिज्ञासा का अर्थ **विचार** किया है। इसलिये उन्होंने कहा - 'साधनचतुष्टयसम्पन्नता के पहले यदि कोई विचार करेगा तो वह अनुचित होगा। उसका विचार फलपर्यावसायी नहीं होगा अर्थात् वह ज्ञान प्राप्ति में हेतु नहीं बनेगा।'

ब्रह्म को जानने की इच्छा भले ही किसी में किसी अन्य साधन से उत्पन्न हो गई पर विचार के लिये तो साधनचतुष्टयसम्पन्नता होनी ही चाहिए।

****

जिज्ञासा :- जीव का ब्रह्म के साथ मुख्य सामानाधिकरण्य बताया गया है वहीं जगत् का बाध सामानाधिकरण्य बताया है। जब जीव और जगत् दोनों ही कल्पित है तो उनका ब्रह्म के साथ सामानाधिकरण्य भिन्न-भिन्न क्यों कहा है?

समाधान :- इसके लिये पहले इन शब्दों का अर्थ जान लेना चाहिए। मुख्य सामानाधिकरण्य किसे कहते हैं? जैसे **राजा दशरथ,** यहाँ पर राजा और दशरथ दोनों भिन्न-भिन्न पद होते हुए भी एक ही वस्तु को कहते हैं। इसलिये इन दोनों का मुख्य सामानाधिकरण्य है। यहाँ पर समान विभक्ति वाले दोनों पदों में से किसी एक का बाध नहीं करना है। बाध सामानाधिकरण्य इससे भिन्न है। जैसे किसी ने कहा-''**अयं सर्पो रज्जुः**, जो सर्प दिखाई दे रहा है वह रज्जु है।'' वहाँ आप सर्प को हटाकर रज्जु को ही देखते हैं। जब समान विभक्ति वाले दोनों पदों में से एक का बाध करके दूसरे को देखा जाता है, उसे बाध सामानाधिकरण्य कहते हैं। यहाँ पर

दिखता जगत् है पर वेदान्ती लोग कहते हैं - ''यह जगत् वस्तुतः अधिष्ठान चैतन्य स्वरूप ही है।'' यहाँ पर जगत् का बाध कर चैतन्य अधिष्ठान को ही देख रहे हैं। इसलिये यहाँ बाध सामानाधिकरण्य कहा है।

जीव को जगत् के समान कल्पित नहीं कहा बल्कि उसे ब्रह्म की ही एक औपाधिक संज्ञा बताया है। जैसे ईश्वर, हिरण्यगर्भ, विराट् हैं वैसे ही जीव भी ब्रह्मरूप है। अतः उसका बाध नहीं होता। इसलिये इसका ब्रह्म के साथ मुख्य सामानाधिकरण्य बताया है।

****

जिज्ञासा :- वेदान्त में पद-पदार्थ के ज्ञान पर विशेष बल दिया जाता है। यहाँ पर पदार्थ ज्ञान का क्या तात्पर्य है?

समाधान :- वेदान्त दर्शन का एक ही लक्ष्य है - **आत्मदर्शन**। कोई साधक आत्मदर्शन का जिज्ञासु है तो सर्वप्रथम उसको आत्मा के स्वरूप का निर्धारण करना पड़ेगा। वह शास्त्र से ही होगा। जगत् प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है तो इसके विषय में निर्धारित करना पड़ेगा कि यह माया से ही दिखाई दे रहा है। उस माया का क्या लक्षण है, यह जानना पड़ेगा। वह किसके आश्रय रहती है? ईश्वर के आश्रय ही रहती है। उस ईश्वर का लक्षण क्या है? यह भी शास्त्र से ही जानना पड़ेगा। इसी प्रकार जीव का क्या लक्षण है, क्षेत्र का क्या लक्षण है, क्षेत्रज्ञ का क्या लक्षण है? इन सारे पदों के जो अर्थ हैं, हमें अपने साध्य तक पहुँचाने वाली प्रक्रिया के उपयोग में आने वाले पदों के जो अर्थ हैं, उनका ज्ञान शास्त्र से ही होगा। उन अर्थों को सामान्यतः जानकर फिर उनका संशयरहित ज्ञान करना ही पद-पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करना है। इसे परोक्ष ज्ञान भी कहते हैं।

जिज्ञासा :- वेदान्त प्रक्रिया में **त्वम्** पदार्थ के शोधन की अनिवार्यता तो समझ में आती है। **तत्** पदार्थ के शोधन की अनिवार्यता क्यों है?

समाधान :- त्वम् पदार्थ **(जीव)** की उपाधि जो अविद्या है वह तत्

पदार्थ **(ईश्वर)** की उपाधि माया की अंशभूता है। इसलिये त्वम् पदार्थ को तत् पदार्थ का अंश समझना चाहिए। मूल में उपाधि का यदि शोधन नहीं होगा तो उतनी कमी रह जाएगी। उससे आप सांख्य के पुरुषतत्त्व तक पहुँचेंगे। वेदान्त के ज्ञान को प्राप्त नहीं कर पाएंगे। इसलिये वेदान्त में त्वम् पदार्थ के शोधन के साथ-साथ तत् पदार्थ के शोधन को भी अनिवार्य बताया है।

****

जिज्ञासा :- वेदान्त में नाम-रूप को मिथ्या कहा है। ऐसे में भगवन्नाम भी मिथ्या हो जाएगा। परन्तु भक्तिदर्शन के ग्रन्थों में नाम की बहुत महिमा बताई है - **कलौ तद्धरिकीर्तनात्।(भागवत-१२.३.५२)** समर्थ श्री रामदासजी ने भी कहा है - "सिद्ध पद पर बैठ कर जो भगवन्नाम का निरादर करता है वह सिद्ध नहीं गँवार है।" ऐसे में किसको सत्य मानें?

समाधान :- वेदान्त मानता है कि जिसकी उत्पत्ति होती है उसका नाश होता है। नाम-रूप की उत्पत्ति हुई है इसलिये ये नाशवान् हैं। जहाँ पर इनकी महिमा की बात आई है वह अलग प्रसंग है। बृहदारण्यक उपनिषद् के 'याज्ञवल्क्य और जारत्कारव आर्तभाग संवाद' में एक आख्यान है। जब ज्ञान का प्रसंग आया तो याज्ञवल्क्य ने कहा चलो एकान्त में बात करेंगे। हाथ पकड़कर एकान्त में ले गए, ज्ञान चर्चा किये और कहा- देखो! यह चर्चा सभा में करने लायक नहीं है। सभा में तो कर्म की ही प्रशंसा करनी है, नहीं तो लोग कर्म करना ही छोड़ देंगे। ऐसा करने पर वे आगे नहीं बढ़ पाएंगे।

इसीप्रकार ज्ञान प्रसंग में नाम-रूप को मिथ्या कह कर भक्ति के प्रसंग में उसकी प्रशंसा की है, तो विरोध नहीं है। तुलसीदासजी कहते हैं— **मोरें मत बड़ नाम दूहु तें।(मानस बाल.-२२.१)** यहाँ पर नाम को सगुण-निर्गुण परमात्मा से बढ़कर बताया है। नामदेवजी ने कहा, जिसने नाम का आधार लिया वही सुखी है - **सो सुखिया जो नाम आधारा।** यहाँ पर समझने की बात है कि नाम को हम साधन के रूप में ग्रहण करते हैं साध्य के

रूप में नहीं। साधन की उपयोगिता तब तक है जब तक साध्य की प्राप्ति नहीं होती। साध्य की प्राप्ति होने पर साधन व्यर्थ हो जाता है।

दूसरी बात परमेश्वर के जिस नाम-रूप की हम बात करते हैं उसका वह नाम-रूप विशेष तो है नहीं। विशेष होता तो एक ही होता। परन्तु ऐसा नहीं है। उसके अनन्त नाम हैं, अनन्त रूप हैं। आप किसी एक को आधार बनाकर उसे प्राप्त कर सकते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि सभी नाम-रूपों से वही एक गृहीत हो रहा है। यही नाम-रूप का मिथ्यात्व है। यहाँ ऐसा नहीं समझना कि इससे नाम-रूप के साधनत्व में कमी आ जाएगी। अतः यहाँ तात्पर्य नाम-रूप की उपेक्षा में नहीं है। जब सत्य की परिभाषा की जाती है- जिसका तीनों काल में बाध नहीं होता वही सत्य है **त्रिकालाबाध्यत्वं सत्यत्वम्,** तब कहना पड़ता है कि यह नाम और रूप बनने और मिटने वाले अर्थात् बाधित होने से मिथ्या हैं। यह सब कहने पर भी इनका आधार कमजोर नहीं हो जाता।

उपनिषद् कहती है - **इदम् अग्रे आसीत्। इदम्** का अर्थ है यह नाम-रूप वाला जगत्। यह जगत् सृष्टि के पहले भी था परन्तु इस रूप में नहीं ब्रह्मरूप में, आत्मरूप में, सद्रूप में था। इसके अस्तित्व का अपलाप (निषेध) नहीं हुआ, नाम-रूप का अपलाप हुआ है। इसलिये नाम-रूप का मूल वह तत्त्व ही हुआ। मन्त्र प्रकरण में मन्त्र को पहले शब्दरूप, फिर चित्तरूप और अन्तिम में चैतन्यस्वरूप कहा। इसके बिना उसमें शक्ति कहाँ से आएगी। नाम-रूप को मिथ्या कहने में विवाद तब होता है जब हम उसका अर्थ गलत समझ लेते हैं। मिथ्या शब्द का अर्थ है - व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। इसलिये कहते हैं जगत् व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं।

व्यवहार में इस शरीर का जो नाम है वही बोलना पड़ेगा। किसी ने जाति पूछी तो जाति बतानी पड़ेगी। सारा व्यवहार इसी से करना पड़ता है। यह भी सत्य है कि तुम किसी प्रकार से शरीर नहीं हो सकते, पर सारा व्यवहार मिथ्या प्रतीति को लेकर ही हो रहां है। इसलिये इसे व्यावहारिक सत्य कहें तो कोई आपत्ति नहीं। जब नाम-रूप का जगत् से सम्बन्ध होता है

तो ये हमें जगत् में ही रखते हैं और भगवान् से सम्बन्धित होने पर भगवान् की तरफ ले जाते हैं। परमतत्त्व की प्राप्ति के लिये नाम-रूप को उत्कृष्ट व्यावहारिक साधन समझना चाहिए। इसीलिये नाम की महिमा कही है।

नाम का उस मूल तत्त्व से किस प्रकार सम्बन्ध बनता है इसमें भी एक रहस्य है। जैसे आपने **गौ** शब्द सुना, इसे सुनकर आपके मन में एक विशेष अर्थाकार(पिण्डाकार) वृत्ति बनती है। यह मानना पड़ेगा कि **गौ** शब्द से उसके अर्थ का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कोई शंका करे कि **गौ** को हमने देखा है, ईश्वर को तो देखा नहीं। उसके आकार की वृत्ति कैसे बनेगी। ठीक है! मान लो किसी ने अमेरिका के राष्ट्रपति को देखा नहीं है। उसके विषय में पढ़ा-सुना है। उस व्यक्ति के सामने कोई अमेरिका के राष्ट्रपति के नाम का उच्चारण करेगा तो उसके अन्दर एक अर्थाकार बृत्ति बनेगी। इसमें क्या हेतु है? वहाँ यही मानना पड़ता है कि उस नाम के साथ उस अर्थ का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

इसी प्रकार जब हम भगवन्नाम लेंगे तब भगवान् के विषय में जो हमारा ज्ञान है कि वह जगत् की उत्पत्ति, पालन तथा संहार करने वाला है, तदाकार वृत्ति हमारे मन में बनेगी। वह हमें मूल कारण में ले जाएगी। इससे कार्यरूपी जगत् की सत्यता का संस्कार दूर हो जाएगा। यही नाम में विलक्षणता है। इसलिये गोस्वामीजी कहते हैं, भगवान् का नाम लेते ही संसार सागर सूख जाता है- **नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं।(मानस बाल.-२४.२)** मैं बार-बार कहता हूँ कि दो अलग-अलग प्रसंगों में कही गई बातों में विरोध मानकर विवाद नहीं करना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- आत्मा का लक्षण सच्चिदानन्द कहा है। ऐसे में वह निर्गुण कैसे हो सकता है?

समाधान :- सच्चिदानन्द का अर्थ आप नहीं समझे इसलिये यह शंका हो रही है। सत् का तात्पर्य लोक में प्रसिद्ध है - सत्ता गुण से युक्त। जैसे घट की सत्ता, पट की सत्ता। पर एक सत्ता ऐसी है कि जिससे घट, पट

आदि सत्तावान् हो रहे हैं। वह घट, पट से अतिरिक्त है तथा विशिष्ट नहीं बन पाती इसलिये आप उसे ग्रहण नहीं कर पाते। वही आत्मसत्ता है। इसी प्रकार चैतन्यता में भी समझना चाहिए। चिद् कहने से अभिव्यक्त चेतन को ही समझते हैं, अन्तःकरण में प्रतिफलित विशिष्ट चेतन को समझ लेते हैं। पर ऐसा नहीं है। वह अभिव्यक्त चेतन नहीं है, इससे उसकी तुलना नहीं कर सकते। बल्ब के प्रकाश से विद्युत में रहने वाले प्रकाश की तुलना नहीं कर सकते। ऐसे ही आनन्द के विषय में समझना चाहिए। लोगों को जो आनन्द की अनुभूति होती है वह आनन्दमय कोष की है। ऐसे में मूल को कैसे समझेंगे। मूल तो लक्षणावृत्ति से उपलक्षित हो सकता है। इन शब्दों के अर्थ को समझे बिना सत्, चित्, आनन्द(सच्चिदानन्द) समझ में नहीं आएगा, क्योंकि हमारे अन्दर जो व्यवहार का संस्कार है वह इनमें घटेगा नहीं। ऐसे में शंका होना स्वाभाविक है।

****

जिज्ञासा :- चरमवृत्ति क्या है? यह प्राप्त होने पर तत्त्वज्ञान के लिये क्या कर्तव्य है?

समाधान :- मन किसी विशिष्ट पदार्थ को न पकड़े और निद्रा में भी न जाए, कल्पना कीजिए उस समय मन का क्या स्वरूप होगा। मन तो रहेगा पर वह व्यापक हो जाएगा, आत्मरूप हो जाएगा। इसे वृत्तिव्याप्ति कहते हैं, यही चरमवृत्ति है। इससे बड़ी कोई वृत्ति नहीं बनती। सविशेषवृत्ति चाहे जितनी बड़ी हो, उससे बड़ी भी वृत्ति बन सकती है। पर मन यदि निर्विशेष हो गया तो उससे बड़ी कोई वृत्ति नहीं बनेगी। इसलिये इसे चरमवृत्ति कहते हैं। यहाँ तक पुरुषार्थ है इससे आगे कोई पुरुषार्थ नहीं। चरमवृत्ति आवरण को भंग कर देती है। तत्त्व तो स्वयंप्रकाश है। अतः तत्त्वज्ञान स्वतः हो जाता है।

****

जिज्ञासा :- वेदान्त में ब्रह्म को व्यापक कहा है और ऐसा भी कहा है

कि ब्रह्माकारवृत्ति बनती है। क्या वृत्ति भी इतनी व्यापक हो सकती है ज व्यापक ब्रह्म को पकड़ ले?

समाधान :- जब आप कहते हैं कि वृत्ति जगदाकार है तब क्या आ शंका करते हैं कि वृत्ति जगत् के आकारवाली कैसे हो सकती है! वेदान्त मे ब्रह्माकारवृत्ति कहने का तात्पर्य अखण्डाकारवृत्ति से है। अर्थात **संसर्गानवगाही बोध** - धर्म, धर्मी तथा उनका सम्बन्ध इन तीनों के भान से रहित केवल विशुद्ध का भान होना ही **ब्रह्माकारवृत्ति** है। विशिष्ट वृत्तियों क अभाव होने पर वृत्ति अपने अधिष्ठान में लीन हो जाती है, तब उसे **ब्रह्माकारवृत्ति** कहते हैं। ब्रह्माकारवृत्ति का तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि वह ब्रह्म को गृहीत करती है या ब्रह्म उसमें समाहित हो जाता है।

****

जिज्ञासा :- उपनिषद् में आता है कि **प्रज्ञान** के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है। यहाँ पर प्रज्ञान का क्या तात्पर्य है?

समाधान :- वेदान्त को समझते समय एक बात सिद्धान्त के रूप में हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए कि सारी सृष्टि के मूल में एक सत्ता है। वह चेतन है। उसी से जगत् को सत्ता मिल रही है क्योंकि दूसरी सत्ता तो कोई है नहीं। इसलिये जगत् के प्रति जो सत् के संस्कार पड़े हैं उनको निकाल देना चाहिए और यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि जिससे सबको सत्ता मिल रही है वह सत् है।

जिस चेतन से सबको चेतनता मिल रही है वह चेतन है। वहाँ तो जगत् के समान सत् और चेतन का विभाग भी नहीं है। इसलिये एक वही सत् है, वही चेतन है। यहाँ जो विभाग दिखते हैं वे तो प्रतिफलन को लेकर दिखाई देते हैं। वह जो सत्ता है उसे ही प्रज्ञान कहते हैं। उसमें ही सम्पूर्ण जगत् कल्पित है। अब अधिष्ठान से अतिरिक्त कल्पित को खोजो तो नहीं मिलेगा। इसलिये प्रज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं है यह बात जहाँ कही है वहाँ प्रज्ञान का अर्थ ब्रह्म समझना चाहिए। बौद्धों का प्रज्ञान नहीं। वे क्षणिक

प्रज्ञान मानते हैं। ऐसा प्रज्ञान सबको सत्ता नहीं दे सकता।

****

जिज्ञासा :- वेद, पुराण और स्मृति को अविद्यावस्था में ही प्रमाण बताया गया है। इसका क्या तात्पर्य है?

समाधान :- शांकर भाष्य में कहा है और युक्ति के द्वारा भी समझ में आता है कि तत्त्वज्ञान होने पर इनकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। जब वहाँ कोई कर्तव्य नहीं, विधि नहीं, निषेध नहीं, तो इनके उपदेश की भी आवश्यकता नहीं। तत्त्वज्ञान अविद्या के नाश होने पर ही होता है। इसलिये उनकी उपयोगिता अविद्यावस्था में ही समझनी चाहिए।

****

जिज्ञासा :- क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।(गीता - १५.१६) यहाँ अक्षर शब्द का क्या तात्पर्य है?

समाधान :- इससे पहले कहा - **द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।** बाद में कहा - **...उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः। (१७)** यहाँ पर क्षर और अक्षर इन दोनों को पुरुष कहा। फिर कहा इन दोनों से एक अन्य है। वह है पुरुषोत्तम। क्षर क्या है? सभी भूतजात को क्षर कहा। अक्षर क्या है? तब कहा - **कूटस्थोऽक्षर उच्यते।** कूटस्थ के विषय में मतभेद है। कुछ लोग कूटस्थ का अर्थ कारण(अविद्या) करते हैं तो कुछ लोग जीवात्मा मानते हैं। भाष्यकार भगवान् ने कूटस्थ का अर्थ अविद्या ही माना है। इसलिये यही उचित लगता है। पुरुषोत्तम के अर्थ में तो कोई विवाद नहीं है। वह तो सभी ने परमात्मा को ही माना है।

****

जिज्ञासा :- कठोपनिषद् में **तद् विष्णोः परमं पदम्(१.३.९)** इन शब्दों से जिसका वर्णन आता है वह पद क्या है? विष्णु शब्द का वहाँ क्या अर्थ है?

समाधान :- वहाँ इस परम पद को कार्य-कारण से परे बताया है

अर्थात् वह पद माया से भी परे है। यह भी कहा कि ज्ञानी लोग उस पद को प्राप्त करते हैं। ऐसा पद तो आत्मा ही है। इसलिये आत्मतत्त्व को ही वह परम पद शब्द से कहा है। यहाँ विष्णु का अर्थ चतुर्भुज सगुण-साकार विग्रह नहीं है। **विष्णोः** यहाँ षष्ठी विभक्ति अभेदार्थ में है, अर्थात् जो विष्णु है वही परम पद है। अतः विष्णु शब्द से भी आत्मा को ही कहा है।

****

जिज्ञासा :- ब्रह्मसूत्र के अध्यास-भाष्य में एक पंक्ति है -**सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।** यह अनृत शब्द का क्या अर्थ है और सत्य एवं अनृत के मिथुनीकरण का क्या तात्पर्य है?

समाधान :- अनृत शब्द का प्रसिद्ध अर्थ है- **झूठ**। परन्तु आप इस पंक्ति का अर्थ यह समझ लें कि संसार का व्यवहार झूठ और सच को मिलाकर ही चलता है, व्यवहार में झूठ बोलना ही पड़ता है इसलिये उसमें कोई पाप नहीं, तो यह भ्रमात्मक समझ है क्योंकि यह इस पंक्ति का अर्थ नहीं है। इसका ठीक अर्थ समझने का प्रयास करते हैं।

एक तो शुद्ध चेतन है जिसमें व्यवहार सम्भव ही नहीं है। शास्त्र कहता है - **असङ्गो हि अयं पुरुषः।(बृह.उप.-४.३.१५)** असङ्ग पुरुष में कर्तृत्व, भोक्तृत्व का व्यवहार हो ही नहीं सकता। प्रकृति जड़ है उसमें भी कर्तृत्व, भोक्तृत्व नहीं रह सकता। प्रकृति में क्रिया होती है पर कर्तृत्व नहीं होता क्योंकि उसमें ज्ञान नहीं है। जैसे पंखे में क्रिया है परन्तु 'मैं कर रहा हूँ' ऐसा ज्ञान न होने से उसमें कर्तृत्व नहीं होता। पुरुष में ज्ञान है पर क्रिया नहीं है इसलिये वहाँ भी कर्तृत्व नहीं है। पुरुष को भोग का ज्ञान तो होगा पर असङ्ग होने के कारण उसके साथ सम्बन्ध नहीं बनेगा, तब भोक्तृत्व कैसे आयेगा। फिर व्यवहार कैसे चलता है? यह एक समस्या है।

इसे विद्युत के दृष्टान्त से समझिए - विद्युत और उपकरण को मिलाकर ही सारा व्यवहार करना पड़ता है। आप बल्ब आदि उपकरण मत लगाओ तो तार में बहने वाली विद्युत से कोई व्यवहार नहीं होगा और बल्ब

लगा दो परन्तु उसका विद्युत से सम्बन्ध मत बनाओ तो वह जल नहीं सकता। दोनों का जब सम्बन्ध होता है तभी व्यवहार की प्रतीति होती है। ऐसा होने पर भी उपकरण विद्युत नहीं है और विद्युत उपकरण नहीं है।

हमारे साथ भी यही स्थिति है। जो भी व्यवहार चल रहा है उसके कर्ता आप अर्थात् चेतन ही बन रहे हैं। 'मैंने यह किया, मैं ऐसा काम कर दूँगा, मैंने पहले पाप किया है पर अब पुण्य ही करूँगा', यह सब आप के अन्दर ही आता है। परन्तु बुद्धि से शरीरपर्यन्त जो कार्यकरणसंघात है उसके बिना आप में कोई व्यवहार सम्भव नहीं है। सारा क्रियात्मक व्यवहार इस संघातरूपी प्रकृति में ही होता है और उसका आरोप पुरुष में हो जाता है। प्रकृति भी जड़ है, बिना पुरुष के उसमें व्यवहार नहीं हो सकता। इन दोनों को मिलाकर ही सारा व्यवहार चलता है।

अब विचार करें कि व्यवहार में सच क्या है और झूठ क्या है? आप ही सच हैं। जो आपका शुद्ध **मैं** (चेतन) है वही सत्य है क्योंकि वह तीनों काल में एक समान रहता है। बुद्धि से शरीरपर्यन्त जो आपका **मैं** जुड़ा है यही अनृत(झूठ) है क्योंकि इसका बाध होता है। आप कहेंगे 'मैं जाता हूँ।' पर जब आप शरीर हो ही नहीं सकते तो कौन जाता है? आपका यह **मैं** बाधित हो गया। स्थूल और सूक्ष्म शरीरों में जो **मैं** का सम्बन्ध बन रहा है यह अनृत सम्बन्ध है। पर यह भी आपके आधार पर टिका है। आप सत्य हैं और यह संघात अनृत है। आपने जो अपने **मैं** को संघात के साथ जोड़ लिया, यही सच और झूठ का घाल-मेल(मिथुनीकरण) है। इसी से सारा व्यवहार चलता है। चाहे वैदिक व्यवहार हो चाहे लौकिक, चाहे साधक का व्यवहार हो अथवा असाधक का, ज्ञानी में दिखने वाला हो चाहे अज्ञानी में होने वाला, सब का आधार यही है।

इतनी बात समझने की है कि ज्ञानी का व्यवहार नाटककार के समान होता है। नाटककार व्यवहार करता है पर पार्ट के साथ जुड़ता नहीं। उसका न राजा के पार्ट से सम्बन्ध है और न सिपाही के पार्ट से। उसका सारा व्यवहार बाधित है। इतना होने पर भी जब तक वह पार्ट के साथ अपने **मैं** को मिलाएगा

नहीं तब तक व्यवहार नहीं कर पाएगा। सत्य और अनृत के मिथुनीकरण क यही तात्पर्य है। व्यवहार में झूठ चलता है ऐसी छूट भाष्यकार भगवान् ने नह दी है।

****

जिज्ञासा :- उपनिषदों में संसार की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति दोनों क एकसाथ कथन मिलता है। सृष्टि का भी कहीं पर पञ्चीकरण से तथा कहीं प त्रिवृत्करण से, कहीं क्रम से तो कहीं व्यतिक्रम रूप से कथन भी किया गया है इस प्रकार के कथनों से भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसका समाधान कैसे हो?

समाधान :- उपनिषदों के कथन का तात्पर्य जब तक नहीं समझते तब तक भ्रम की निवृत्ति कैसे होगी! उपनिषदों में जहाँ भी सृष्टि-प्रकरण आया है, वहाँ यह समझना चाहिए कि सृष्टि सिद्ध करना लक्ष्य नहीं है, अपितु जो सृष्टि शब्द मन में बस गया है, उसे निकालना लक्ष्य है। कोई शंका करे कि निकालने के लिए उसे स्वीकार क्यों करना! स्वीकार इसलिए करना पड़ता है कि यह संसार प्रत्यक्ष दिखता है। यदि श्रुति एकाएक कह दे कि यह उत्पन्न नहीं हुआ तो कौन मानेगा! इसलिए इसे पहले स्वीकार करके फिर युक्ति के द्वारा मिथ्या सिद्ध करके मन से निकालना ही उपनिषद्-वचनों का तात्पर्य है। कोई शंका करे कि उत्पन्न नहीं हुआ, ऐसा क्यों स्वीकारना? इसका समाधान है कि संसार का आत्मा के साथ कार्य-कारण-सम्बन्ध ही नहीं बन सकता। इसलिए ऐसा कहना पड़ता है।

एक राजा का लड़का था। उसने एक दिन स्वप्न देखा कि मेरे मुख में साँप घुस गया। जब वह उठा तो पेट में दर्द होने लगा। बहुत दवाई की, पर कोई लाभ नहीं हुआ। अन्त में एक महात्मा के पास उसे ले गए। महात्मा ने एकान्त में उससे पूछा, ''क्या तुमको पहले कभी कोई स्वप्न हुआ था?'' बालक ने कहा, ''महाराज! कुछ दिन पहले एक स्वप्न हुआ जिसमें मेरे मुख में साँप घुस गया।'' महात्मा समस्या समझ गए कि जो स्वप्न में देखा उसे इसने सत्य समझ लिया। फिर कहा, ''थोड़ा लेट जाओ।'' बालक लेटा तो

महात्मा ने पेट पर हाथ रखकर कहा, ''दर्द यहाँ पर है?'' बालक ने हामी भरी। महात्मा बोले, ''देखो! यह उसका मुख मालूम पड़ रहा है और यह पूँछ। ओहो! लगता है बहुत कष्ट है। यह दवा से कैसे ठीक हो सकता है! इसके लिए साँप को या तो निकालना पड़ेगा या फिर अन्दर ही मारना पड़ेगा।'' ऐसा कहकर बालक को जुलाब दे दिया। अब तो बालक रात भर शौच ही जाता रहा।

उधर राजा को कहा किसी नौकर के द्वारा एक मरा साँप वहाँ डलवा दो, जहाँ बालक शौच जाता है। राजा ने ऐसा ही किया। सुबह जब बालक को पूछा, ''कुछ लाभ हुआ?'' बालक को अब तो समस्या दूसरी थी। पहलीवाली समस्या को तो वह भूल ही गया था। कहा, ''महाराज! पेट में दर्द तो नहीं हो रहा है, पर शौच रात भर जाता रहा।'' महात्मा ने कहा, ''चलो, देखते हैं शायद साँप बाहर निकल गया हो।'' वहाँ जाकर देखने पर मरा हुआ साँप पाया गया। बालक ने कहा, ''महाराज! यह देखो, निकल गया।'' महात्मा ने कहा, बस, अब समस्या समाप्त हो गई।

देखिए! न तो साँप घुसा और न ही निकला, पर समस्या उत्पन्न भी हुई और निवृत्त भी। ऐसी ही समस्या श्रुति के सामने भी है। इसलिए पहले कहा जगत् उत्पन्न हुआ है और इस क्रम से विस्तार को प्राप्त हुआ है। ऐसा करने से पाप होता है और वैसा करने से पुण्य होता है। उत्पत्ति के पहले भी था। किस रूप में था? आत्मरूप में था। फिर माया के द्वारा जगत्रूप में दिखने लगा। इस समय भी उसी रूप में है। फिर प्रलय होता है तो उसी (परमात्मा) में लीन हो जाता है। इस प्रकार विभिन्न युक्तियों के द्वारा समझाना पड़ता है। सम्पूर्ण प्रक्रिया का तात्पर्य है - **अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते। (गीता शांकर भाष्य- १३.१३)**

परमात्मा में सृष्टि का आरोप और फिर निषेध करने से ही तत्त्व का ज्ञान सम्भव है। ऐतरेय उपनिषद् में भी शुरु किया - **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्** (१.१.१) से, और समाप्त किया- **प्रज्ञानं ब्रह्म** (३.१.३) में। अब कोई शंका करे कि इसकी उत्पत्ति क्रम में भेद देखने को क्यों मिलता है! तो

इसका समाधान है कि जो वस्तु केवल मायिक है, उसे चाहे इधर से कहें या उधर से, क्या अन्तर पड़ता है! चाहे पहले मिट्टी लाकर घड़ा बनाए या मिट्टी के बिना लाए ही घड़ा बनाए या घड़ा बनाकर पानी पीने वाले व्यक्ति को बनाए, क्या अन्तर पड़ता है! अब यहाँ कोई शंका करे कि जब पानी पीने वाला पहले नहीं था तो घड़ा बनाने की आवश्यकता क्यों हुई? इस प्रकार की शंका तो तब होती है, जब घड़ा वास्तविक हो। जब मायिक हो तो शंका के लिए स्थान ही नहीं रहता है। इसी प्रकार जब सृष्टि हुई ही नहीं तो प्रक्रियावाले चाहे उसे पञ्चीकरण से सिद्ध करें या त्रिवृत्करण से, इससे क्या अन्तर पड़ता है? शास्त्र का सृष्टि में कोई तात्पर्य नहीं है।

वस्तुतः तो आत्मा शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव है; बस, यही समझना है। ज्यादा प्रक्रिया में उलझने में कोई लाभ नहीं है। मुख्य तत्त्व को ही समझने का प्रयास करना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- भामतीकार सुषुप्ति अवस्था में अभाववृत्ति को मानते हैं और विवरणकार वहाँ वृत्तित्रय मानते हैं। इस विरोधाभास का परिहार कैसे हो सकता है?

समाधान :- इन दोनों मतों में विरोधाभास है ही नहीं, इसलिए परिहार की आवश्यकता भी नहीं है। सुषुप्ति में वृत्ति का अभाव कहने में भामतीकार का तात्पर्य यही है कि जाग्रत और स्वप्न के समान वहाँ विशिष्ट वृत्ति नहीं है।

विवरणकार सुषुप्ति में तीन वृत्तियाँ मानते हैं - **आत्माकारवृत्ति, सुखाकारवृत्ति तथा अज्ञानवृत्ति,** इसका विरोध तो भामतीकार नहीं करते हैं। अपने अनुभव के द्वारा भी देखना चाहिए कि जागने के पश्चात् कोई ऐसा नहीं कहता कि मैं नहीं था। इसलिए वहाँ आत्माकारवृत्ति सिद्ध होती है और सभी का एक ही अनुभव होता है कि मैं सुख से सोया। इससे सुखाकारवृत्ति भी माननी पड़ेगी। साथ-साथ सभी को यह अनुभव होता है कि सुषुप्ति के समय मैंने कुछ भी नहीं जाना। इसीलिए अज्ञानवृत्ति भी माननी पड़ेगी।

तात्पर्य यह है कि जाग्रत के समान विशिष्ट साक्षीभाव होकर नहीं जाना,

पर यदि किसी भी रूप में जानना नहीं होता तो जागने पर स्मृति भी नहीं होती कि **'मैं सुख से सोया'** क्योंकि स्मृति अनुभवपूर्विका ही होती है। इसलिए वहाँ किसी-न-किसी रूप में अनुभव मानना ही पड़ेगा। अतः दोनों के मत में विरोधाभास नहीं है, अपितु कथन की प्रणाली भिन्न है।

****

जिज्ञासा :- यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति... (बृह. उप.- ४.४.२३)- यहाँ पर कहा है सुषुप्ति में वह नहीं देखता हुआ भी देखता है। यदि वह देखता है तो नहीं देखता हुआ कैसे कहा? यदि नहीं देखता है तो उसमें नित्यद्रष्टृत्व कैसे रहेगा?

समाधान :- इस मन्त्र में आगे कहा है **- न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद् (४.४.२३)।** अर्थात् द्रष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता है, वह अविनाशी होती है। सुषुप्ति में द्रष्टा नहीं देखता है, इसमें कारण यही है कि उसके अतिरिक्त वहाँ कोई वस्तु ही नहीं है, जिसे वह देखे। वेदान्त को हमेशा वेदान्त की दृष्टि से ही समझना पड़ता है। शक्ति को कार्यानुमेया ही समझना चाहिए। अर्थात् शक्ति का ज्ञान कार्य रूप में परिणत होने पर ही होता है। पर वह शक्ति कार्यरूप में परिणत होने से पहले भी वहाँ थी, भले ही उसको कोई नहीं जानता था।

दूसरी बात, जैसे सूर्य नित्य है तो सूर्य का प्रकाश भी नित्य ही मानना पड़ेगा क्योंकि प्रकाश उसका स्वरूप है। वह अलग नहीं हो सकता है। व्यवहार में लोग भले ही कहे कि सूर्य प्रकाश करता है, पर वस्तुतः वह इस प्रकार की क्रिया का कर्ता नहीं बनता है। उसकी उपस्थिति मात्र से वस्तु प्रकाशित होती है। सूर्य के प्रकाश का ज्ञान हमें उसके प्रतिफलित होने पर ही होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्रतिफलन के पहले सूर्य में प्रकाश नहीं था।

तीसरी बात, दृश्य रहेगा तो द्रष्टा से प्रकाशित होगा। यदि नहीं रहेगा तो प्रकाशित नहीं होगा। पर तब भी उसकी प्रकाशरूपता की कोई हानि नहीं होती है क्योंकि दृश्य नहीं है तो वह दृश्य-अभाव को प्रकाशित करेगा। इसलिए उसके नित्यद्रष्टृत्व का अभाव नहीं होता है।

जिज्ञासा :- द्रष्टा (ब्रह्म) की दृष्टि (शक्ति) को पारमार्थिक मानें तो फिर माया का अध्यारोप-अपवाद करने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान :- जैसे विद्युत में प्रकाश है, पर उसको अभिव्यक्त करने के लिए बल्ब की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार माया के बिना द्रष्टा (ब्रह्म) की दृष्टि (शक्ति) की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। यदि सृष्टि की व्यवस्था नहीं करनी है - **एकमेवाद्वितीयम्** में ही रहना है तो माया की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। अब शंका करो कि अच्छा मान लिया तो अपवाद क्यों करना ? अपवाद इसलिए करना कि वह है ही नहीं। जैसे प्रकाश उपकरण का धर्म नहीं है, उसे विद्युत का धर्म बताना है तो यह कहना पड़ेगा बल्ब विद्युत नहीं है, पंखा भी विद्युत नहीं है क्योंकि यदि इनका निषेध नहीं करेंगे तो कोई इनको ही विद्युत समझ लेगा। पर हमको तो बल्ब में रहनेवाले प्रकाश को विद्युत का धर्म कहना है। इसी प्रकार सच्चिदानन्द परमात्मा को समझाना है तो इन लौकिक (परिच्छिन्न) सत्-चित्-आनन्द (माया और उसके कार्य) का अपवाद करना ही पड़ेगा।

****

जिज्ञासा :- सूक्ष्मभूत और भूतसूक्ष्म में क्या अन्तर है ?

समाधान :- सूक्ष्मभूत तन्मात्रारूप हैं अर्थात् अपञ्चीकृत भूत हैं। भूतसूक्ष्म पञ्चीकृत स्थूलभूतों का अत्यन्त सूक्ष्म रूप है। जब जीव इस शरीर से दूसरे शरीर में जाता है तो सूक्ष्म-शरीर को ले जाने के लिए भूतसूक्ष्म की आवश्यकता होती है। सूक्ष्म-शरीर करणरूप है उसे कार्य करने के लिए कोई-न-कोई आधार चाहिए। सूक्ष्म-शरीर करणात्मक होने से शक्तिरूप है, उसे रहने के लिए कोई आधार चाहिए, उसके बिना वह बिखर जाएगा। मरणकाल में जब सूक्ष्म-शरीर स्थूल-शरीर को छोड़ देता है, उस समय सूक्ष्म-शरीर का आधार क्या रहेगा ? उस समय भूतसूक्ष्म ही उसका आधार बनता है। इन्हीं के सहारे सूक्ष्म-शरीर अगले स्थूल-शरीर में जाता है।

****

जिज्ञासा :- भूतसूक्ष्म को आगामी शरीर का आरम्भक (बीज) कहने का क्या आशय है ?

समाधान :- भूतसूक्ष्म को आगामी स्थूल-शरीर का उपादान मानते हैं। जैसे आपने किसी वृक्ष को छोड़ दिया पर उसका बीज रख लिया। उसे दूसरी जगह जाकर बो देंगे तो वृक्ष पैदा हो जाएगा। इसी प्रकार से पूर्व के स्थूल-शरीर से जो भूतसूक्ष्म आता है, वही अगले स्थूल-शरीर का उपादान बनता है। इसीलिए इसे आगामी शरीर का आरम्भक कहते हैं।

****

जिज्ञासा :- वेदान्त मत में कहे जाने वाले दृष्टि-सृष्टिवाद का तात्पर्य क्या है ?

समाधान :- दृष्टि-सृष्टिवाद का वर्णन वेदान्त के योगवासिष्ठ इत्यादि ग्रन्थों में मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो वस्तु जैसी आपको दिखाई दे रही है वैसी अन्य को भी दिखाई दे, यह आवश्यक नहीं है। व्यक्ति का जैसा संस्कार होता है उसी के अनुसार उसको वह वस्तु दिखाई देती है। इसलिए कोई ऐसा नहीं कह सकता है कि इस वस्तु का यही स्वरूप है। आप व्यवहार में भी देखिए – एक ही स्त्री पुत्र को माता दिखाई देती है, किसी कामी पुरुष को सुन्दरी दिखाई देती है, योगी को हाँड़-मांस की पुतली दिखाई देती है और बाघ को भोजन दिखाई देती है। अब बताइए उसका वास्तविक स्वरूप कौन-सा है ? दृष्टि-सृष्टिवाद प्रक्रिया सभी लोगों के समझ में नहीं आ सकती। इसके लिए तीव्र वैराग्य और अभ्यास की आवश्यकता है अन्यथा गलत समझ भी हो सकती है। इसलिए वेदान्त में कुछ ही जगह पर इसकी चर्चा मिलती है।

****

मन्त्र-विचार

जिज्ञासा :- मंत्रजप करते समय उसके अर्थचिन्तन की बात कही जाती है। ऐसे में निर्गुण-निराकार ब्रह्म के द्योतक प्रणव के अर्थ का क्या स्वरूप होगा?

समाधान :- पतञ्जलिजी महाराज ने भी ऐसा ही कहा है-

तज्जपस्तदर्थभावनम्(योगसूत्र-१.२८)।

प्रणव सविशेष(अपरब्रह्म) का वाचक है और निर्विशेष(परब्रह्म) का लक्षक है। इसलिये प्रणव का परब्रह्म और अपरब्रह्म दोनों के साथ सम्बन्ध है। अर्थात प्रणव का अर्थ परब्रह्म और अपरब्रह्म दोनों ही होता है। यदि आप अपरब्रह्म की उपासना करते हैं तो अपरब्रह्म के विषय में जो आपका ज्ञान है वही प्रणव का अर्थ हुआ। यदि आप परब्रह्म की उपासना करते हैं तो परब्रह्म के विषय में जो आपका ज्ञान है वही प्रणव का अर्थ होगा। अब यहाँ कोई शंका करे कि परब्रह्म का ज्ञान कैसा है? तो इसका निर्धारण शास्त्र में किया है। वहाँ से यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि अपरब्रह्म और परब्रह्म के साथ प्रणव की अभेद भावना करनी पड़ती है। यही प्रणव का अर्थचिन्तन है।

****

जिज्ञासा :- ऐसा सुना है कि गायत्रीमन्त्र को रात्रि में जपना निषिद्ध है। तो क्या इसे सूर्यास्त के बाद या सूर्योदय के पहले नहीं जपना चाहिए?

समाधान :- ऐसा तो शास्त्र में कहीं निषेध नहीं किया है कि सूर्यास्त के बाद और सूर्योदय के पहले गायत्रीमन्त्र को नहीं जपना चाहिए। मान लो, आपको शाम की सन्ध्या करनी है जिसमें आपको ग्यारह सौ गायत्रीमन्त्र जप करना है। ऐसे में रात्रि तो हो ही जाएगी। आकाश में नक्षत्र रहते हुए की गई सुबह की सन्ध्या को उत्तम बताया गया है। ऐसे में सूर्योदय से पहले गायत्रीमन्त्र के जप का निषेध कैसे कह सकते हैं! रात्रि में निषेध का मतलब यही है कि जैसे कुछ साधनाएं रात्रि में की जाती है उस प्रकार से गायत्री साधना नहीं करनी चाहिए। इसके लिये ब्रह्ममुहूर्त को

ही श्रेष्ठ बताया है।

****

जिज्ञासा :- रामचरितमानस में लिखा है- **नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं (बाल.-२४.२)।** नाम तो लेते हैं फिर भी संसार से आसक्ति नहीं छूट रही है। ऐसा क्यों?

समाधान :- तुलसीदासजी जानते थे कि मेरी बात पर कोई विश्वास नहीं करेगा इसलिये आगे कहा - **करहु बिचारु सुजन मन माहीं।** आप सज्जन हैं थोड़ा विचार कीजिए। मैं तो अपने अनुभव की बात कह रहा हूँ।

आप व्यवहार में ही समझिए- एक बालक रो रहा है उसकी माता अपना काम कर रही है। बालक का एक रोना ऐसा है जिसे माता समझती है कि उसे कोई समस्या नहीं है, वह ऐसे ही रो रहा है। वह उसपर ध्यान न दे कर अपना काम करती रहती है। ज्यादा हुआ तो एक खिलौना फेंक देती है, वह चुप हो जाता है। उसी बालक का एक ऐसा रोना है, ऐसी चीख है जिसे सुनकर माता बरबस कूद पड़ती है। चाहे लाखों का नुकसान हो जाए, चाहे उसका पैर भी टूट जाए क्योंकि उसकी चीख-पुकार ही ऐसी है।

यही गणित भगवान् के यहाँ भी है। अभी तो हम इसलिये नाम ले रहे हैं कि एक रिवाज बन गया है नाम लेने का। परन्तु चाह रहे हैं जगत् को। गोस्वामीजी कहते हैं - **मोर दास कहाइ नर आसा करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा।(मानस उत्तर.-४५.२)** भगवान् का भक्त कहलाता है और आशा करता है कि जगत् ऐसा हो जाए तो सुखी हो जाऊँ। भक्त बनता है राम का और आशा करता है जगत् से, तो बताओ उसे भगवान् पर विश्वास कहाँ है। ऐसी स्थिति में नाम लेने से भवसिन्धु नहीं सूखता। पर देखो! मार्कण्डेय की एक पुकार सुनकर महादेव त्रिशूल ले कर खड़े हो गए, उनकी रक्षा की। उन्होंने जगत् के सारे आधार छोड़ दिए थे, इसीलिये नाम लेते ही भगवान् को आना पड़ा। व्यक्ति यदि जगत् का सारा आधार छोड़कर भगवान् का नाम ले तो संसारसागर उसी क्षण सूख जाएगा। नाम में अचिन्त्य शक्ति है। उसमें अविश्वास नहीं करना चाहिए।

****

साधकचर्या

जिज्ञासा :- आजकल आचार्य लोगों का आचरण भी कहीं-कहीं पर शास्त्रविरुद्ध दिखाई देता है। ऐसे में जिज्ञासु साधकों का क्या कर्तव्य है?

समाधान :- आचार्य का शास्त्रविरुद्ध आचरण दिखाई दे तो उनके प्रति लोगों की अश्रद्धा होना स्वाभाविक बात है। यहाँ तक कि गुरु का अशास्त्रीय आचरण देख कर शिष्य में भी मतभेद उत्पन्न हो जाता है। ऐसे में साधक का एक ही कर्तव्य है - उसे उसकी तरफ ध्यान नहीं देना चाहिए। दूसरी बात, वह क्यों कर रहा है यह बात अन्य तो कोई नहीं जानता। मान लो वह कोई अशास्त्रीय वस्तु भोजन के साथ ग्रहण कर रहा है तो हो सकता है किसी ने औषधि के रूप में उसे बताया है।

इस विषय में शास्त्र बहुत सावधान है। वह कहता है, 'यदि गुरु बनाना हो तो इन बातों पर पहले से ही अच्छी प्रकार से विचार कर लेना चाहिए क्योंकि यदि बाद में कहीं गुरु का आचरण देखकर आपको अश्रद्धा हो गई तो आपका परमार्थ-मार्ग ही अवरुद्ध हो जायेगा। तब आप क्या करोगे?' इसलिये शास्त्र ने आचार्य के लक्षण बताये हैं **- श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं।** वह शास्त्र के तात्पर्य को भली प्रकार से जानने वाला हो, शास्त्र के अनुसार आचरण करता हो तथा तत्त्व में निष्ठा रखता हो। अतः गुरु बनाने से पहले इन बातों पर विचार कर लेना चाहिए। यदि उपरोक्त लक्षण आपको किसी में पूर्ण रूप से दिखाई न दें तो अन्य लक्षणों के आधार पर उसे महापुरुष मान सकते हैं, ब्रह्मज्ञानी मान सकते हैं पर आचार्य नहीं।

मेरा कहना तो यही है कि आपको कहीं पर भी किसी में भी अश्रद्धा उत्पन्न करने वाला आचरण दिखाई दे तो वहाँ अपने मन को बहिर्मुख नहीं करना चाहिए। यदि आप साधक हैं तो अपने मन को अन्तर्मुख करके उसका

परीक्षण करना चाहिए कि हमारा मन शास्त्रीय व्यवहार कर रहा है कि अशास्त्रीय। तभी आप जीवन में आगे बढ़ेंगे। एक बालक भी यदि शास्त्र के अनुकूल और युक्तिसंगत बात कहे तो उस बात को महत्त्व देना चाहिए न कि उस बालक की आयु को।

****

जिज्ञासा :- कैसे परीक्षा करें जिससे जान सकें कि हम साधक हैं या नहीं?

समाधान :- साधक की सर्वप्रथम परीक्षा है कि वह किसी बाह्य घटना से अन्तर्मुख होता है या नहीं। यदि आप किसी घटना से अन्तर्मुख हुए तो समझो आप साधक हैं।

मान लो, आपको किसी ने गाली दी, उस समय यदि आपके अन्दर यह विचार आया कि मुझसे क्या गलती हुई है जिससे इसने हमें गाली दी। उस गलती को मुझे सुधारना चाहिए। फिर आपके अन्दर यह विचार आया कि इसके द्वारा दी गई गाली का मुझसे क्या सम्बन्ध है? किसी ने आपका कहना नहीं माना उस समय आप के अन्दर यदि यह विचार आता है कि इसने मेरा कहना क्यों नहीं माना। इसका मतलब मेरे ज्ञान में कोई कमी थी जिससे मैं इसे ठीक से कह नहीं पाया। इससे आपको अपने अन्दर का अज्ञान दिखाई देने लगेगा। आप उसे सुधारने का प्रयास करेंगे।

जब व्यक्ति इस प्रकार अन्तर्मुख होता है तो समझो वह साधक है। यदि वहाँ झगड़ा करने लगे कि इसने मुझे गाली क्यों दी, इसने मेरी बात क्यों नहीं मानी तो समझो अभी उसमें साधकत्व नहीं आया।

****

जिज्ञासा :- नित्य पूजा के समय आवश्यकता पड़ने पर वार्तालाप कर सकते हैं या नहीं?

समाधान :- नित्य पूजा तन्मयता के साथ करनी चाहिए। उस समय किसी भी प्रकार की वार्तालाप का निषेध है। अब यदि कोई कहे - ''बहुत

आवश्यक बात हो तो?'' फिर तो उसको ही विचार करना पड़ेगा कि वह पूजा को महत्त्व देता है या वार्तालाप को।

आजकल तो यह फोन ही बहुत बड़ी आफत है। व्यक्ति दस मिनट के लिये भजन करने बैठता है तो भी मोबाईल फोन पास में रखकर बैठ जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि भजन के प्रति आपका कोई विशेष महत्त्व नहीं है, फोन के प्रति है। ऐसे में वह क्या भजन-पूजन कर सकता है।

पूजा का सम्बन्ध अध्यात्म से है, परलोक से है। पूजा से अधिक महत्त्व वार्तालाप को देने का तात्पर्य है कि परलोक या अध्यात्म का आपके जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। इस भय को मन से निकाल देना चाहिए कि फोन आ गया या कोई व्यक्ति आ गया और हमने बात नहीं की तो हमारा कार्य बिगड़ जाएगा। क्या आपका भजन उस फोन से कमज़ोर है? मेरे जीवन का अनुभव है - जब यहाँ आश्रम में ट्रस्टी लोगों ने फोन लगाने की बात की तो मैंने कहा - ''फोन लगा सकते हो पर मेरी दो शर्तें हैं! मुझे कभी फोन की घण्टी सुनाई नहीं देनी चाहिए और न ही मुझे कोई फोन पर बात करने बुलाएगा।''

लोगों ने बात मान ली और फोन लग गया। पर मैंने अपने जीवन में कभी भी किसी से फोन पर बात नहीं की। इस नियम से मेरे जीवन में किसी प्रकार की कोई रुकावट नहीं आई। व्यवहार भी ठीक चलता रहा। कई आश्रमों की जिम्मेदारी ठीक प्रकार से निभाई। इसलिये इस भ्रम को मन से निकाल देना चाहिए कि भजन के समय वार्तालाप नहीं करेंगे या फोन नहीं उठाएंगे तो कार्य बिगड़ जाएगा। तुम भगवान् के सामने बैठे हो, तुम्हारा कार्य कैसे बिगड़ेगा?

****

जिज्ञासा :- जितेन्द्रिय कैसे बनें?

समाधान :- जिस पर आपको विजय प्राप्त करनी होती है उसके स्वरूप और बल के विषय में पहले जानना चाहिए। इसलिये यदि आपको इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना है, उनपर नियन्त्रण करना है तो इन्द्रियों के

स्वरूप के विषय में जान लेना चाहिए। इन्द्रियाँ करण हैं। करण का अर्थ होता है - जो किसी क्रिया में कर्ता का सहायक बने। हम जो भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध का अनुभव करते हैं वह ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से करते हैं। इसी प्रकार बोलना, लेना-देना, चलना, मल-मूत्र त्यागना इत्यादि कर्मेन्द्रियों की सहायता से करते हैं। मन से संकल्प करते हैं और बुद्धि से निर्णय करते हैं। इस प्रकार ये सभी करण हैं।

शास्त्र कहता है - यह शरीर रथ के समान है। इन्द्रियाँ घोड़ों के समान हैं। जैसे घोड़ा रथ को खींचता है वैसे ही इन्द्रियों के माध्यम से आपका शरीर चलता है। मन को लगाम बताया जाता है और बुद्धि को सारथि। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंधरूपी विषय मार्ग पर यह शरीर-रथ चलता है। यहाँ पर समस्या इसलिये हो जाती है कि हम रथ को ही अपना स्वरूप मान लेते हैं इसलिये विचार नहीं कर पाते। विचार करने के लिये पहले अपने को रथ से अलग मानना पड़ेगा। तभी इन्द्रियरूपी घोड़ों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। यदि आप ही रथ बन गए तो जीतने का संकल्प कौन करेगा? पहले तो यह मानना पड़ेगा कि इस रथ का मुख्य स्वामी परमेश्वर है और उसने हमें व्यवहार करने के लिये यह रथ दिया है। इसलिये हम इसके व्यावहारिक स्वामी हैं। यह रथ किसलिये दिया है? जिससे हम अपनी उन्नति कर सकें और संसारसागर को पार कर सकें। विचार कीजिए इतने बड़े कार्य को पूरा करने के लिये दिया है।

अब यह निर्णय आप की बुद्धि को करना है कि आप संसारसागर से पार होना चाहते हैं या नहीं। यदि नहीं होना चाहते तो विचार करने की आवश्यकता ही नहीं। पार होना चाहते हैं तो विचार करना पड़ेगा। जैसे घोड़े सिखाए न गए हों तो वे मार्ग पर चल नहीं सकते। वे आपको किसी भी समय गड्ढे में गिरा सकते हैं। यदि सिखाए हों और सारथि के नियन्त्रण में हों तो गन्तव्य स्थान तक पहुँचा देते हैं। यही स्थिति आपकी इन्द्रियों की है। वे आपके नियन्त्रण में हैं तो आप अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं अन्यथा पता नहीं कब किसी गड्ढे में गिरा दें। यह नियन्त्रण बुद्धि से ही करना है। जैसे मान

लीजिए आप को भूख लगी है, आप के सामने लड्डू आ गए तो आपके मन में उन्हें खाने की इच्छा उत्पन्न हो गई। उसी समय आप को ज्ञान हो जाए कि इसमें विष है तो आप नहीं खाएंगे। वह निर्णय बुद्धि में ही हुआ।

कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञानेन्द्रियाँ जो शब्दादि विषयों का ग्रहण कर रही हैं उसका बुद्धि में निर्णय ठीक से नहीं हुआ तो लक्ष्य भी ठीक नहीं बनेगा। इसलिये जिसको संसार के विषयों में रस मिल रहा है उसके विषय में किसी प्रकार की शंका नहीं कि वह इन्द्रियनिग्रह नहीं कर सकता। उसे तो इन्द्रियों में दोष ही दिखाई नहीं दे रहा है तो वह उनका नियन्त्रण क्यों करेगा? इसलिये वह जैसा मन कहता है वैसा करता है। शास्त्र कहता है - जब तक आप जगत् की परीक्षा नहीं कर लेंगे तब तक उसमें रस दिखेगा ही। ऐसे में आप उससे सम्बन्ध नहीं तोड़ सकते। लेकिन जिस दिन यह विचार आ जाएगा कि इतने दिन से जैसा मन माँग रहा है वैसा इसे खिला रहा हूँ, रबड़ी खिला रहा हूँ, दूध पिला रहा हूँ फिर तृप्ति क्यों नहीं हो रही है? खाने-पीने की प्यास बढ़ती ही क्यों जा रही है? इसका मतलब कोई धोखा हो रहा है! रूप देखते-देखते आँखें जवाब दे गई, पर रूप देखने की इच्छा समाप्त नहीं हुई। जरूर कोई धोखा हो रहा है। यह परीक्षा बुद्धि से ही करनी पड़ेगी। पर इसके लिये सबसे पहले व्यक्ति को शास्त्रदृष्टि वाला होना चाहिए। इससे पहले तो उसका जीवन प्रकृति से परिचालित होता है। ऐसे में उसकी बुद्धि भी निर्णय ठीक नहीं कर सकेगी। जब वह शास्त्रदृष्टि वाला हो जाता है तो कोई भी निर्णय लेने से पहले यह विचार करता है कि शास्त्र इसका समर्थन करता है अथवा नहीं।

यद्यपि शास्त्र हमारे हृदय में भी है पर उसकी सुनता कौन है! शास्त्र कहता है सत्य बोलो, उस समय आपके हृदय से भी आवाज आनी चाहिए कि सत्य बोलना हमारा स्वभाव है, झूठ के लिये कोई निमित्त चाहिए। तब शास्त्र और हृदय का मिलान हो जाएगा। फिर दिखेगा कि शास्त्र जो कहता है वही उचित है, वही न्याय है और वही हमारे हित में है। इस प्रकार जब उसे शास्त्रवचन में हित दिखेगा तब अहित की ओर प्रवृत्त नहीं होगा। इसलिये

शास्त्रीय दृष्टि ग्रहण किए बिना, इन्द्रियों की जो बहिर्मुख होने की आदत हो गई है उसे आप दूर नहीं कर सकते।

आप किसी मार्ग से जा रहे हैं, बीच में कहीं किसी के दस लाख रुपये पड़े दिखाई दिए। आप के मन ने कहा उठा लो। उसी समय आपके हृदय में बैठे शास्त्र ने कहा - यह उचित नहीं है। अब यदि शास्त्र प्रधान हो जाएगा तो जो इन्द्रिय रुपये उठाने में प्रवृत्त हो गई थी वह रुक जाएगी। यदि हृदयपक्ष प्रबल नहीं हुआ तो मन कहेगा उठा लो कहीं काम आएंगे, तब आप उठा लेंगे। पर आप अन्दर से जानते हैं कि यह गलत है। इसलिये छुपाने में लग जाएंगे, बचने के लिये झूठ भी बोल देंगे। एक गलती को छुपाने के लिये दुनिया भर की गलतियाँ करेंगे। इसलिये व्यक्ति पहले शास्त्रदृष्टि वाला हो, बुद्धि में निर्णय ठीक हो तभी इन्द्रियसंयम का अभ्यास कर सकता है। यदि ऐसा नहीं हो रहा है तो विचार करना ही चाहिए कि हमारी इन्द्रियाँ जो हमारे करण हैं हमारे वश में क्यों नहीं हैं? दोष कहाँ है? उसको जानकर जब उसे हटाएंगे तब आप जितेन्द्रिय बन जाएंगे।

****

जिज्ञासा :- मैं एक वृद्ध हूँ, अधिक पढ़ा-लिखा भी नहीं हूँ। ऐसे में मुझे तपस्या किस प्रकार करनी चाहिए।

समाधान :- सर्वप्रथम तो जो परिस्थिति सामने आवे उसे परमात्मा का उपहार समझकर हाय-हाय किये बिना सहन करो। मन और इन्द्रिय का निग्रह तो चाहे जवान हो चाहे वृद्ध, करना ही पड़ेगा। शरीर वृद्ध होता है, इन्द्रियाँ और मन वृद्ध नहीं होते। इसलिये उनपर विश्वास किये बिना ध्यान रखना पड़ेगा। इसके साथ-साथ जितना सहन हो सके उतना तीर्थ-स्नान करें। रोजाना सम्भव न हो तो अमावस्या, पूर्णिमा इत्यादि पर्वों पर करें। आलस्य को किसी प्रकार से आश्रय न दें। किसी की निन्दा-स्तुति से प्रयास करके बचें। ये परमार्थ मार्ग में बहुत बड़े बाधक हैं। चौबीस घण्टे में कितना समय व्यर्थ जा रहा है इसका गणित लगाकर उस समय को संकुचित करें। अधिक से

अधिक समय जप-भजन और सत्संग में लगाएं। आप साधक हैं, आपका लक्ष्य परमार्थ है तो दुनिया भर की बातें करने की क्या जरूरत है। जितना आवश्यक हो, हमारे परमार्थ मार्ग में सहायक बनता हो उतना ही बोलें। इस प्रकार अन्य भी बहुत सी सावधानियाँ हैं जिनका पालन करते हुए अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। तब आप बहुत बड़ी तपस्या कर लेंगे।

****

जिज्ञासा :- उद्धरेद् आत्मना आत्मानम्।(गीता-६.५) यहाँ पर किस आत्मा के द्वारा किस आत्मा का उद्धार करने को कहा है ?

समाधान :- शास्त्र में आत्मा शब्द जहाँ भी आये समझ लेना चाहिए कि मेरी कथा चल रही है। समस्या यही हो जाती है कि हम लोग अपने से बाहर चले जाते हैं। 'आत्मा का उद्धार करो' इससे समझना चाहिए कि गीता कह रही है - **अपना उद्धार करो**। इसका मतलब आप कहीं फँसे हुए हैं। नहीं तो निकालने की बात गीता क्यों कहती ? अब यह जानना पड़ेगा कहाँ फँसे हैं। इसका समाधान है - आपका जो **मैं** है वह चेतन है। उसको आपने जड़ में फँसा दिया। **मैं** कहने पर शरीर ही आता है, जबकि **मैं** का अर्थ शरीर हो ही नहीं सकता। यह शरीर तो व्यवहार के लिये साधन है। आपने साधन को ही **मैं** मान लिया। इस प्रकार मानना ही अनेक दुःखों का कारण बन गया ? अब आप फँस गये।

यहाँ से निकलें कैसे ? तो कहा - फँसे आप स्वयं हैं तो निकलना भी आपको ही पड़ेगा। जो वस्तु अविचार से उपस्थित हुई हो उसके निवारण का उपाय विचार ही हो सकता है। इसलिये निष्काम कर्मयोग और उपासना से सुसंस्कृत हुई बुद्धि के द्वारा जब आप विचार करेंगे तब आपका **मैं** इस कार्यकरणसंघात से निकल कर शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाएगा। तब आप आत्मा के द्वारा आत्मा का उद्धार कर लेंगे।

****

जिज्ञासा :- साधक के लिये देह-शृंगार, अधिक पौष्टिक भोजन

आदि का निषेध क्यों किया जाता है ?

समाधान :- भाष्यकार भगवान् ने विवेक चूड़ामणि में कहा है -

शरीरपोषणार्थी सन् य आत्मानं दिदृक्षति।
ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तुं स इच्छति।। (८६)

जो दिन रात शरीर के पोषण में लगा हुआ है, कहीं बीमार न हो जाए, कहीं मर न जाए इसी चिन्ता में लगा रहता है और आत्मदर्शन भी करना चाहता है, उसकी दशा को भाष्यकार भगवान् एक दृष्टान्त से समझाते हैं। एक व्यक्ति नदी पार करना चाहता था। नदी के किनारे पर एक ग्राह (मगर) पड़ा था, उसने समझा यह कोई लकड़ी है, इससे मैं नदी पार कर जाऊँगा और वह उस पर बैठ गया। क्या वह कभी नदी पार कर पाएगा !

इसी प्रकार इस संसाररूपी नदी को पार करने में मुख्य बाधक देहाध्यास ही है। शरीर का अधिक पोषण तथा उसका शृंगार देहाध्यास को बढ़ाते ही हैं। इसलिये इन सबका साधक के लिये निषेध किया गया है।

****

जिज्ञासा :-

गीता के **निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या... (१५.५)** इस श्लोक के भाष्य में 'अध्यात्मनित्या' शब्द का अर्थ लिखा है **परमात्मस्वरूपालोचननित्याः तत्पराः**। आश्रम में रहने वाले साधु को काफी समय सेवा आदि व्यवहार करना पड़ता है। तब २४ घण्टे परमात्मस्वरूप का चिन्तन कैसे करे ?

समाधान :- इस श्लोक में ज्ञानी महापुरुष का लक्षण कहा गया है। ज्ञानी का तो शरीर से होने वाले किसी कर्म या व्यवहार से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता क्योंकि वह जिस ब्रह्मतत्त्व में प्रतिष्ठित है वह अक्रिय है। ज्ञानी शरीर आदि के व्यवहार को अपने में आरोपित नहीं करता। इसलिये उसका कोई व्यवहार उसके परमात्मचिन्तन में बाधक नहीं बन सकता। जैसे नाटक के पार्ट का कोई व्यवहार अभिनेता के वास्तविक ज्ञान में बाधक नहीं बनता।

हाँ! साधक के लिये भी गीता में भगवान् ने ज्ञान के साधनरूप से **अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्** को कहा है। साधक के लिये अवश्य समस्या है क्योंकि वह जिस मन से व्यवहार करता है उसी मन से उसे निरन्तर परमात्मचिन्तन का अभ्यास करना पड़ेगा। इसमें भी जो साधक विविदिषु संन्यासी है, जिसने पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा तीनों को त्याग दिया है, भिक्षावृत्ति से जीवननिर्वाह करता है और निरन्तर परमात्म-चिन्तन करता है उसके लिये यह समस्या नहीं आएगी क्योंकि उसने व्यवहार ही छोड़ दिया है।

जो साधक इस प्रकार के चिन्तन की निष्ठा में जीवन नहीं बिता पा रहा है, जिसके अन्दर इस प्रकार का बल नहीं है उसके लिये यह समस्या आती है। भोजन बनाते समय साक्षी भाव तो रहेगा नहीं, मैं भोजन बना रहा हूँ यह भाव रहेगा। उस समय यदि साक्षी भाव में केन्द्रित रहे तो भोजन ही बिगड़ जाएगा। आटा लेकर बैठे तो रोटी सेंकना ही भूल जाएगा। बड़ी जटिल समस्या है! इस समस्या के लिये दो उपाय हैं-

(१) इस प्रकार का अभ्यास करता रहे जिससे कर्म के साथ वास्तविक सम्बन्ध मालूम न हो, अथवा

(२) उसका प्रत्येक कर्म **स्व** से सम्बन्धित न रह कर ईश्वर से सम्बन्धित हो जाए। निरन्तर ध्यान रखे कि इस कार्यकरण-संघात को बनाने वाला ईश्वर है, उसने यह कर्तव्य दिया है, उसकी शक्ति से मैं इसे पूरा कर रहा हूँ।

ऐसे साधक का जीवन ईश्वर-प्रणिधान के आधार पर चलता है। जहाँ उसे सत्संग, वेदान्तश्रवण तथा चिन्तन की सुविधा मिलेगी वहाँ रहेगा। वहाँ जो कुछ कर्तव्य आएगा उसे गुरुसेवा अथवा ईश्वर की पूजा मान कर करेगा तो उसका सीधा सम्बन्ध उससे नहीं बनेगा। बाकी समय वह अध्यात्मचिन्तन में लगा रहेगा तो वही संस्कार उसे २४ घण्टे सम्भालेगा। इस प्रकार धीरे-धीरे व्यवहारकाल में भी उसका चिन्तन बना रहेगा। यदि साधक प्रत्येक व्यवहार को ईश्वर या गुरु से सम्बन्धित करने में समर्थ हो जाएगा तो उसका व्यवहार

से सम्बन्ध ही टूट जाएगा। जैसे हाथ-पैर स्वाभाविक हिलते हैं ऐसे ही उसके लिये व्यवहार स्वाभाविक हो जाएगा। हमारे अनुभव के अनुसार तो यही एक उपाय दिखाई देता है, साधक यदि निरन्तर इसे अपनाता है तो उसको धीरे-धीरे अध्यात्मज्ञाननित्यत्व का अनुभव हो जाएगा।

****

जिज्ञासा :- आश्रम में रहकर सेवा करने वाले साधुओं को अपना व्यवहार कैसा रखना चाहिए जिससे वे लक्ष्य की ओर बढ़ सकें?

समाधान :- साधुओं को चाहिए कि सचाई को कभी न भूलें क्योंकि हम सत्य के उपासक हैं। हम तो कई बार आश्रम के प्रबन्धक सन्तों को भी कहते थे कि व्यवहार में तो विषमता रहती ही है, परन्तु हम आत्म-उपासक हैं, कभी किसी को थप्पड़ भी मारना पड़े तो अपने से बाहर करके नहीं मारना। अरे! कभी अपनी अंगुली काटनी पड़ती है, पर शत्रुता से नहीं शरीर के हित की दृष्टि से काटते हैं। इसी प्रकार हम आत्म-उपासक हैं, सब हमारी आत्मा हैं। इसलिये हमारे मन में कभी विषमता नहीं आनी चाहिए। हम अपने लक्ष्य को न भूलते हुए सावधानी से व्यवहार करेंगे तो व्यवहार हमें स्पर्श नहीं कर पाएगा। यह कला भी व्यवहार करके ही मिलेगी क्योंकि साधु बनने से पहले तो हमने इस दृष्टि से व्यवहार किया नहीं था।

हमारे महाराजश्री कहते थे, **ईश्वर से साचे रहो और सद्गुरु से सद्भाव**। साधक को हमेशा यह समझना चाहिए कि ईश्वर हमारी एक-एक चेष्टा को, एक-एक संकल्प को जानता है। साथ ही गुरु से कभी कुछ भी छुपाना नहीं चाहिए क्योंकि गुरु से छुपाओगे तो दोष दूर कैसे होगा? इस प्रकार संसार में अपने पार्ट को पूरा करो।

****

जिज्ञासा :- गीता में भगवान् ने कहा है - **बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।**(७.१९) क्या एक जन्म में ज्ञान नहीं हो सकता?

समाधान :- अरे भाई! साधक की व्यवस्था कोई एक जन्म में नहीं

होती है, उसमें अनेक जन्म लगते हैं। यदि पूर्वजन्म का संस्कार नहीं है तो व्यक्ति को अध्यात्मविषयक जिज्ञासा ही कैसे होगी? साधक का विकास क्रमिक होता है, उसके सभी पूर्व संस्कार साथ में आते हैं। सत्संग का भी संस्कार रहता है और जगत् का भी, दोनों साथ-साथ चलते हैं। धीरे-धीरे सत्संग के संस्कारों का बल बढ़ता जाता है। इसका कारण यह है कि असत् का संस्कार सत् के संस्कार को ढ़क तो सकता है पर नष्ट नहीं कर सकता। जबकि सत् का संस्कार बलवान् होने पर असत् के संस्कार को नष्ट कर देता है।

साधक के सत्-संस्कार प्रबल होने पर अगले जन्म में प्रारम्भ से ही उसका अध्यात्म की ओर झुकाव रहता है, उसमें संसार की वासना रहती ही नहीं है। उसका शम, दम, उपरति आदि स्वाभाविक ही सिद्ध हो जाता है क्योंकि मन और इन्द्रियों को तो संसार ही खींचता है, पर उसमें तो संसार का आकर्षण है ही नहीं। वह मोक्ष के लिये ही छटपटाता है, इसलिये वह ज्ञान को प्राप्त कर ही लेगा। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। जब ज्ञान प्राप्त करेगा तो समझेगा - **वासुदेवः सर्वम्।**

****

जिज्ञासा :- नैष्ठिक ब्रह्मचारी किसे कहते हैं? वह गैरिक वस्त्र क्यों पहनता है?

समाधान :- हमारे यहाँ शास्त्रीय परम्परा में दो प्रकार के ब्रह्मचारी होते हैं - **उपकुर्वाण** और **नैष्ठिक।** जो गुरुकुल में विद्याध्ययन के लिये ब्रह्मचर्य का पालन करता है परन्तु समावर्तन संस्कार होने के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का इच्छुक है उसे **उपकुर्वाण** ब्रह्मचारी कहते हैं। वह मुख्य ब्रह्मचारी नहीं है क्योंकि उस ब्रह्मचर्य का विद्याध्ययन के साथ सम्बन्ध है, व्रत के साथ नहीं। एक ब्रह्मचारी ऐसा भी है जो समावर्तन संस्कार होने के बाद विचार करता है कि मैं गृहस्थाश्रम स्वीकार करके जगत् में क्यों फँसूं? मनुष्य शरीर मिला है तो मैं स्वाध्याय करूँगा, भजन करूँगा। वह **नैष्ठिक** ब्रह्मचारी कहलाता है क्योंकि ब्रह्मचर्यपालन में उसकी निष्ठा हो गई है।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिये गैरिक वस्त्र पहनना कोई अनिवार्यता नहीं है। वह चाहे तो सफेद वस्त्र पहन सकता है। पर प्रायः वह गैरिक वस्त्र पहनता है क्योंकि इससे संन्यास की ओर बढ़ने की आन्तरिक प्रेरणा प्रबल होती है।

****

जिज्ञासा :- कल्याण प्राप्त करने का सहज उपाय क्या है?

समाधान :- महाभारत में कहा है -

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्।
एतावान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति।।(आश्वमेधिकपर्व-११.४)

जो अपना कल्याण चाहता है उसे इधर-उधर की बातों में उलझने की आवश्यकता नहीं है। यदि तुम्हारे व्यवहार में कहीं भी कुटिलता है तो समझो तुम मृत्यु अर्थात् जन्म-मरण के चक्र का वरण कर रहे हो। आजकल तो व्यवहार ऐसा हो गया है कि व्यक्ति दिखावे के बिना रह ही नहीं पाता। परन्तु यह ध्यान रखो कि तुम्हारे जीवन में थोड़ा भी दिखावा है तो तुम मृत्युपद में जा रहे हो।

तुम्हारा जीवन एकदम दिखावा-रहित हो जाए, कुटिलता से रहित हो जाए तो तुम ब्राह्मण हो जाओगे, ब्रह्मपद को प्राप्त कर लोगे। **एतावान् ज्ञानविषयः.....**, इतना ही जानने की और जानकर करने की जरूरत है, बहुत बकवाद करने से क्या फायदा है। कोई व्यक्ति जीवन को सभी प्राणियों के प्रति सरल-सहज बना ले तो वह ब्रह्मपद को प्राप्त होता है।

****

जिज्ञासा :- कोई साधक आश्रम की सेवा ही करे और जप न करे तो क्या उसका कल्याण हो सकता है?

समाधान :- वह साधक जप क्यों नहीं करता? सेवा करते समय मन कहीं-न-कहीं तो जाता ही होगा, उसे जप में लगा सकता है। आप कहो कि जप में मन लगाने पर सेवा ही बिगड़ जाती है तो पहले यहाँ से शुरू करो — सोचो कि हम भगवान् और गुरु की सेवा कर रहे हैं, ऐसा सोचने पर सेवा के

समय भगवान् और गुरु का स्मरण होगा। यदि आपके अन्दर पक्का निश्चय हो जाए कि भगवान् ने ही मुझे इस कार्य में नियुक्त किया है और मैं इसके द्वारा भगवान् की और गुरु की सेवा कर रहा हूँ तो आपको उनका स्मरण सेवा के समय होता रहेगा। गुरु का स्मरण आने पर मन्त्र का स्मरण भी आने लगेगा। उसपर आप ध्यान देंगे तो धीरे-धीरे आपके लिए वह सहज हो जाएगा। आपके विशेष ध्यान दिए बिना ही मन्त्रजप चलता रहेगा और आपकी सेवा में कोई विघ्न भी नहीं होगा।

****

जिज्ञासा :- साधक का सबसे बड़ा शत्रु कौन है?

समाधान :- आलस्य और प्रमाद से बढ़कर साधक का कोई शत्रु नहीं है। अपने कर्तव्य का भान न रहना **प्रमाद** है और कर्तव्य का भान होने पर भी तामस सुख के लोभ से उसे न करना **आलस्य** है। साधक को रोज रात्रि में सोने से पहले यह विचार करना चाहिए कि जो २४ घण्टे बीते उन्हें मैंने कर्तव्य में बिताया अथवा कहीं प्रमाद किया। सनत्कुमार ने धृतराष्ट्र से यही कहा था- **प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि।(सनत्सुजातीय-१.४)** शरीर छोड़ने का नाम मृत्यु नहीं है, प्रमाद ही मृत्यु है। अपने कर्तव्य को भूल जाना ही मृत्यु है।

मनुष्य शरीर किसलिये मिला है? **मैं** के अर्थ को तुम ठीक से जान लो, भगवद्-दर्शन कर लो इसी के लिये मिला है। दूसरे किसी शरीर में यह काम नहीं हो सकता। इस कर्तव्य को व्यक्ति भूल गया तो मृत्यु के मुख में जाएगा ही, जन्म-मरण का चक्र चलता रहेगा। आयु का एक क्षण हम करोड़ रुपये में भी नहीं खरीद सकते। इतना कीमती समय यदि प्रमाद से व्यर्थ जा रहा है तो इससे बड़ी हानि कोई नहीं हो सकती।

****

जिज्ञासा :- विवेक और वैराग्य को कैसे प्राप्त करें?

समाधान :- हमारा सिद्धान्त तो एक ही है। सचाई को झुठलाते रहोगे तो विवेक कभी प्राप्त नहीं हो सकता और जीवन में सचाई को स्वीकार करने

का अभ्यास बनाओगे तो विवेक प्राप्त हो जाएगा। जब विवेक प्राप्त हो जाएगा तो तुम जगत् को पढ़ने में समर्थ हो जाओगे। जगत् को पढ़ लोगे तो इससे वैराग्य हो जाएगा। स्कूल में ठीक से पढ़ लोगे, पास हो जाओगे तो स्कूल छूट जाएगा। जगत् को पढ़ोगे तो जगत् छूट जाएगा। हमलोग जगत् की परीक्षा ही नहीं करते। परीक्षा करोगे तो पता चलेगा कि यहाँ केवल धोखा है। तब मन एकदम से हट जाएगा।

नचिकेता ने यमराज से यही तो कहा था - **श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। (कठ उप. -१.१.२६)**

हे धर्मराजजी! आप हमें जो **विषय** दे रहे हैं ये तो शरीर, इन्द्रिय और मन के तेज को क्षीण करने वाले हैं। जो हमारे तेज को क्षीण करें ऐसी चीजें हमें क्यों दे रहे हैं। यदि नचिकेता जैसी समझ हमारी बन जाए तो जगत् से वैराग्य अवश्य हो जाएगा।

****

जिज्ञासा :- कार्यालय में कार्य करते हुए भगवान् को कैसे याद रखें?

समाधान :- तुम ऑफिस में काम करने जाते हो, उस समय घर में तुम्हारा लड़का बीमार हो तो मन में उसकी याद क्यों आती है? ऑफिस में पत्नी की याद क्यों आती है? एक सम्बन्ध तुम्हारे अन्दर बना है तभी याद आती है। जिसके प्रति जितना गहरा लगाव है उसकी उतनी ही अधिक याद आती है। यदि भगवान् से गहन सम्बन्ध हो जाए तो उनकी हमेशा याद आएगी। यह स्त्री-पुत्र का सम्बन्ध तो व्यावहारिक है, क्षणिक है। पिछले जन्म में भी तुमने ऐसे सम्बन्ध बनाए होंगे पर आज उनकी स्मृति भी नहीं है। जिस सम्बन्ध को आज बहुत बड़ा मान रहे हो वह एक दिन याद भी नहीं रहेगा।

भगवान् से तो तुम्हारा सनातन सम्बन्ध है। यह शरीर, यह आँख, यह बुद्धि सब उसने ही बना कर दिया है। इन्हीं को लेकर तुम कार्यालय में और बाहर भी अपना कार्य करने में सक्षम हो रहे हो। पिछले जन्मों में भी तुम्हारे शरीर की रचना उसी ने की थी और आगे के जन्मों में भी वही करेगा। तुम्हारे

प्राणों को वही चला रहा है, प्रतिक्षण तुम्हें चेतनता प्रदान कर रहा है। भगवान् से बड़ा हमारा सम्बन्धी और कौन हो सकता है। पर माया इसे भुला देती है। तुम इस बात को मन में बैठाओ कि जगत् से हमारा सम्बन्ध केवल व्यवहार के लिये है। हमारा पारमार्थिक सम्बन्ध तो परमेश्वर से ही है। इस सम्बन्ध को मन में मजबूत करोगे तो कार्यालय में भी उसकी याद बनी रहेगी।

****

जिज्ञासा :- सन्त लोग बताते हैं, "प्रातःकाल बैठकर भजन करना चाहिए"। गृहस्थी में जिम्मेदारी बढ़ने पर सुबह प्रायः समय नहीं मिलता। ऐसे में क्या करें?

समाधान :- आप लोगों ने व्यावहारिक कार्यों को अधिक महत्त्व दे दिया है और भजन को कम। इसीलिये भजन के लिये समय नहीं मिलता। भजन को महत्त्व देंगे तो उसके लिये समय अपने आप निकाल लेंगे। आपके सामने बहुत काम है और भोजन करने का समय हो गया तो क्या भोजन नहीं करोगे? कोई कहे कि हम भोजन छोड़कर काम ही करेंगे तब तो काम करने की शक्ति ही नहीं आएगी। जीवन में कौनसा काम अधिक महत्त्वपूर्ण है इस विषय में शास्त्रों में समझाया है -

शतं विहाय भोक्तव्यं सहस्रं स्नानमाचरेत्।

आपके सामने सैकड़ों काम पड़े हों और भोजन का समय हो जाए तो सब छोड़कर पहले शान्ति से भोजन कर लेना चाहिए। हजार काम भी आप के सामने हों पर स्नान-सन्ध्या का समय हो गया तो सब छोड़कर पहले स्नान करना चाहिए। स्नान से ही तनशुद्धि होती है।

आगे कहा - **लक्षं विहाय दातव्यं....** दान देने का निमित्त उपस्थित हो जाए तो चाहे लाखों काम तुम्हारे सामने हों फिर भी पहले दान दे दो फिर अन्य काम करो। धनशुद्धि दान से ही होगी। पर अन्तिम में बता दिया - **सर्वं त्यक्त्वा हरिं भजेत्।।**

सारे काम छोड़कर भी नियमित भजन के लिये तो समय निकालना ही

चाहिए। शास्त्र की आज्ञा तो यही है कि भगवद्भजन जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। उसके समय में यह काम कर लें, वह काम कर लें ऐसी बहानेबाजी नहीं करनी चाहिए। यदि कहो जानते हुए भी नहीं बैठ पाते, इसका अर्थ मन में कमजोरी है। मन को दृढ़ करना चाहिए। चलते-फिरते भजन करना भी अच्छा है पर वह नियमितरूप से एक निश्चित समय बैठकर किए जाने वाले भजन का विकल्प नहीं हो सकता। इसलिये सुबह जल्दी उठकर भजन तो करना ही चाहिए। यदि सुबह देर से भजन में बैठोगे तो मन नहीं लगेगा क्योंकि जितना प्रातःकाल का समय बढ़ता जाता है उतना ही मन में रजोगुण भी बढ़ता जाता है। इसीलिये ब्रह्ममुहूर्त का समय भजन के लिये श्रेष्ठ कहा है। सबसे मुख्य बात तो यह है कि शास्त्र जिस कार्य को जिस समय करने के लिये कहता है उसे उसी समय करना चाहिए, उसमें तर्क-वितर्क मत करो। उपाय यही है कि आप भजन का महत्त्व मन में बैठाएं।

****

जिज्ञासा :- साधक के व्यवहार करने की सीमा कहाँ तक होनी चाहिए? कौन-सी सावधानी बरते कि अनावश्यक व्यवहार कम होता जाए?

समाधान :- जितना व्यवहार उसके परमार्थ में सहायक बनता है, उतना ही करना चाहिए। ऐसा व्यवहार न करे जो बहिर्मुख बनानेवाला हो। पर साधक चाहे कि एक दिन में ही सावधान हो जाए, ऐसा तो कठिन है। पहले उसको प्रतिदिन सावधान रहकर व्यवहार करते हुए सोने से पहले चौबीस घण्टे का स्मरण करना चाहिए कि आज कितनी बार झूठ बोला, मन कितनी बार अशान्त हुआ, कितनी बार जगत् सम्बन्धी अनावश्यक चिन्ता हुई, भजन में मन लगा कि नहीं लगा? इस प्रकार लाभ-हानि का स्मरण करने पर चौबीस घण्टे की गलतियाँ पकड़ में आ जाएँगी। आज क्रोध आया तो क्यों आया! क्षोभ हुआ तो क्यों हुआ! किसी के प्रति राग या द्वेष हुआ तो क्यों हुआ! इस प्रकार जैसा भी अपना व्यवहार हुआ, वह भगवान् के सामने रखकर उनसे प्रार्थना करे कि हे भगवन्! यह हमारा हिसाब है।

व्यवहार में भी आप देखते हैं - यदि दुकानदार अपनी दुकान का प्रतिदिन हिसाब नहीं रखेगा तो कभी भी धोखा हो सकता है क्योंकि उसको हानि-लाभ का ज्ञान ही नहीं रहेगा। इस प्रकार साधक भगवान् के सामने अपना हिसाब रखकर प्रार्थना करे कि क्या करें, आज हमसे यह गलती हो गई। आप हमें बल दें कि पुनः यह गलती न हो। जब इस प्रकार प्रतिदिन अपने व्यवहार का हिसाब रखेगा तो धीरे-धीरे उसमें सुधार आ जाएगा और जितना आवश्यक है, उतना ही व्यवहार होने लगेगा, अर्थात् व्यवहार सीमित हो जाएगा।

****

जिज्ञासा :- साधक को कोई अनुष्ठान गुरु के सान्निध्य में ही करना चाहिए अथवा दूर रहकर भी कर सकता है?

समाधान :- साधक अनुष्ठान दूर रहकर करे अथवा समीप, मुख्य बात है कि गुरु के द्वारा मार्गदर्शन लेकर ही करे, मनमानी न करे। मात्र पुस्तक में पढ़कर अनुष्ठान कभी भी नहीं करना चाहिए। यदि परम्परा के अनुसार गुरु से मन्त्र लेकर अनुष्ठान करता है तब गुरु तो मन्त्र बनकर हृदय में बैठा रहता है, फिर दूरी कहाँ से हुई!

****

जिज्ञासा :- पुरश्चरण काल में प्रतिग्रह (भेंट) लेने का निषेध किया है। यदि कोई आश्रमधारी साधक पुरश्चरण करे तो उसे प्रतिग्रह के विषय में क्या करना चाहिए?

समाधान :- पुरश्चरण करनेवाला साधक आश्रम से सम्बन्धित नहीं रहेगा, इसलिए उसे पुरश्चरण काल में किसी से किसी प्रकार का प्रतिग्रह नहीं लेना चाहिए। चाहे वह आश्रम के लिए ही क्यों न हो! जब उसका आश्रम से सम्बन्ध ही नहीं है तो प्रतिग्रह क्यों लेना! व्यवस्था चलाने के लिए व्यवस्थापक लोग लेते रहें, पर पुरश्चरण करनेवाले साधक को तो उससे अलग रहना चाहिए।

जिज्ञासा :- आत्मसाक्षात्कार में उपस्थित रहनेवाले प्रतिबन्ध को कैसे दूर किया जाए?

समाधान :- प्रतिबन्ध को दूर करने के लिए पुरुषार्थ ही मुख्य रूप से साधन है। जब आपका पुरुषार्थ उस प्रतिबन्ध से अधिक हो जाएगा तो वह प्रतिबन्ध दूर हो जाएगा। सर्वप्रथम तो आत्मसाक्षात्कार में जो प्रतिबन्ध उपस्थित है, उसे पहचानना चाहिए। फिर विचार करना चाहिए कि देखो, इसी प्रतिबन्ध ने पूर्व में भी मुझे आत्मसाक्षात्कार से वञ्चित रखा था, इसीलिए जन्म लेना पड़ा। यदि यह वर्तमान में भी बना रहा तो फिर से जन्म लेना पड़ेगा। इसलिए पहले उसे पहचानना चाहिए कि जगत्-सम्बन्धी वासना का आधिक्य है या बुद्धिमान्द्य है अथवा गुरु, शास्त्र के वचनों पर विश्वास नहीं हो रहा है क्योंकि मुख्य रूप से ज्ञान में ये तीन ही प्रतिबन्ध बनते हैं। इस प्रकार पहचान कर उचित साधन के द्वारा इनका निवारण करना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- साधक के लिए ब्रह्मचर्य की रक्षा करना आवश्यक क्यों है और रक्षा करने के उपाय क्या-क्या हैं?

समाधान :- ब्रह्मचर्य की रक्षा करने में प्रश्नकर्ता का तात्पर्य वीर्यरक्षा से है, तो शास्त्र में वीर्य को प्राण ही माना है। वीर्य का मन-बुद्धि से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। यदि वीर्य रक्षित है तो मन भी स्थिर रहता है और बुद्धि भी निर्णय लेने में समर्थ होती है। मन-बुद्धि वश में हैं तो वीर्य भी रक्षित हो जाता है। इसलिए परमार्थ मार्ग में बढ़नेवालों के लिए ब्रह्मचर्य-पालन का विशेष महत्व है। अरे! वीर्यहीन व्यक्ति क्या करेगा! वह तो कुछ भी सहन करने में समर्थ नहीं होता। यहाँ तक कि शारीरिक सामर्थ्य के लिए भी शरीर में वीर्य की अनिवार्यता है।

हठ मात्र से तो ब्रह्मचर्य-पालन करना कठिन है। इसके लिए आहार-व्यवहार को सन्तुलित करना पड़ता है। शास्त्रों में अष्ट प्रकार का मैथुन बताया गया है। जो साधक इनके प्रति सावधान रहेगा, वही ब्रह्मचर्य का पालन कर

सकता है।

ब्रह्मचर्यं सदा रक्षेदष्टधा लक्षणं पृथक्।
स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।।(दक्षसंहिता)

स्त्री-विषयक स्मरण, उनके साथ वार्ता-चर्चा, क्रीडा(चौपड़ इत्यादि खेलना), उन्हें रागपूर्वक देखना, उनसे एकान्त में बातचीत करना, कामविषयक संकल्प करना, रतिविषयक प्रयास करना और रतिक्रिया के लिए प्रवृत्त हो जाना - मैथुन के ये आठ अङ्ग मनीषियों ने बताए हैं।

साधक को इन सबसे बचना चाहिए। कामविषयक उपन्यास का अध्ययन साधक के लिए सर्वथा वर्जित है। अपने लक्ष्य के प्रति दृढ़निश्चय होकर लगे रहें और मन्त्रजप, शास्त्राध्ययन में अधिक-से-अधिक समय बिताएं तो ब्रह्मचर्य का पालन हो सकता है। केवल हठ के द्वारा वीर्य रोकने से मन में अन्य विकृतियाँ आ जाती हैं। इसलिए साधक को प्रारम्भ में ही सावधान रहना चाहिए जिससे कि काम का बीज अंकुरित ही न हो।

****

जिज्ञासा :- यदि कोई साधक निर्दोष है और समाज में उसपर किसी प्रकार का दोषारोपण हो जाए, तो उसे प्रतिकार करना चाहिए या नहीं?

समाधान :- यदि साधक निर्दोष है तो वह समाज में अपनी निर्दोषता सिद्ध कर सकता है, इसमें कोई हर्ज नहीं है। यदि ऐसा न कर सके तो भी अन्दर से उसे निश्चिन्त रहना चाहिए और भगवान् पर विश्वास करना चाहिए कि वे जो करेंगे वह ठीक ही होगा। उसे ज्यादा उपद्रव में पड़ने की आवश्यकता नहीं है।

एक बार ईर्ष्यावश कुछ ब्राह्मणों ने गौतम ऋषि पर गोहत्या का झूठा आरोप लगाकर उन्हें दण्डित करना चाहा, पर गौतम ऋषि को भगवान् शिव पर पूर्ण विश्वास था। वे अन्दर से निश्चिन्त थे। तब भगवान् शिव ने कृपा

करके उस मिथ्या आरोप से उन्हें मुक्त किया। इस प्रकार साधक को भी बहुत ज्यादा सफाई देने की अपेक्षा भगवान् पर ही विश्वास रखना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- ब्रह्मचारी को भिक्षा लेते समय वर्णाश्रम का विचार करना चाहिए अथवा नहीं?

समाधान :- हाँ, ब्रह्मचारी को भिक्षा लेते समय वह घर शास्त्रीय है अथवा नहीं, इस पर तो विचार करना ही चाहिए क्योंकि वह अभी साधक है। साधक को भक्ष्य-अभक्ष्य का भी विचार करना पड़ता है। यदि घर शास्त्रीय नहीं है तो शास्त्रीय भिक्षा भी नहीं मिलेगी। ऐसी अवस्था में उसे कच्चा अन्न लेकर स्वयं भोजन बना लेना चाहिए। संन्यासी के लिए तो कहीं-कहीं चारों वर्णों के घरों से भिक्षा लेने का भी विधान मिलता है।

इस विषय में एक बात विशेष रूप से विचार करने की है कि ढाँचा प्राण के लिए होता है। ढाँचे में बहुत बुद्धि लगाने की आवश्यकता नहीं है। बुद्धि यहाँ लगानी चाहिए कि मैं सत्य बोलता हूँ कि नहीं, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इत्यादि में सावधान रहता हूँ या नहीं, शौच, सन्तोष इत्यादि गुण मेरे अन्दर हैं अथवा नहीं, अन्य आचार तो इनके लिए सहायक हैं। आहार-व्यवहार में अधिक उलझना नहीं चाहिए। बस, लक्ष्य के प्रति सावधान रहना चाहिए और भूख लगने पर अभक्ष्य को छोड़कर जो भी मिले उसे ग्रहण करके अपनी भूख को शान्त कर लेना चाहिए। न मिले तो भी ज्यादा क्षोभ नहीं करना चाहिए, समझे कि आज उपवास हो गया।

****

जिज्ञासा :- कोई साधक कैसे समझे कि मैं पूर्ण हो गया?

समाधान :- जब वह पूर्ण हो जाएगा तो उसको स्वतः ही पता लग जाएगा। आपका भोजन से पेट भर गया यह बात अन्य कोई कैसे बताएगा! पर एक निश्चय कर लीजिए कि यदि किसी में कोई इच्छा या प्रवृत्ति है, तो वह पूर्ण नहीं हुआ।

जिज्ञासा :- आज के युवा साधकों के सम्बन्ध में उनकी कमजोरियों को दूर करने के लिए क्या मार्गदर्शन हो सकता है?

समाधान :- आज भी यदि कोई साधक है तो वह अपना कर्तव्य जानता ही है, पर जानना अलग बात है और पालन करना अलग। आज के साधकों में भी ज्ञान का अभाव नहीं है। एक बालक से भी पूछो कि मन किसमें लगता है तो वह कहता है - "खेलने में।" फिर पूछो, लगना किसमें चाहिए? तब वह कहता है - "पढ़ने में।" देखिए! उसमें ज्ञान का अभाव नहीं है, पर उसे स्वीकार करने के लिए उसमें बल नहीं है। यही समस्या आजकल के युवा साधकों की है। उन्हें बचपन में गर्भाधान से लेकर उपनयन पर्यन्त संस्कारों का जो आधार मिलना चाहिए था, वह नहीं मिला। आज युवा साधक को न माता-पिता से, न समाज से और न ही विद्यालय से कोई संस्कार मिलता है। इसलिए वह इस विषय में कमजोर रह जाता है। परिणाम यह होता है कि वह अपने लक्ष्य का दृढ़ निश्चय करने में समर्थ नहीं हो पाता। इसलिए वह मन को बहलाने के लिए आधुनिकता (भौतिकता) का आधार अधिक लेने लगता है।

बढ़े हुए बुद्धिवाद ने आज के युवा में **उपासना** की योग्यता को ही समाप्त कर दिया है और विज्ञान ने **सहनशक्ति** (तपस्या) को। तब उसमें बल कहाँ से आएगा क्योंकि बल के स्रोत तो ये दो ही हैं। अब तो वह पढ़कर या श्रवण करके केवल प्रवचन दे सकता है, जो परमार्थ मार्ग में बाधक ही है। पर आज भी यदि कोई युवा साधक अपने को कमजोर समझकर बलवान परमात्मा का आश्रय ग्रहण करे, मन्त्र का अधिक-से-अधिक अवलम्बन ले, प्रतिदिन जीवन का हिसाब परमेश्वर को अर्पित करे और उससे प्रार्थना करे तो उसका कल्याण हो जाएगा।

****

जिज्ञासा :- साधक असङ्गता से कैसे रह सकता है?

समाधान :- शास्त्र में दो प्रकार की असङ्गता बताई है —

प्रथम :- इसमें साधक का निश्चय होता है कि जो कुछ करता है वह

भगवान् ही करता है, वही लेता है और वही देता है, मैं कुछ नहीं कर सकता हूँ। इस प्रकार का निश्चय रखते हुए वह धर्म का आचरण करता है। कर्तव्य से विमुख भी नहीं होता और न ही अनधिकार चेष्टा करता है। वह किसी अप्राप्त वस्तु की इच्छा भी नहीं करता और दूसरे की वस्तु के प्रति उदासीन बना रहता है। इस प्रकार का जो साधक है, उसमें असङ्गता प्रतिष्ठित जानना चाहिए।

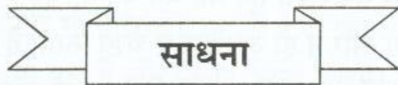
द्वितीय :- इस असङ्गतावाले साधक का निश्चय इस प्रकार का होता है कि मैं भी आकाशरूप हूँ और यह जगत् भी आकाशरूप है, मुझमें कोई क्रिया नहीं हो सकती। इन्द्रियाँ गुणों का कार्य हैं और गुणों में वर्तन कर रही हैं, मुझे इस क्रिया से कुछ लेना-देना नहीं है। जो साधक इस प्रकार के निश्चय से युक्त होकर उपरोक्त कहे गए धर्माचरण इत्यादि का पालन करते हुए विचरण करता है उसमें भी असङ्गता प्रतिष्ठित समझनी चाहिए।

****

सङ्गः सत्सु विधीयतां भगवतो भक्तिर्दृढाऽऽधीयतां
शान्त्यादिः परिचीयतां दृढतरं कर्माशु सन्त्यज्यताम्।
सद्विद्वानुपसर्प्यतां प्रतिदिनं तत्पादुका सेव्यतां
ब्रह्मैकाक्षरमर्थ्यतां श्रुतिशिरोवाक्यं समाकर्ण्यताम्।।

(साधनपञ्चकम्-२)

हे साधकों! सत्पुरुषों एवं सत्-शास्त्रों का ही सङ्ग करो। भगवान् की दृढ़ भक्ति प्राप्त करो। शम, दम आदि साधनों का संचय करो। बहिर्मुखी प्रवृत्तियों का शीघ्र त्याग करो। ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर प्रतिदिन उनके चरणों का सेवन करते हुए उनसे अद्वितीय अविनाशी ब्रह्मतत्त्व के उपदेश की प्रार्थना करो। उनके द्वारा उपदिष्ट वेदान्त वाक्यों का समाहित चित्त से श्रवण करते रहो।



जिज्ञासा :- ऐसा लगता है कि धन साधना में विक्षेप करता है। इसे बिना कष्ट छोड़ने का उपाय क्या है?

समाधान :- विक्षेप में हेतु धन ही है यह बात आवश्यक नहीं है। किसी को ऐसा भी लग सकता है कि धन का अभाव विक्षेप करता है। यदि आप गृहस्थ हैं तो परिवार का पालन करना भी आप का कर्तव्य है। ऐसे में आपको धन की आवश्यकता होगी ही और उसके अर्जन के उपाय को भी भजन समझना पड़ेगा। उसे भगवान् के साथ जोड़ना पड़ेगा कि भगवान् ने हमको यह सेवा दे रखी है। अपने कर्तव्य कर्म के द्वारा हम परमेश्वर की आराधना करते हैं- **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य..... (गीता-१८.४६)**। हमारा तो परमेश्वर से सम्बन्ध है।

इस प्रकार आप चिन्तन करेंगे तो धन आपके विक्षेप में हेतु नहीं बनेगा। बल्कि धन के अभाव में कर्तव्य से विमुख होना भी आपके विक्षेप में हेतु बन जाएगा। जीवन में कभी-कभी छोटी-छोटी बातें भी साधना में विक्षेप का हेतु बन जाती हैं। हाँ, यदि आपका परिवार के प्रति कोई कर्तव्य नहीं है, आपने केवल मोह से या लोभ से धन को पकड़ रखा है तो आपको उसे छोड़ना ही चाहिए। आपको विचार करना चाहिए कि जितना हमारी साधना में कम से कम आवश्यक है उतने ही धन की अनिवार्यता है। उससे ज्यादा धन की अपेक्षा क्यों रखें?

परमात्मा के प्रति साधक का विश्वास दृढ़ होना चाहिए। जो परमात्मा बालक के उत्पन्न होने से पहले माता के स्तनों में दूध उत्पन्न कर देता है, उसको बालक की जीवनरक्षा के प्रति कितनी चिंता है! वह हमको भूखा कैसे रहने देगा। यदि किसी प्रकार भोजन नहीं मिलेगा और शरीर छूट भी जाएगा तो मेरा क्या बिगड़ेगा। यह शरीर तो एक दिन छूटना ही है। इसलिये इसकी चिंता मुझे क्यों

करनी है। ऐसा विचार यदि दृढ़ हो जाए तो धन छोड़ना सहज हो जाता है।

****

जिज्ञासा :- प्रणव को आधार बनाकर जो साधन किया जाता है उसको उपासना कोटि में रखा जाए या ज्ञान कोटि में?

समाधान :- प्रणव को आधार बनाकर आप उपासना भी कर सकते हैं और विचार भी। भावनात्मक प्रक्रिया बनती है तो उपासना की कोटि में होगी, इसे ब्रह्मोपासना भी कहते हैं। प्रणव का आधार लेकर जो विचारात्मक शोधन आदि प्रक्रिया है वह ज्ञान की कोटि में आएगी।

****

जिज्ञासा :- शास्त्रों में कामनाओं को दबाने की बात आती है, पर आजकल डॉक्टर लोग कहते हैं- इच्छाओं को दबाने से बीमारी हो सकती है। ऐसे में क्या करना चाहिए?

समाधान :- कामनाओं को दबाने से बीमारी हो जाती है यह आजकल के मनोविज्ञान की धारणा है। कामनाओं को दबाने का तात्पर्य समझना चाहिए। आप उन्हें ऐसे ही दबा नहीं सकेंगे, उसकी एक विधि है। उन्हें धीरे-धीरे उखाड़ने की प्रक्रिया है। जैसे आप ध्यान में बैठे हैं और कोई वृत्ति मन में आ जाए तो उसे हटाने के लिये दूसरी वृत्ति लानी चाहिए जो शास्त्रीय हो। इस प्रकार उसे दबाना भी नहीं पड़ेगा और उसका मार्ग बदल जाएगा। जब कोई वृत्ति इच्छा के रूप में बार-बार उठे तो उसको महत्त्व नहीं देना चाहिए। उस इच्छित वस्तु में दोष देख कर वहाँ से वृत्ति को हटाकर अन्य जगह लगाना चाहिए। तब धीरे-धीरे वह कामना शान्त हो जाएगी।

एक बात का ध्यान अवश्य रखें कि कामनाओं का शमन भोग के द्वारा नहीं हो सकता। भोग से तो कामना और बढ़ती जाएगी।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।(भागवत-९.१९.१४)

जैसा आज का मनोविज्ञान कहता है कि यदि किसी वस्तु की इच्छा है तो

पहले उसका उपभोग कर लो, उसके पश्चात् दूसरा कार्य करो, यह धारणा बिल्कुल गलत है।

****

जिज्ञासा :- अनादि काल से चली आ रही कामनाओं का किसी उपाय से शमन क्या सम्भव है ?

समाधान :- भले ही कामनायें अनादि काल से चली आ रही हों परन्तु युक्ति से उनका शमन किया जा सकता है। शास्त्र में प्रत्येक कामना की पाँच अवस्थाएं बताई हैं- प्रसुप्त, उदार, विच्छिन्न, तनु और दग्ध। बालक में कामना अभी प्रकट नहीं हुई परन्तु ऐसा नहीं कह सकते कि है ही नहीं। इसलिये उसे कामना की **प्रसुप्त** अवस्था कहते हैं। फिर कुछ बड़ा होने पर जगत् की हवा लगी कि वे प्रसुप्त कामनाएं अपना प्रभाव दिखाने लगती हैं। यह उनकी **उदार** अवस्था है। अधिकांश संसारी व्यक्तियों की कामना की यही अवस्था होती है। वे लोग कामना को अपना मित्र समझकर उसमें ही फँसे रहते हैं।

यदि व्यक्ति साधक होगा तो वह कामना के दोषों का विचार करेगा। विचार करने पर पहले वे विच्छिन्न होंगी। कामनाओं की जो धारा लगातार चल रही थी वह अब टूटने लगती है, यह उनकी **विच्छिन्न** अवस्था है। इस प्रकार दीर्घ काल तक विचार करते-करते धीरे-धीरे कामनाएं कमजोर हो जाएंगी अर्थात् तनुता को प्राप्त हो जाएंगी। उस अवस्था को **तनु** कहते हैं। अभी वे कमजोर जरूर हुई हैं परन्तु उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। साधन छोड़ देने पर वे फिर बलवान् हो सकती हैं। साधक दृढ़ता से अभ्यास करता रहेगा तो ज्ञान प्राप्त कर लेगा। इसके बाद कामना **दग्ध** अवस्था को प्राप्त हो जाएगी। उसके पुनः जीवित होने में कोई निमित्त नहीं रहेगा। परन्तु यह काम कोई एक, दो दिन या महीने, दो महीने का नहीं है। दीर्घ काल तक सतत अभ्यास करना पड़ता है तभी सफलता प्राप्त होती है।

****

जिज्ञासा :- किसी की अन्तर्दृष्टि हो जाए तो उसे बाह्य जगत् को किस

तरह देखना चाहिए ?

समाधान :- जब अन्तर्दृष्टि हो जाएगी उस समय मालूम हो जाएगा कि जगत् कैसा दिखाई देता है। अभी से उसकी चिंता क्यों करना। कोई पति-पत्नी थे, किसी के मकान में किराये से रहते थे। वे रोजाना भोजन बनाने के बाद झगड़ा और तर्क-वितर्क करते। कभी-कभी तो झगड़ा इतना बढ़ जाता था कि भोजन भी नहीं करते थे। एक दिन उनका झगड़ा सुनकर मकान मालिक उनके पास गया और कहा-''बहुत हल्ला-गुल्ला करते हो। क्या समस्या है ? यदि आप कहो तो हम कोई समाधान करें।'' पत्नी ने कहा -''ये कहते हैं लड़के को डॉक्टर बनाना है, पर मैं उसे वकील बनाना चाहती हूँ।'' मकान मालिक ने कहा -''तुम लोग उसपर अपनी-अपनी रुचि क्यों थोपते हो ? लड़के को ही बुला लो, उससे पूछ लेते हैं कि वह क्या बनना चाहता है ?''उन्होंने कहा-''लड़का तो अभी पैदा ही नहीं हुआ।'' मकान मालिक ने कहा -''अरे ! जब पैदा ही नहीं हुआ तो अभी से क्यों झगड़ रहे हो ! जैसा उसका संस्कार होगा वैसा बन जाएगा।''

इसी प्रकार जब आपकी अन्तर्दृष्टि हो जाएगी तो अपने आप पता लग जाएगा। जैसा भीतर देखोगे वैसा बाहर दिखाई देगा।

****

जिज्ञासा :- विभिन्न ग्रन्थों में परमात्मा का निवास स्थान हृदय बताया है। परन्तु ध्यान लगाने के लिये आज्ञाचक्र को ही बताया जाता है। कुछ लोग सहस्रार में भी परमात्मा का स्थान बताते हैं। सत्य क्या है ?

समाधान :- हृदय चेतन की अभिव्यक्ति का स्थान है। भले ही आज का विज्ञान ज्ञानशक्ति का केन्द्र मस्तिष्क को मानता हो, शास्त्र के अनुसार क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति की अभिव्यक्ति का स्थान हृदय ही है। वैज्ञानिकों को यह समझना चाहिए कि प्राण के बिना कहीं ज्ञान दिखाई नहीं देता। इसलिये ज्ञान विशिष्ट रूप में भले ही मस्तिष्क में अभिव्यक्त हो पर उसका केन्द्र तो हृदय ही है। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का केन्द्र होने से चेतन की अभिव्यक्ति का स्थान हृदय

ही हो सकता है। इसलिये बहुत जगहों पर हृदय का अर्थ मांसपिण्ड न करके चैतन्य ही करते हैं। इसलिये परमात्मा का निवास स्थान जो हृदय को बताया है उसमें कोई दोष नहीं है।

आज्ञाचक्र में ध्यान लगाने के लिये अलग दृष्टि से कहा जाता है। मन की विशिष्ट अभिव्यक्ति का स्थान आज्ञाचक्र है। आपके सभी साधनों में मन की ही समस्या है। आज्ञाचक्र में ध्यान लगाने के लिये कहने का तात्पर्य मन को एकाग्र करने में है, आत्मा को एकाग्र करने में नहीं। दूसरी बात, हृदय में ध्यान लगाने के लिये नहीं कहा गया है ऐसी बात नहीं। हृदय में भी ध्यान करने की प्रक्रिया है, जिससे सम्पूर्ण ज्ञान वहीं जाकर एकीभूत हो जाता है। यद्यपि हृदय में ध्यान करना सरल है, पर यह बात सबके बस की नहीं। हृदय चेतन है, वहाँ बैठ जाओ तो और कोई समस्या नहीं। **आत्मसत्यानुबोधेन न संकल्पयते यदा। (माण्डूक्य कारिका-३.३२)** यह हृदय सम्बन्धित प्रक्रिया है। पर सबका इसमें प्रवेश सम्भव न होने से यह कठिन लगती है। कुछ लोग सहस्रार में भी ध्यान लगाने के लिये कहते हैं। कोई बात नहीं! आप का मन एकाग्र होना चाहिए। योग दर्शन में तो यहाँ तक कह दिया - "अन्दर ध्यान नहीं लग रहा है तो बाहर लगाओ।" चित्त को पकड़ना है तो कोई न कोई आधार लेना पड़ेगा। इसलिये इस विवाद में नहीं पड़ना चाहिए कि कहाँ ध्यान लगाना श्रेष्ठ है।

परमात्मा की अभिव्यक्ति सहस्रार में होती है यह भी सत्य है। कुछ लोग कहते हैं हृदय का जो पोल है उसमें अंगुष्ठमात्र प्रमाण वाला पुरुष है। यह भी सत्य है। समझ ठीक हो तो सब सत्य है। समझ ही गलत हो जाए तो कोई भाषा सत्य प्रतीत नहीं होती। इसलिये कहते हैं शास्त्र गुरु से पढ़ना चाहिए, किताबी ज्ञान से भ्रम हो सकता है। किसी शब्द का प्रयोग किस तात्पर्य से किया गया है यह यदि आप नहीं समझे तो उसका दूसरा अर्थ लग सकता है। इसलिये अधिक जानने की अपेक्षा जो साधन करना है उसकी समझ अच्छी प्रकार से करके रख लें। तभी साधन के लिये अग्रसर होना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- आप कहते हैं कि अहंता-परिवर्तन करो तो हर व्यवहार भजन हो जाएगा। परन्तु यह काम तो कठिन लगता है। इसका क्या उपाय है?

समाधान :- अहंता-परिवर्तन करना सभी के लिये सरल नहीं है। प्रारम्भ में तो व्यक्ति जब वह माला लेकर बैठता है तभी उसे लगता है कि भजन हो रहा है। उसे पहले तो क्रिया में परिवर्तन करना पड़ेगा फिर भाव में परिवर्तन होगा। उसके बाद अहंता में परिवर्तन होता है। एकाएक अहंता में परिवर्तन कठिन लगेगा ही।

****

जिज्ञासा :- भगवान् ने कहा - **श्रद्धावाल्लँभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। (गीता-४.३९)** श्रद्धा तो सामने के विषय या व्यक्ति के महत्त्व को देखकर उत्पन्न होती ही है। फिर यहाँ श्रद्धावान् कहने की क्या आवश्यकता है?

समाधान :- भगवान् ने यह बात ब्रह्मज्ञान के प्रसंग में कही है जो बुद्धि का विषय नहीं बन सकता। बुद्धि चाहे कितनी भी तीव्र हो वह श्रद्धासमर्पित नहीं है तो वेदान्त-प्रतिपादित ज्ञान नहीं हो सकता। तीव्र बुद्धि हो और उसमें श्रद्धा न हो तो वह काटने-छाँटने में लग जाएगी क्योंकि बुद्धि का यह स्वभाव है कि वह किसी के सामने झुकना स्वीकार नहीं करती। वह कोई भी शब्द सुनते ही पूरी ताकत के साथ, तर्क के द्वारा उसे काटने में लग जाती है। जबकि वेदान्त तो श्रद्धा किये बिना, केवल तर्क के द्वारा ग्रहण होने वाला नहीं है। इसमें पहले यह स्वीकार करना पड़ता है कि शास्त्र और गुरु जो कहते हैं वही ठीक है भले ही हमारी बुद्धि में न बैठे। इसीलिये शास्त्र ने यहाँ तक कह दिया कि श्रद्धा के बिना वेदान्त सुनने का अधिकार ही नहीं है। वेदान्त ज्ञान को पहले सुनकर उसको स्वीकार करना चाहिए, फिर उसको आधार बनाकर बुद्धि को लगाना चाहिए। तब बुद्धि उसको काटने में नहीं अपितु समझने में लगेगी। यह तभी होगा जब आपकी बुद्धि में श्रद्धातत्त्व की प्रधानता हो।

आप श्रुति को व्यवहार की दृष्टि से देखिए। एक व्यक्ति को चालीस-पचास वर्षों का अनुभव है। उसके सामने एक बुद्धिमान् युवक है। उसका अनुभव

तो उस वृद्ध के बराबर नहीं है। वह बुद्धि के बल पर उसके अनुभव को कैसे समझ सकता है। पर यदि वह वृद्ध उसका हितैषी है तो उसके अनुभव के साथ चलने से युवक को लाभ होगा ही। जगत् में यही विडम्बना है कि व्यक्ति में जब तक शक्ति रहती है तब तक अनुभव नहीं आता और जब अनुभव आता है तब शक्ति क्षीण हो जाती है। श्रद्धातत्त्व हमारे अन्दर जन्मजात है, बुद्धिवाद तो बाद में आता है। आजकल तो इस अंग्रेजों की शिक्षा ने श्रद्धातत्त्व को अन्धविश्वास कहकर उड़ा ही दिया जिससे समाज की बहुत बड़ी हानि हो रही है। श्रद्धा हमारी बहुत बड़ी सम्पत्ति थी। चाहे व्यवहार हो या परमार्थ, श्रद्धातत्त्व की आवश्यकता सर्वत्र है। श्रद्धा के अभाव को आगमशास्त्र अपराधवासना मानता है। **पञ्चदशी** में भी कुतर्क, विपर्यय और दुराग्रह को ज्ञान में प्रतिबन्ध कहा है। ये तीनों श्रद्धा के अभाव में उत्पन्न होते हैं। इसलिये गीता में जो कहा- **श्रद्धावाल्लँभते ज्ञानम्**, वह उचित ही है। सार रूप में कहें तो चाहे कितना भी बड़ा विद्वान् हो, श्रद्धा नहीं है तो उसे ज्ञान नहीं होगा।

****

जिज्ञासा :- उपदेश को श्रद्धा से स्वीकार कर लेने मात्र से तत्त्वज्ञान का अधिकारी हो जाता है या और कुछ करना पड़ता है?

समाधान :- यदि मात्र श्रद्धा से काम बनता तो यह कहने की क्या आवश्यकता थी - **तत्परः संयतेन्द्रियः**। इन्द्रियों पर संयम नहीं है तो श्रद्धा से स्वीकार करने पर भी काम नहीं बनने वाला। आपने ग्रहण तो कर लिया पर उसे पचाने के लिये ताकत कहाँ से आएगी? ज्ञान तो एक बालक में भी हो सकता है। किसी बालक से पूछो कि 'मन पढ़ने में लगता है कि खेलने में?' वह कहता है- "खेलने में।" अब पूछो 'लगना किसमें चाहिए?' तब वह कहता है- "पढ़ने में।" देखो! ज्ञान की उसमें कमी नहीं है, उस ज्ञान में संशय भी नहीं है पर उसे पचा नहीं पाता। किसी ज्ञान को स्वीकार करना अलग बात है और पचाना अलग। ज्ञान को पचाने का बल उपासना से आता है। उपासना के लिये इन्द्रिय-निग्रह की आवश्यकता होती है। इन्द्रियनिग्रह से भी अधिक आवश्यकता

तत्परता की होती है। जीवन में तत्परता होगी तो व्यक्ति पूरा का पूरा ज्ञान प्राप्त कर सकता है। संयमित इन्द्रियों से बाहर का विक्षेप समाप्त होता है और तत्परता के द्वारा बुद्धि लक्ष्याभिमुख होती है। इसलिये ज्ञान प्राप्त करने में श्रद्धा, इन्द्रियसंयम और तत्परता तीनों की आवश्यकता है।

****

जिज्ञासा :- गुरु, शिष्य को अपनी साधना के विषय में दूसरों को बताने के लिये निषेध करते हैं। ऐसा क्यों?

समाधान :- शास्त्र में साधनक्रिया को गुह्यतम बताया है। ऐसा इसलिये कहा है कि बताने से साधनक्रिया में विघ्न आता है, साधन नष्ट होता है। यह शास्त्र का वचन है। इसलिये गुरु, शिष्य के हित को दृष्टि में रखकर यह बात कहते हैं।

****

जिज्ञासा :- साधना काल में साधक के अन्दर कभी-कभी कुछ विलक्षण सद्भाव उत्पन्न होने लगते हैं। ऐसे में उसका क्या कर्तव्य है?

समाधान :- उन्हें आने देना चाहिए। अपनी साधना में और अधिक बल लगाना चाहिए। ऐसे भाव कभी-कभी किसी सफलता का पूर्वाभास कराते हैं। इसलिये उन्हें अन्दर छुपाकर रखना चाहिए। किसी के सामने प्रकट करने से उनका आना रुक सकता है। फिर वह स्थिति लाने के लिये बड़ा इन्तजार करना पड़ता है।

****

जिज्ञासा :- किसी से व्यवहार न करने पर भी संसर्ग का प्रभाव पड सकता है क्या?

समाधान :- हाँ। प्रत्येक व्यक्ति के मन और शरीर से प्रतिक्षण परमाणुओं का उत्सर्जन होता रहता है। वे परमाणु एक वातावरण का निर्माण करते हैं। उसमें जो भी व्यक्ति आएगा उस पर उसका प्रभाव पड़ता है। आप अनुभव कर सकते हैं कि किसी महापुरुष के समीप में बैठने मात्र से ही मन में

अच्छे विचार आने लगते हैं और किसी दुष्ट व्यक्ति के समीप में बैठने से मन में स्वाभाविक ही अशान्ति का अनुभव होने लगता है। यह आपके मानसिक स्तर पर निर्भर करता है कि उसका प्रभाव आप पर कितना पड़ता है। तीर्थों में रहने का यही रहस्य है। वहाँ पर बहुत से महापुरुषों ने तपस्या की है। अतः वहाँ एक ऐसा वातावरण रहता है जो साधना के लिये सहयोगी होता है।

****

जिज्ञासा :- कोई साधन किस प्रकार किया जाए कि वह निश्चित ही लक्ष्य तक पहुँचा दे?

समाधान :- पहले तो यह स्वीकार करें कि इस संसार में मनुष्य के लिये कुछ भी असाध्य नहीं है। परमात्मा ने इसमें बहुत शक्ति भरकर रखी है। कोई सोच भी नहीं सकता कि मनुष्य में कितनी शक्ति है। आवश्यकता है उसे पहचानने की। लक्ष्यप्राप्ति के लिये सर्वप्रथम तो उपयुक्त साधन चुनना चाहिए तभी परिश्रम करने से सफलता मिलती है। जैसे आप किसी गन्तव्य स्थान पर जाने के लिये सर्वप्रथम उसके मार्ग के विषय में संशयरहित होना पसन्द करते हैं। फिर वहाँ जाने के लिये किसी साधन का चयन करते हैं। यहाँ पर भी लक्ष्यप्राप्ति के लिये मार्ग कई हो सकते हैं। एक-एक मार्ग में साधन भी कई हो सकते हैं। इसलिये आपको मार्ग और साधन दोनों को ठीक-ठीक चुनना पड़ेगा। इस ठीक चयन के लिये साधन किसी गुरु परम्परा से ही लेना उचित होता है।

इसके उपरान्त यह दृढ़ निश्चय करना चाहिए कि मनुष्य शरीर में हार मानने के लिये कोई जगह नहीं है। सत्कर्म में बाधा आने की सम्भावना हमेशा रहती है - **श्रेयांसि बहुविघ्नानि।** उस समय घबराकर मुख नहीं मोड़ना चाहिए। मुख्य बात यह है कि अपने लक्ष्य को गौण नहीं समझना चाहिए। लक्ष्य गौण हो जाएगा तो साधन शिथिल पड़ जाएगा। साथ ही साधन की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। नहीं तो साधन के समय इधर-उधर देखते रहेंगे। उस समय दुनिया भर के ज्ञान को जानने की क्या आवश्यकता है? अहंकारशून्य होकर, परमात्मा का आश्रय लेकर यदि कोई साधना करता है तो उसको लक्ष्यप्राप्ति अवश्य होती है।

जिज्ञासा :- गीता के बारहवें अध्याय में कर्मफलत्याग को ध्यान आदि साधनों से श्रेष्ठ क्यों बताया है?

समाधान :- इस बारहवें अध्याय को आप ठीक से पढ़ेंगे तो आपको पता लगेगा कि इसमें सरलता की दृष्टि से ही उत्कृष्टता कही है। वहाँ निर्गुण-उपासक तो एक ही प्रकार का है परन्तु सगुण-उपासकों की कई श्रेणियाँ हैं। प्रथम श्रेणी में बताया -

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।(१२.६)

यह उपासक सगुण भगवान की शरण में है, अपने सम्पूर्ण कर्मों को भगवान् में समर्पित कर देता है और भगवान् से अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहता, अनन्य भक्त है। व्यक्ति जिसको चाहेगा उसी का निरन्तर ध्यान होगा - **मां ध्यायन्त उपासते।** वह तो भजन में लगा रहता है पर चिन्ता मुझे होती है। जब वह पूर्णतः मेरी शरण में आ गया तो उसकी जिम्मेदारी मेरी हो जाती है।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।(१२.७)

जिसने अपना चित्त मुझमें ही लीन कर दिया, अब उसका संसारसागर से उद्धार करना मेरा काम है। परन्तु सब लोग ऐसी उपासना नहीं कर सकते, उनके लिये कुछ सरल उपाय बताया - **मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। (१२.८)** बुद्धि में मेरे महत्त्व को बिठाकर मन से मेरा ही ध्यान करो। परन्तु मन का समाधान करना इतना आसान नहीं है। इसलिये और भी सरल उपाय बताया - **अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।(१२.९)** मेरे चिन्तन, नामजप, कीर्तन एवं कथाश्रवण का अभ्यास बढ़ाओ।

तब अर्जुन ने कहा, ''व्यवहार में रहते हुए यह अभ्यास भी बहुत कठिन दिखता है। सवेरे से शाम तक कर्म में लगा रहना पड़ता है।'' भगवान् ने कहा, ''तू कर्म करना तो जानता है लेकिन जगत् के लिये करता है। अब तू मेरे लिये कर्म कर, जिससे तुझे मेरी प्राप्ति हो जाए।'' **अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि**

मत्कर्मपरमो भव।(१२.१०) अर्जुन ने कहा, "यह भी कठिन दिखता है। कोई सरल साधन बताइये।" तब भगवान् ने कहा, "ठीक है! अपने घर का मालिक मुझे बना दो। जो भी कर्म करो उसका फल अपने लिये मत चाहो, मुझे अर्पित कर दो। यह अन्तिम उपाय है।"

अब देखिए, प्रशंसा तो पहली श्रेणी वाले उपासक की करनी चाहिए थी, परन्तु कर रहे हैं अन्तिम वाले की -

ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्। (१२.१२)

कर्मफल की इच्छा ही दुःख देती है। उसे छोड़ने पर शान्ति अपने आप मिल जाएगी। यहाँ समझना चाहिए कि सरलता की दृष्टि से ही कर्मफलत्याग को ध्यान से श्रेष्ठ बताया है।

****

जिज्ञासा :- कैवल्योपनिषद् में रुद्राध्याय के द्वारा अभिषेक को मोक्ष के लिये उत्तम साधन बताया है। वहीं पर यह भी कहा है - **न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः**।(२) एक ही स्थान पर मोक्ष के लिये पहले एक साधन को उत्तम बताकर फिर कहा मोक्ष केवल त्याग से ही होता है। यहाँ क्या तात्पर्य है?

समाधान :- वहाँ पर जो त्याग की बात आई है वह स्थूल शरीर से लेकर अहन्तापर्यन्त त्याग के लिये कही है। पर अहन्ता का त्याग कहने मात्र से नहीं होता। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर के साथ जो अध्यास बना है वह कहने मात्र से नहीं टूटता। प्रतिदिन वेदान्त सुनते हैं पर **मैं** कहते ही शरीर का स्मरण आता है। इसलिये अभिषेकरूपी जो साधन बताया है वह त्याग की सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये ही बताया है। उस साधन के द्वारा जब आप अपनी अहन्ता को भगवान् शिव के चरणों में समर्पित करेंगे तब आप शिव के हो जाएंगे। आपको ऐसा लगेगा कि हमारा सम्बन्ध केवल भगवान् शिव से है। इस निश्चय से आपका चित्त शुद्ध हो जाएगा। अब त्याग की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाएगा। इसी त्याग से अमृतत्व की प्राप्ति होगी।

जिज्ञासा :- परमात्मा को प्राप्त करने के लिये कैसी दृढ़ता होनी चाहिए?

समाधान :- मन में एक दृढ़ निश्चय होना चाहिए कि चाहे जो भी हो जाए हम परमात्मा को पाकर ही रहेंगे। उन्हें पाए बिना अपनी साधना से उपरत नहीं होंगे। जैसे भगवान् बुद्ध ने निश्चय किया था -

इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसानि लयं प्रयान्तु।
अप्राप्य बोधं बहुकालदुर्लभं नैवासनात् कायमिदं चलिष्यति।।

इस आसन पर हम बैठ गए हैं तो परमात्मा का ज्ञान प्राप्त किए बिना उठेंगे नहीं। इस ज्ञान को प्राप्त किए बिना हमारे बहुत से जन्म व्यर्थ ही बीत गए। अब तो चाहे यह शरीर सूख जाए, इसकी हड्डी-मांस सब नष्ट हो जाएं पर अपना कार्य किए बिना यहाँ से हिलेंगे नहीं। आज के युग में शरीर के विषय में भले ही ऐसी धारणा न बनावें पर उनके समान निश्चय की दृढ़ता तो रखनी ही चाहिए।

****

जिज्ञासा :- ऐसी कौन-सी दृष्टि अपनाएँ कि अध्यात्मकथा सुनने में चित्त लग जाए और सुनकर उसे भूलें भी नहीं?

समाधान :- यहाँ पर सीधा-सा गणित है कि आप उसे अपनी कथा नहीं मानते, इसलिए उसमें चित्त लगाना कठिन लगता है। समाचार-पत्र जब किसी के सामने आता है तो सभी के लिए, सभी समाचार एक समान नहीं होते। कुछ लोग शेयरवाला पन्ना झट् से पहले ही निकाल लेते हैं तो कुछ खेलपृष्ठ को ही देखते हैं और कुछ लड़ाई-झगड़ावाला ही देखना पसन्द करते हैं क्योंकि जिसके अन्दर जिसका अधिक महत्व है, वह उसी को पढ़ना-सुनना पसन्द करता है और उसका विस्मरण भी नहीं होता।

मान लो, आप अपने गुरुजी के कमरे के बाहर खड़े हैं। गुरुजी किसी अन्य व्यक्ति से बात कर रहे हैं। वह बात आपके कानों में थोड़ी-थोड़ी सुनाई दे रही है, उसी समय आपको सुनाई दिया कि मेरे विषय में बात हो रही है, तो कल्पना कीजिए कि आप उसे कितना तन्मय होकर सुनेंगे। इसी प्रकार जब यह समझ में

आ जाएगा कि यह अध्यात्म-चर्चा मेरे विषय में हो रही है तो आपका मन उसको सुनने में लग जाएगा और आप उसे भूलेंगे भी नहीं।

****

जिज्ञासा :- यह कैसे समझें कि इन्द्रियाँ हमारे वश में हैं?

समाधान :- आपकी इन्द्रियाँ वश में हैं या नहीं, इसमें प्रमाण अपने अनुभव को ही मानना पड़ेगा कि शास्त्र में जैसा कहा है, हमारी इन्द्रियाँ क्या उसी के अनुसार विचरण करती हैं या अन्य प्रकार से! ऐसा विचार करोगे तो स्वयं समझ जाओगे कि इन्द्रियाँ वश में हैं या नहीं।

****

जिज्ञासा :- प्रतिकूल परिस्थिति में तो यह समझ में आता है कि जगत् में धोखा है, अनुकूल परिस्थिति में कैसे समझें कि जगत् में धोखा है, उस समय तो जगत् में आनन्द ही दीखता है?

समाधान :- परिस्थिति चाहे अनुकूल हो या प्रतिकूल, विचार करके देखा जाए तो जगत् में धोखे के अतिरिक्त और है ही क्या! प्रतिदिन आप अनुभव करते हैं कि भोजन करने पर तृप्ति होती है। पर यदि कल्पना मात्र से आपने भोजन किया तो आपको तृप्ति नहीं होगी। तब आप विचार करेंगे कि यह भोजन सत्य था अथवा मायारचित। इसी प्रकार संसार में तृप्ति के लिए आप जीवन लगा देते हैं और आज तक हमें संसार के भोगों से कोई तृप्त मिला ही नहीं। इसका तात्पर्य हुआ कि भोग धोखा है। यदि वे सत्य होते तो सच्ची तृप्ति देनेवाले होते। अतः जगत् के भोगों में कहीं क्षणिक आनन्द का अनुभव किसी को हो रहा है तो उसे भ्रम ही समझना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- इस मायिक जगत् से जागने की युक्ति क्या है?

समाधान :- इस विषय में दो बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। एक विचार और एक उसको धारण करने के लिये ताकत। ताकत प्राप्त करने के लिये तपस्वी बनो। इन्द्रियनिग्रहपूर्वक शरीरशोषण ही मुख्य तपस्या है। भगवान्

भाष्यकार ने भी गीताभाष्य में तप का यही अर्थ किया है। तपस्या करो और भावपूर्वक ईश्वर को पकड़ कर रखो। ऐसा करने पर ही विचार को जीवन में धारण करने की सामर्थ्य प्राप्त होगी।

सबसे पहले तो शरीर की नश्वरता का विचार करना चाहिए। रोज कुछ काल ऐसा अभ्यास करो कि मेरा शरीर छूट गया है, इसे लोग चिता पर जला रहे हैं। मनरूपी नेत्र से शरीर को जलते हुए देखो और सोचो कि मैं शरीर को जलते हुए देख रहा हूँ, इसलिये मैं शरीर नहीं हूँ, इससे अलग हूँ। शरीर के जितने सम्बन्धी हैं उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा अभ्यास दीर्घकाल तक करने पर शरीरसम्बन्धी मोह दूर होगा और देहाध्यास शिथिल हो जाएगा। यह सत्य का अभ्यास है, मैं कोई झूठ का अभ्यास नहीं बता रहा हूँ। जो घटना घटने वाली है उसी का ध्यान करने को कह रहा हूँ।

****

जिज्ञासा :- जब तत्त्व एक ही है तो उसको समझाने के लिए अलग-अलग मत क्यों हुए और उसको प्राप्त करने के लिए अलग-अलग साधन क्यों कहे गए हैं?

समाधान :- एक विषय का कई प्रकार से कथन किया जा सकता है, इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। व्यवहार में भी आप देखते हैं कि एक विषय को यदि दो व्यक्ति समझाएँगे तो उनका समझाने का ढंग अलग-अलग होगा। विद्युत को कोई पंखे से समझाए तो कोई बल्ब से, क्या अन्तर पड़ता है! जिसको जिसका अभ्यास है वह उसी प्रक्रिया से समझाता है। पर एक बात ध्यान में रखें जिसे कि गौड़पादाचार्यजी ने कहा है - **मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम्**

...(माण्डूक्य कारिका-३.४०)

सभी साधकों का एक ही उद्देश्य है - **मनोनिग्रह,** यही सभी साधनाओं का फल भी है क्योंकि परमार्थ मार्ग में मुख्य तत्त्व मनोनिग्रह ही है, चाहे वह किसी भी विधि से प्राप्त हो। कहीं पर पुरुषार्थ की प्रधानता है तो कहीं पर कृपा की।

कोई भी साधना हो, वह या तो प्राणशक्ति को अथवा ज्ञानशक्ति को केन्द्र

बनाकर ही की जाती है। प्राणशक्ति को केन्द्र बनाने का तात्पर्य योगमार्ग से है और ज्ञानशक्ति को केन्द्र बनाने का अर्थ हुआ बुद्धि को माध्यम बनाकर साधना करना। ये भी दो प्रकार से होती है - एक भावप्रधान (भक्ति) और दूसरी विवेकप्रधान (विचार)। इस प्रकार सभी साधनाओं को मिलाकर तीन विभाग किए जा सकते हैं, पर इन सभी का फल मनोनिग्रह ही है। इसलिए अलग-अलग ढंग से कथन करने पर भी इनमें कोई विरोध नहीं है।

****

जिज्ञासा :- शास्त्रों में कहा है - ''तमोगुण को रजोगुण नष्ट करता है और रजोगुण का नाश सत्त्वगुण करता है।'' सत्त्वगुण का नाश कैसे होगा क्योंकि साधक को तो गुणातीत अवस्था में पहुँचना है?

समाधान :- गुण साधन है और साधन की आवश्यकता तभी तक रहती है जब तक साध्य की प्राप्ति नहीं होती। अतः साध्य जो गुणातीत अवस्था है उसे प्राप्त करने के लिए गुणत्रय का लय आवश्यक ही है। लय का क्रम इस प्रकार से है –तमोगुण का नाश रजोगुण करता है क्योंकि रजोगुण से व्यक्ति में प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति से ही तमोगुण का नाश होता है। अब धीरे-धीरे उस रजोगुण का मुख सत्त्व की ओर होगा, फिर वह रजोगुण शान्त हो जाएगा तब प्रवृत्ति भी शान्त हो जाएगी। अब केवल सत्त्वगुण ही शेष रहता है, पर साधक को तो इससे भी ऊपर जाना है। इसलिए वह इस सत्त्वगुण का मुख स्वरूप की ओर करेगा। स्वरूप तो गुणातीत है, अतः सत्त्वगुण का उसमें लय हो जाएगा। यहाँ लय का तात्पर्य है कि स्वरूप में स्थित साधक का सत्त्वगुण से भी सम्बन्ध नहीं रहेगा।

****

जिज्ञासा :- शरीर की अस्वस्थता में भजन कैसे करना चाहिए?

समाधान :- भजन मन से होता है, इसलिए शरीर अस्वस्थ रहने पर भी भजन अच्छा हो सकता है। बस! मन अस्वस्थ नहीं होना चाहिए। शरीर अस्वस्थ होने पर भले ही स्नान न कर सकें, एक आसन पर भले ही न बैठ सकें, फिर भी लेटे-लेटे जप तो कर सकते हैं। उस समय यह विचार करना चाहिए कि हमने

कोई अपराध किया होगा और उसका प्रायश्चित्त नहीं कर पाए। इसलिए भगवान् स्वयं ही। कृपा करके उसका भोग करवाकर हमें पाप से शुद्ध कर रहे हैं। अब अच्छा ही है कहीं बाहर भी जाना नहीं पड़ेगा, लेटे-लेटे ही भगवान् का भजन करेंगे। यदि आप ऐसा विचार करते हुए लेटे-लेटे जप करेंगे तो शारीरिक अस्वस्थता में भी आपकी बहुत बड़ी तपस्या हो सकती है।

****

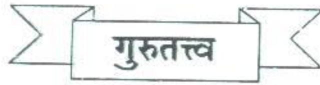
जिज्ञासा :- कुछ लोग मध्यरात्रि में साधना करते हैं। क्या इसका कोई विशेष महत्व है?

समाधान :- कुछ साधनाएँ मध्यरात्रि में करने से विशेष फलदायक होती हैं। पर ऐसा करने से पहले गुरु से इसकी आज्ञा लेनी चाहिए क्योंकि सभी साधनाएँ मध्यरात्रि में नहीं होती हैं। विशेषकर तन्त्रोक्त साधनाओं को ही मध्यरात्रि में करने का विधान है। कुछ साधनाओं को ब्रह्ममुहूर्त में करने का विशेष रूप से विधान किया गया है। इसलिए इस विषय में व्यक्तिगत रूप से विचार करना चाहिए।

****

प्राणायामं प्रत्याहारं नित्यानित्यविवेकविचारम्।
जाप्यसमेतसमाधिविधानं कुर्ववधानं महदवधानम्।।
(मोहमुद्गर-३०)

प्राणायाम, प्रत्याहार, नित्य और अनित्य वस्तुओं को अलग-अलग समझने के लिये शास्त्रानुसारी विचार और जप के सहित समाधि इन सभी साधनों का मुमुक्षु पुरुष को बड़ी सावधानी से जागरुक होकर अनुष्ठान करना चाहिये।



गुरुतत्त्व

जिज्ञासा :- किसी शिष्य की गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा है परन्तु कुछ विषयों में परस्पर वैचारिक मतभेद है तो क्या शिष्य अपराध का भागी होगा?

समाधान :- श्रद्धा तो ऐसी वस्तु है जो मतभेद को समाप्त कर देती है। फिर भी गुरु-शिष्य में यदि कोई वैचारिक मतभेद हो जाए पर वह कार्यरूप में परिणत न हो पाए अर्थात् शिष्य गुरु से किसी प्रकार का विवाद न करे तो वह अपराध का भागी नहीं बनेगा। उसमें श्रद्धा तो है पर विचार करने से बुद्धि में नहीं पट रहा है। सुरेश्वराचार्यजी की अपने गुरु आद्य शंकराचार्यजी के प्रति अटूट श्रद्धा थी फिर भी दोनों की प्रक्रियाओं में भेद दिखाई देता है। वस्तुतः प्रक्रिया अलग होने पर भी सुरेश्वराचार्यजी ने मूल सिद्धान्त का खण्डन नहीं किया है।

****

जिज्ञासा :- विषय स्पष्ट न होने पर शिष्य को गुरु से कई वार तर्क-वितर्क करना पड़े तो क्या वह कर सकता है?

समाधान :- विषय को समझने के लिये शिष्य गुरु से चर्चा कर सकता है चाहे वह जिज्ञासा हो या तर्क-वितर्क, पर गुरु से कभी कुतर्क नहीं करना चाहिए अर्थात् किसी सिद्धान्त को काटने के लिये अन्यायपूर्वक चर्चा नहीं करनी चाहिए।

****

जिज्ञासा :- यह प्रसिद्धि है कि गुरु के अन्दर जो संकल्पात्मिका वृत्ति है वह शिष्य के अन्दर प्रवेश करके उसके अज्ञान का नाश करती है। फिर शब्द को ज्ञान के लिये मुख्य प्रमाण क्यों कहा है?

समाधान :- गुरु के अन्दर जो ज्ञानात्मिका वृत्ति है वह नाद के रूप में

अभिव्यक्त होती है। वह नाद स्थान और प्रयत्न के सहयोग से मध्यमा और वैखरी वाणी के रूप में क्रम से बाहर प्रकट होगा। पहले वर्ण के रूप में, वर्ण से पद और पद से वाक्य बनेगा। वाक्य में एक अर्थ निहित होगा। वह वाक्य श्रोता के श्रोत्र से टकराएगा तब वह उसे ग्रहण करेगा। अब जो गुरु के अन्दर वृत्ति थी वह शिष्य में आ जाएगी। वही ज्ञानात्मिका वृत्ति है, वही संकल्पात्मिका वृत्ति है। इसी को कहा - **तत्संकल्पात्मिका तद्भाविता वृत्तिः।** इस प्रकार गुरु के अन्दर जो मानसी वृत्ति है वह श्रोता तक पहुँचने में कई प्रकार की प्रक्रिया से गुजरती है। इसलिये कहा - **न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।(वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड-१२३)** संसार में कोई भी ज्ञान ऐसा नहीं है जिसमें शब्द का अनुगमन न हो तथा कोई भी शब्द ऐसा नहीं है जिसमें ज्ञान का अनुगमन न हो। जब ज्ञान में शब्द का अनुगमन होता है तो वही शब्द के माध्यम से फिर ज्ञान रूप होता है। इस प्रक्रिया को अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- क्या गुरुमन्त्र देते समय गुरु के द्वारा शिष्य की परीक्षा करना अनिवार्य है? यदि है तो परीक्षा किस प्रकार करनी चाहिए?

समाधान :- शास्त्रों में मन्त्रदीक्षा से पूर्व शिष्य की परीक्षा पर बहुत बल दिया है। तन्त्रशास्त्र में तो विशेष तौर से बल दिया है। वहाँ कहा है-

परीक्षिताय दातव्यं वत्सरार्धोषिताय च। (योगिनीहृदय- १.५)

शिष्य की कम से कम छः महीने परीक्षा करके ही मन्त्र देना चाहिए। तन्त्रशास्त्र में और भी बताया है-

न देयं परशिष्येभ्यो नास्तिकेभ्यो न चेश्वरि।
न शुश्रुषालसानाञ्च नैवानर्थप्रदायिनाम्।।(योगिनीहृदय- १.३)

गुरु को देखना चाहिए कि किसी अन्य का शिष्य तो यह नहीं है। यदि अन्य जगह से दीक्षा ले रखी है तो पुनः मन्त्रदीक्षा लेने में इसका क्या प्रयोजन है? आजकल देखते हैं लोग गुरु बदलना भी एक फैशन के समान समझते हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है। जो शास्त्र की बात को नहीं मानता, उसमें कुतर्क करता है ऐसे व्यक्ति को भी

दीक्षा नहीं देनी चाहिए क्योंकि उसमें श्रद्धा का अभाव है जो उसे आगे नहीं बढ़ने देगा। किसी सेवा के लिये बोला तो बहाना बनाकर बच गया ऐसा व्यक्ति क्या साधना करेगा। इसलिये सेवा में आलस्य करने वाले व्यक्ति को भी दीक्षा नहीं देनी चाहिए।

कुछ लोग जानते हुए भी शास्त्र के अर्थ का अनर्थ करते हैं ऐसे लोग अपने लिये और अन्य लोगों के लिये बहुत घातक होते हैं। इस प्रकार के लोगों को मन्त्रदीक्षा नहीं देनी चाहिए। अन्य भी छोटी-बड़ी बहुत सी बातें हैं, उनका भी गुरु को अच्छी प्रकार से विचार कर लेना चाहिए। इसलिये कम से कम छः महीने तो देखना ही चाहिए।

आजकल तो लोग तर्क देते हैं कि श्रद्धावान् है तो बिना परीक्षा लिये ही दीक्षा दे सकते हैं। पर श्रद्धावान् है या नहीं, यह इतनी जल्दी कैसे जान लेंगे। इसलिये इन बातों पर विशेष रूप से विचार कर लेना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- शिष्य में साधनचतुष्टय-सम्पन्नता का निर्णय करना गुरु का कर्तव्य है या शिष्य का?

समाधान :- यह कर्तव्य दोनों का है। जब शिष्य वेदान्त-श्रवण के लिये गुरु के पास जाएगा तो उसे यह विचार करना पड़ेगा कि मैं वेदान्त-श्रवण का अधिकारी हूँ या नहीं। ऐसा निर्णय करके वह गुरु के पास जाएगा। तब गुरुजी उसकी परीक्षा लेंगे। एकाएक थोड़े ही उपदेश कर देंगे? कुछ दिन तक सेवा में रखेंगे। इससे उसकी परीक्षा हो जाएगी कि उसमें विवेक, वैराग्य इत्यादि हैं कि नहीं। सेवा में रखने का यही तो रहस्य है। नहीं तो कोई भी उपदेश के लिये चला जाएगा।

****

जिज्ञासा :- गुरु के साथ सत्संग करने से संसार की आसक्ति छूटती है। किसी की गुरु के प्रति आसक्ति हो जाए तो उसे क्या करना चाहिए?

समाधान :- यह बात समझ में नहीं आई कि गुरु के प्रति आसक्ति हो

जाती है। हाँ! यदि गुरु को शरीर ही मान रहे हैं तो हो सकती है। इसलिये गुरु को शरीर नहीं मानना चाहिए। **ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने।** इस श्लोक का रोजाना पाठ करने वाले भी चिन्तन नहीं करते कि ईश्वर, गुरु और आत्मा इन तीनों का स्वरूप एक है, ये तत्त्वदृष्टि से एक हैं। भले ही किसी को इनकी मूर्ति में भेद दिखाई दे। किसी ने गुरु को सच्चिदानन्द स्वरूप में नहीं देखा, सामान्य शरीरधारी के रूप में ही देखा है उसके बारे में तो हम कुछ नहीं कह सकते। नहीं तो गुरु का सङ्ग आसक्ति कैसे बढ़ा सकता है? शास्त्र कहता है -

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्॥
(मार्कण्डेय पुराण-३४.२३)

सङ्ग को सर्वथा त्यागना चाहिए। यदि नहीं त्याग सकते तो सज्जनों का सङ्ग करना चाहिए। वह सभी आसक्तिओं का त्याग करवाने वाला है। अतः गुरु और ईश्वर के प्रति जो आसक्ति है उसे भक्ति ही समझना चाहिए। वह बहुत लाभकारी सिद्ध होती है।

****

जिज्ञासा :- क्या गुरुजी के शरीर को अवलम्बन बनाकर ध्यान कर सकते हैं?

समाधान :- यद्यपि गुरुतत्त्व व्यापक है, ईश्वरतत्त्व और गुरुतत्त्व एक ही है, फिर भी गुरु कहते ही यदि आपका मन व्यक्तिविशेष में जाता है तो गुरुजी के शरीर को अवलम्बन बना सकते हैं। साथ-साथ गुरुजी का जो ज्ञान है, स्वभाव है, उनका जो प्रभाव है, उनकी जो महत्ता है, इन सब का भी चिन्तन करना चाहिए। यह भी चिन्तन करें कि हमारे जीवन में जो कुछ उत्कर्ष हो रहा है वह गुरुजी की कृपा से ही हो रहा है। ऐसा करने पर आपको गुरुतत्त्व से कृपा का अनुभव होने लगेगा।

****

जिज्ञासा :- गुरुकृपा को कैसे समझें?

समाधान :- शिष्य का सच्चा हित तो गुरु ही जानता है, दूसरा क्या जानेगा। इसलिये कभी-कभी गुरु का व्यवहार बहुत कठोर दिखता है तो भी श्रद्धालु शिष्य जानता है कि यह हमारे ऊपर बहुत बड़ी कृपा हो रही है। हमने अपने जीवन में स्वयं इसका अनुभव किया है। एक बार हम अपने महाराजजी के साथ उत्तरकाशी के आश्रम में ठहरे थे। वहाँ एक महीने तक हमें डाँटते ही रहे। उनका ऐसा स्वभाव हमने पहले कभी नहीं देखा था। गलती कोई भी करे, डाँट हमको ही पड़ती थी। हम ऊपर छत पर घूमते तो तुरन्त डाँट पड़ती थी। वे कहते, ''क्या धम-धम की आवाज करते हो। नीचे कोई महात्मा ध्यान-भजन कर रहा होगा तो उसको विक्षेप होगा या नहीं? चलना भी नहीं आता तुम्हें।'' इस तरह एक महीना डाँटते ही रहे।

आज उस घटना को याद करके हमको रोना आता है कि इतनी बड़ी कृपा हो रही थी! उस समय यह बात अनुभव में तो नहीं आती थी, पर श्रद्धा के कारण उसे सह लेता था इसलिये कोई दुर्भावना मन में नहीं आती थी, लेकिन कभी-कभी लगता था कि देखो बिना बात ही हमें डाँटते हैं। आज लगता है कि यह उनकी विशेष कृपा थी क्योंकि उनकी प्रकृति किसी को टोकने की नहीं थी। ब्रह्मचारी लोग ८ बजे तक सोए रहते थे तब भी कुछ नहीं बोलते थे।

इसी प्रकार उपमन्यु के ऊपर गुरुजी की विशेष कृपा हुई थी। वह बालक गाँव से भिक्षा लाकर गुरुजी को दे देता था और अध्ययन करके गाय चराने चला जाता था। गुरुजी उसे उस भिक्षा में से कुछ देते ही नहीं थे। १५ दिन बाद गुरुजी ने पूछा, ''तुझे तो मैं खाने के लिये कुछ देता नहीं, फिर तू मोटा-ताजा कैसे दिखता है?'' उसने कहा, ''गुरुजी, भूख लगती है तो फिर से भिक्षा माँग लेता हूँ।'' वे बोले,''गृहस्थ के ऊपर इतना भार डालना ठीक नहीं, अतः ऐसा मत करना।'' बालक मान गया पर भूख तो लगती ही थी। १५ दिन बाद गुरु ने फिर कहा, ''बेटा! तू दुबला तो नहीं हुआ। क्या खाता है?'' उसने जवाब दिया, ''गुरुजी, भूख लगती है तो गायों का दूध पी लेता हूँ।'' उन्होंने कहा, ''अरे! बहुत बड़ी गलती कर रहा है। दूध पर तो बछड़ों का अधिकार है, तेरा नहीं।''

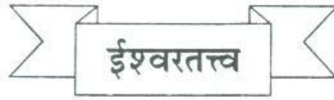
कहा,''गुरुजी, गलती हो गई।''

१५ दिन बाद फिर पूछा, ''तू अब तक स्वस्थ कैसे है?'' उसने कहा, ''बछड़े जब दूध पीते हैं तो उनके मुख से काफी झाग नीचे गिरते हैं। मैं उन्हें पत्तों पर इकठ्ठा करके खा लेता हूँ।'' गुरुजी बोले, ''अरे बेटा! बछड़े बड़े दयालु होते हैं। तुझे ऐसा करता देखकर वे अपने हिस्से का दूध नीचे गिरा देते हैं। तुझे ऐसा नहीं करना चाहिए।'' बालक ने आज्ञा का पालन किया। सब ओर से उसका भोजन बन्द हो गया।

उसे बहुत भूख लगी तो एक दिन मदार(आक) का फूल ही खा गया। फूल के जहर के प्रभाव से आँख से दिखना बन्द हो गया। एक जगह कुँए में गिर गया। इतना आज्ञापालन उस बालक ने कैसे किया होगा, कितनी श्रद्धा उसकी रही होगी! अब गुरुकृपा को देखो। गुरुजी उसे खोजते-खोजते उसकी आवाज सुनकर कुँए के पास पहुँचे और पूछा, तो उसने सब घटना बताई। गुरुजी ने उससे इन्द्रसूक्त का पाठ कराया। इन्द्र आए, उसे एक मालपूआ दिया और कहा इसको खा ले, सारी विद्याएं तुझे प्राप्त हो जाएंगी। उसने कहा, ''मैं गुरुजी को दिए बिना कुछ नहीं खाऊँगा।''

इन्द्र ने कहा, ''मैंने पहले तेरे गुरुजी को भी दिया था। उन्होंने तो अपने गुरु से पूछे बिना ही खा लिया था।'' उपमन्यु ने कहा, ''उन्होंने क्या किया यह मैं नहीं जानता पर मैं उन्हें दिए बिना खा नहीं सकता।'' उसकी निष्ठा और गुरुभक्ति से इन्द्र प्रसन्न हो गए। उसी समय सारी विद्या उसे प्राप्त हो गई। गुरु का व्यवहार ऊपर से तो बड़ा कठोर दीखता था, परन्तु इसे क्रूरता कहेंगे अथवा कृपा। डॉक्टर पेट फाड़ता है तो उसमें कृपा ही रहती है, क्रूरता नहीं। गुरु के किस व्यवहार में कैसी कृपा अनुस्यूत है इसे समझना बड़ा कठिन है। कोई श्रद्धालु गुरुभक्त ही इसे समझ सकता है।

****



जिज्ञासा :- शास्त्रों में ब्रह्माजी कि उत्पत्ति बताई गई है परन्तु शिवजी तथा विष्णुजी की नहीं। ऐसा क्यों ?

समाधान :- आपने एक पुराण में यह बात पढ़ी होगी। अठ्ठारह पुराण हैं उनमें बहुत स्थानों पर विष्णु तथा रुद्र की उत्पत्ति बताई गई है। यहाँ पर एक सिद्धान्त है जिसे समझना चाहिए। इसे समझे बिना संशय समाप्त नहीं होता। वैदिक वाङ्मय में एक मूल तत्त्व है, जिसे हम ब्रह्म कहते हैं। वह निर्गुण-निराकार है, पर व्यवहार में सृष्टि दिखाई देती है। जब यह जिज्ञासा होती है कि निर्गुण-निराकार ब्रह्म से यह सृष्टिरूपी बवण्डर कहाँ से उत्पन्न हो गया, तब यह स्वीकार करना पड़ता है कि यह उसमें रहने वाली मायाशक्ति से हुआ है। उसमें माया का आरोप करना पड़ता है।

उस मायोपाधिक ब्रह्म का नाम ईश्वर हो जाता है। ईश्वर भी सगुण-निराकार है, जबकि व्यवहार तो साकार में होता है। जैसे निराकार विद्युत से व्यवहार करने के लिये किसी साकार उपकरण की आवश्यकता होती है। वह ईश्वर व्यापक है, अनाम-अरूप है, परन्तु उस तक पहुँचने के लिये किसी नाम या रूप का आश्रय लेना ही पड़ता है। इसलिये शिवपुराण में उस ईश्वर का नाम शिव रख दिया तो विष्णु और ब्रह्मा की उत्पत्ति उससे बताई। इसी प्रकार विष्णुपुराण में उसका नाम विष्णु रख दिया तो शिव और ब्रह्मा की उत्पत्ति विष्णु से बताई। देवीपुराण में उसी का नाम देवी रख दिया तो इन तीनों की उत्पत्ति देवी से बताई। वस्तुतः उस ईश्वर के ही ये भिन्न-भिन्न नाम हैं। तब क्या कहा जाए कि किसकी उत्पत्ति हुई और किसकी नहीं हुई अथवा किससे किसकी उत्पत्ति हुई।

****

जिज्ञासा :- गीता के चतुर्थ अध्याय में कहा है -

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा.....सम्भवाम्यात्ममायया।(६)

इस श्लोक की आनन्दगिरि टीका में सगुण-साकार ईश्वर के शरीर को प्रातिभासिक कहा है। ऐसा कैसे हो सकता है ?

समाधान :- कौन सी बात किस प्रसंग में कही है इसे ध्यान में रखना चाहिए। वेदान्त का सिद्धान्त है कि एक ही मूल तत्त्व है, उसके अतिरिक्त किसी दूसरे की सत्ता है ही नहीं। नाम-रूप ही सृष्टि है। सृष्टि के पहले नाम-रूप का अस्तित्व नहीं है। जो भी नाम-रूप होगा वह प्रातिभासिक ही होगा क्योंकि वह माया के द्वारा कल्पित है। भगवान् भी कहते हैं- **प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया,** आत्ममायया सम्भवामि अर्थात् मैं अपनी माया के द्वारा प्रकट होता हूँ। जैसे लोक में भी कोई मायावी(जादूगर) अपनी माया के द्वारा जो भी वस्तु प्रकट करता है वह वास्तविक नहीं बल्कि प्रातिभासिक ही होती है, क्योंकि माया हटाते ही उसकी सत्ता नहीं रहती। प्रातिभासिक पदार्थ में आपको सत्यत्वबुद्धि हो जाए यही व्यवहार है।

जब एक ही सत्ता से सब सत्तावान् हो रहे हैं तो जितने भी दिखने वाले नाम-रूप हैं सभी प्रातिभासिक ही हैं। आनन्द गिरिजी ने सगुण-साकार ईश्वर के शरीर को प्रातिभासिक कहा उसमें यही दृष्टि है। वे यह भी कह सकते थे कि भगवान् का शरीर चिन्मय है। ऐसा कहने में भी कोई दोष नहीं होता। वह शरीर ब्रह्माजी की सृष्टि का नहीं है। ब्रह्मा की सृष्टि यदि व्यावहारिक है, पाञ्चभौतिक है तो वह शरीर चिन्मय हुआ। सारे जगत् को भी हम नाम-रूप की दृष्टि से मायिक या मिथ्या कहते हैं और अधिष्ठान-दृष्टि से यह भी कह सकते हैं कि सारा जगत् ब्रह्म है। इसलिये वेदान्त में हमेशा कहने वाले की दृष्टि को समझना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- ईश्वर तथा प्रकृति की सत्ता निरपेक्ष कही जाती है। यहाँ पर निरपेक्षता का क्या तात्पर्य है ?

समाधान :- जो अपने अस्तित्व के लिये दूसरे की अपेक्षा न रखे उसे

निरपेक्ष कहा जाता है। जैसे ईश्वर की प्रकृति से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत् की सत्ता उस ईश्वर से है। ईश्वर की सत्ता से ही सारा जगत् सत् मालूम पड़ता है। परन्तु ईश्वर को अपनी सत्ता सिद्ध करने के लिये किसी अन्य की आवश्यकता नहीं होती। इसलिये ईश्वर की सत्ता निरपेक्ष है। प्रकृति को वेदान्त में निरपेक्ष नहीं मानते। ईश्वर की सत्ता से ही प्रकृति की सत्ता मानते हैं। इसलिये वह स्वतन्त्र नहीं है। सांख्यमत वाले प्रकृति को भी निरपेक्ष मानते हैं, परन्तु यह मत वेदसम्मत नहीं है।

****

जिज्ञासा :- वेद को परमात्मा का निःश्वास कहने का क्या तात्पर्य है?

समाधान :- यहाँ पर निःश्वास कहने का तात्पर्य है कि परमात्मा के अन्दर जो ज्ञानराशी है वह सृष्टि के आदि में वेद के रूप में उससे स्वाभाविक ही प्रकट हो गई। जैसे रत्न में प्रकाश स्वाभाविक ही होता है, वह प्रयत्न करके प्रकट नहीं करता। ऐसे ही परमात्मा ज्ञानस्वरूप है, वेदस्वरूप है। उसका स्वभाव ही ज्ञान है, वेद उसका स्वभाव है। परमात्मा ने किसी प्रकार का प्रयत्न करके उसे प्रकट नहीं किया। जैसे हमारा प्रश्वास-निःश्वास बिना प्रयास चलता रहता है, उसी प्रकार सृष्टि के लय के समय वह ज्ञान(वेद) परमात्मा में विलीन हो जाता है और उत्पत्ति के समय बाहर प्रकट हो जाता है।

****

जिज्ञासा :- अद्वितीय परमात्मा से यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई?

समाधान :- आप जब सो जाते हैं तो स्वप्न कैसे उत्पन्न हो जाता है। वह जबरदस्ती ही कहीं से आ जाता है। यहाँ अन्तर इतना ही है कि आपके अन्दर उत्पन्न होने वाला स्वप्न आपके अधीन नहीं होता और परमात्मा में जो उत्पन्न होता है वह उसके अधीन होता है। आप भी चेतन हैं इसलिये स्वप्न में सब उत्पन्न कर लेते हैं। पर आपकी उपाधि अविद्या है, इसलिये वह भुला देती है कि आपने उत्पन्न किया। ईश्वर की उपाधि माया है और वह उसके अधीन रहती है। इसलिये ईश्वर की स्मृति का लोप नहीं होता। अतः वह जब चाहे सृष्टि प्रकट कर देता है

और जब चाहे लय कर लेता है।

****

जिज्ञासा :- भगवान् ने ऐसी सृष्टि क्यों की जो जीवों के बन्धन में हेतु बन गई?

समाधान :- भगवान् की सृष्टि जीव के बन्धन में हेतु नहीं है, अपितु जीव ने जो उसमें मिथ्या **मैं** और **मेरा** किया है, वही बन्धन में हेतु है। भगवान् ने सृष्टि की और जीव ने कहा यह **मेरा** है, तो वह इसमें फँसेगा ही।

एक बार एक व्यक्ति रेल से मद्रास पहुँचा। वहाँ पहुँचने पर रेल के डिब्बे में उसको एक लावारिस सन्दूक पड़ी दिखाई दी। वह उसके पास पहुँचा कि इतने में टी.टी.ई. आ गया और बोला, "यह सन्दूक किसका है?" तब उसने कहा, "मेरा है।" टी.टी.ई. ने पूछा, "लगेज करवाया है?" उसके ना करने पर टी.टी.ई. ने पचास रुपये लेकर लगेज बना दिया। अब उसने कुली को बुलाया और कुछ रुपये देकर वह सन्दूक उसके सिर पर रख दिया। इतने में सामने से एक पुलिसवाला आ गया। उसने पूछा, "इसमें क्या है?" तब कहा, कुछ नहीं घर का थोड़ा-सा सामान है। जब पुलिसवाले ने जाना कि उसमें बहुत वजन है तब कहा, "इसे खोलिए।" अब वह इधर-उधर चाबी खोजने लगा, पर चाबी कैसे मिलेगी! देखिए, शुरू से अभी तक झूठा ही नाटक कर रहा है। पुलिसवाले ने किसी प्रकार उस सन्दूक को खुलवाया तो देखा उसमें एक मुर्दा रखा हुआ है।

पुलिसवाले ने उसे पकड़ लिया। विचार कीजिए! यहाँ पर उसके पकड़े जाने में हेतु सन्दूक को कहा जाए या उसने जो मिथ्या **मेरा** किया, उसे। इसी प्रकार परमात्मा की सृष्टि में आप यदि **मैं** और **मेरा** करेंगे तो बँधेंगे ही।

****

जिज्ञासा :- कभी-कभी तो परमात्मा पर बहुत क्रोध आता है कि उसने ऐसी माया को क्यों बनाया जिसने सम्पूर्ण जगत् को बाँध रखा है। क्या यह ठीक है?

समाधान :- यह अज्ञान की महिमा है कि व्यक्ति अपनी गलती नहीं

मानता और दूसरे पर दोषारोपण करता है। आप माया में बँधे हैं तो परमात्मा का इसमें क्या दोष है, जिससे आपको उनपर क्रोध आ गया। जीव कर्म करता है और उसके बदले भोग चाहता है। भोग माया के बिना हो नहीं सकता। परमात्मा ने तो जिम्मेदारी ले रखी है कि तुम कर्म करो, मैं तुम्हारी कामना के अनुसार फल दूँगा। ऐसे में परमात्मा को माया की रचना करनी पड़ती है। आप अपनी कामनाओं को समेटो तो माया का आप के लिये कोई काम नहीं रहेगा और न वह आपको बाँध पाएगी।

****

जिज्ञासा :- क्या भगवान् की कृपा न होने पर भी कोई केवल पुरुषार्थ करके परमार्थ में आगे बढ़ सकता है?

समाधान :- पहले तो यह बताओ कि असम्भव की सम्भावना क्यों मान रहे हो? भगवान् की कृपा क्यों नहीं होगी? इसमें कोई कारण बता सकते हो? अरे! उसकी कृपा तो चौबीस घण्टे बरसती रहती है। क्या सूर्य किसी के बारे में सोचता है कि मैं अपनी प्रकाश-किरणें उस पर नहीं डालूँगा। फिर भी कोई छतरी लेकर चले तो सूर्य क्या कर सकता है? इसलिये भगवान् की कृपा को धारण करने वाला होना चाहिए। उसके लिये कर्म करना पड़ेगा, पुरुषार्थ करना पड़ेगा। फिर कृपा के लिये कहीं जाना नहीं पड़ेगा।

****

जिज्ञासा :- दुर्गा सप्तशती में कहा गया है -

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।।(१.५५,५६)

तो क्या ज्ञानी के चित्त को भी भगवती मोह में डाल देती है?

समाधान :- भगवती महामाया सबका चित्त तो हर ही रही है उसमें तुम क्या करोगे? पर इस श्लोक में ब्रह्मज्ञानी के लिये नहीं कहा गया। यहाँ ज्ञानी का अर्थ है शास्त्र पढ़ा-लिखा पण्डित। ऐसे बड़े-बड़े पण्डितों के चित्त का हरण तो भगवती कर ही रही है। वे लोग अपनी विद्या को पैसे के लिये बेच रहे हैं। दूसरों

का पैसा लेकर उनके कल्याण के लिये तो अनुष्ठान करते हैं पर अपने लिये कभी नहीं कर पाते। स्वयं गरीब ही रह जाएंगे पर सेठों को धनी बनाने के लिये अनुष्ठान कर देते हैं। यह सब महामाया का ही प्रभाव है।

****

जिज्ञासा :- क्या भगवान् को भी कभी क्रोध आता है, वे भी दुःखी होते हैं?

समाधान :- हाँ! भगवान् को भी क्रोध आता है और वे दुःखी भी होते हैं परन्तु जीवों के समान नहीं, उसमें हेतु दूसरा है। गीता में एक जगह भगवान् ने कहा है -

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।(९.११)

भगवान् बड़े आक्रोश से कहते हैं कि, "इन जीवों की बुद्धि को इस जगत् ने खा लिया है। मुझ परमात्मा को भी ये शरीर वाला मानते हैं। मुझे भी शरीर बना दिया। समझते हैं कि यह वसुदेव का लड़का है।" भाष्यकार भगवान् ने गीताभाष्य में एक जगह लिखा है- **एवंभूतमपि परमेश्वरं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वभूतात्मानं निर्गुणं संसारदोषबीजप्रदाहकारणं मां नाभिजानाति जगद् इति अनुक्रोशं दर्शयति भगवान्।(७.१३)** देखो! भगवान् कहते हैं कि मैं शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला हूँ, सब प्राणियों की आत्मा हूँ, निर्गुण हूँ, संसार के बीज अज्ञान को नष्ट करने वाला हूँ। ऐसा होने पर भी यह मनुष्य मुझे शरीर समझता है। मुझे नहीं जानता तो अपने को क्या जानेगा?

जगत् में भी माता-पिता बच्चे के हितैषी होते हैं। उन्हें कभी-कभी बच्चे पर क्रोध आता है कि हम इसके जीवन को दिव्य बनाना चाहते हैं, इसके हित की बात कहते हैं पर उसे मानता ही नहीं और जो इसके जीवन को कुसंग में डालकर नाश करने वाले हैं उन्हीं की बात सुनता है। इसी प्रकार भगवान् को भी क्रोध आता है कि देखो! इस जीव के हित के लिये इतना उपदेश किया पर यह मानता

ही नहीं। उल्टे मेरा ही अपमान करता है। मुझे भी जीने-मरने वाला समझता है।

भागवत में प्रसंग आता है कि जब उद्धव भगवान् से अन्तिम उपदेश प्राप्त करके प्रभास से चले तो वृन्दावन में विदुर से भेंट हुई। दोनों भक्त रातभर भगवत्-चर्चा करते रहे। बीच में उद्धव रो पड़े कि देखो! भगवान् को कोई समझ ही नहीं पाया। उन्होंने एक दृष्टान्त दिया कि समुद्र-मन्थन से चन्द्रमा निकला और उसे शिवजी ने अपने सिर पर धारण किया। जब वह समुद्र में था तब मछलियों ने कभी नहीं समझा कि यह चन्द्रमा है। यही समझती थीं कि यह भी हम जैसी एक मछली है, थोड़ी चमकदार है। इसी प्रकार यादव लोग भी कृष्ण के बारे में यही समझे कि यह भी एक यादव है, थोड़ा चमकदार है। यदुवंश में कोई भगवान् को समझ ही नहीं पाया।

भगवान् ने मनुष्य शरीर इसलिये दिया है जिससे यह अपने मैं को जान ले, भगवान् को पहचान ले। पर मनुष्य खाने-पीने में ही लगा हुआ है। अपने लक्ष्य को पाने के लिये उसके पास फुर्सत ही नहीं है। यह देख कर भगवान् भी दुःखी हो जाते हैं।

****

जिज्ञासा :- पतितपावन कैसे रीझें?

समाधान :- पतितपावन की आज्ञा का पालन करोगे तो वे रीझ जाएँगे। भावपूर्वक उनकी आज्ञा का पालन करते रहो।

****

जिज्ञासा :- राम चरित मानस में कहा है -

जिन्ह कें कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह कें हृदय बसहु रघुराया।।

(अयोध्या-१२९.१) क्या अन्य लोगों के हृदय में भगवान् नहीं रहते?

समाधान :- भगवान् ने जब वाल्मीकीजी से पूछा कि हम चित्रकूट में कहाँ रहें, तो उस प्रसंग में यह चौपाई आई है। भगवान् तो सभी के हृदय में हैं पर उनको वही लोग पहचान पाते हैं जिनमें कपट, दम्भ और माया नहीं है। जिनमें कपट आदि हैं वे नहीं पहचान सकते। देखो! कृष्ण को द्वारिका के लोग नहीं

पहचान पाए परन्तु ब्रज के लोगों ने पहचान लिया। भगवान् तो कण-कण में हैं, जिसमें योग्यता होगी वह पहचान लेगा, चाहे वह भाव की योग्यता हो या ज्ञान की। उसी के हृदय में भगवान् का विशेष प्रकाश होता है।

****

जिज्ञासा :- भगवान् व्यापक हैं, सबके हृदय में बैठे हैं। भगवान् के हृदय में रहते हुए भी मनुष्य मांस क्यों खाते हैं?

समाधान :- प्रश्न बड़ा विलक्षण है। हृदय में भगवान् रहे और मनुष्य मांसाहारी हो जाए यह कैसे हो गया? अब भगवान् तो बाघ के हृदय में भी है पर उसका भोजन तो मांस ही है, क्या किया जाए! पर यहाँ प्रश्न तो मनुष्य के विषय में है। तुलसीदासजी भी ऐसा ही एक प्रश्न करते हैं -

ब्यापकु एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँदरासी।।
अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।।

(मानस बाल.- २२.३)

आनन्द का सागर परमात्मा हृदय में बैठा है और जीव दुःखी हैं, बड़ा आश्चर्य है! व्यवहार में देखते हैं कि कोई चीज रहने मात्र से लाभ नहीं होता, उसका ज्ञान होना चाहिए। भगवान् ने आपको आँख दी है जो करोड़ रुपये में भी नहीं मिल सकती। इतनी बड़ी सम्पत्ति आपके पास है पर आपके सुख प्राप्ति में कोई सहायता नहीं दे रही क्योंकि उसके महत्त्व का ज्ञान ही नहीं है। भगवान् पतञ्जलिजी भी कहते हैं - **आनन्दसिन्धौ हि सर्वोऽपि लोको मग्नोऽपि नाचामति नेक्षते च।** एक आनन्द सागर में सभी डूबे हैं परन्तु दृष्टि उधर नहीं है, दृष्टि बाहर है। बाहर रेगिस्तान है। वहाँ सूर्य की किरणें पड़ रही हैं तो जल की धारा दिखाई दे रही है। लोग सोचते हैं कि उस पानी से हमारी प्यास बुझ जाएगी। वहाँ से प्यास कैसे बुझेगी? **आश्चर्यमेतद् मृगतृष्णिकायामेवाम्बुराशौ रमते मृषैव।** जहाँ पर खड़े हैं उस सागर में अनन्त जन्मों की प्यास बुझा देने की ताकत है, पर उधर ध्यान ही नहीं है। यही आश्चर्य है। मृग दौड़ते-दौड़ते मर जाता है पर पानी नहीं मिलता। जगत् में दौड़ते-दौड़ते यह जीव भी मर जाता है पर सुख प्राप्त

नहीं करता जबकि सुख इसके हृदय में है। तात्पर्य यह है कि भगवान् के रहने पर भी जब तक उसका ज्ञान नहीं है, तब तक लाभ नहीं होता।

अब कहो कि ज्ञान का क्या काम, भगवान् है तो उसे मन को सुधार देना चाहिए। अरे! ऐसा नहीं होता। चिन्तामणि पास में हो, पर तुम कोई संकल्प न करो तो फल प्रकट नहीं होगा। तुम संकल्प करोगे तभी फल मिलेगा। कोई कहे भगवान् दयालु है, उसे हमारे चाहे बिना भी मन को सुधारना चाहिए तो तुम्हारा नियम भगवान् पर नहीं चलेगा क्योंकि जगत् जैसा तुमको दिखता है वैसा परमात्मा को नहीं दिखता। परमात्मा के ज्ञान में तो तुम्हारे पास कोई समस्या ही नहीं है, केवल अज्ञान से समस्या लाद रहे हो। उसको तो दिख रहा है कि न तो कोई मर रहा है, न कोई जी रहा है, न कोई मार रहा है, न मरवा रहा है, सब जीव माया से स्वप्न देख रहे हैं। भगवान् तो अपनी ओर से तब करे जब उसे कोई समस्या दिखे। अतः वह शान्त रहता है।

जब हम भगवान् के अस्तित्व को स्वीकार करके जागना चाहते हैं तब वह हमारी सहायता कर देता है। जब जीव आँखें बन्द ही रखना चाहता है तो भगवान् भी चुप रहता है। इसी प्रकार समझना चाहिए कि मांसाहारी व्यक्ति जब तक मांस के दोष को समझ कर उसे छोड़ना नहीं चाहेगा तब तक हृदय में बैठा भगवान् चुप ही रहेगा। जीव की प्रवृत्ति में हेतु उसके संस्कार हैं, अन्दर बैठा भगवान् नहीं है।

****

जिज्ञासा :- ईश्वर ही हिरण्यगर्भ बना है अथवा कोई जीव कर्म और उपासना के फलस्वरूप हिरण्यगर्भ बनता है?

समाधान :- एक बात समझकर रखना चाहिए कि उपाधि को लेकर जो भी चेतन उत्पन्न होता है उसका नाम जीव है। ईश्वर को तो उत्पन्न करने वाला कोई दूसरा है नहीं, वह तो कभी जीवकोटि में नहीं आ सकता। हाँ! हिरण्यगर्भ को उत्पन्न करने वाला ईश्वर है, वह उसका प्रथम संकल्प है। उसकी उपाधि सूक्ष्म पञ्चमहाभूत है, वही उसका शरीर है। इसलिये उसे प्रथम शरीरी कहा जाता

है। उत्पन्न होने से हिरण्यगर्भ को जीव कहा जाता है। इसलिये जहाँ अवतारों की उत्पत्ति की चर्चा आती है वहाँ भाष्यकार भगवान् **उद्भूत इव** ऐसा कहते हैं। उत्पन्न हुआ सा मालूम पड़ता है, परन्तु वास्तव में उत्पन्न होता नहीं। अतः अवतार जीवकोटि में नहीं आता। शास्त्र में जैसा बताया गया है उस प्रकार से कर्म और उपासना यदि कोई जीव कर लेता है तो वह अगले कल्प में हिरण्यगर्भ पद को प्राप्त कर लेता है। यह सर्वोच्च पद है, जीव के अभ्युदय की अन्तिम सीमा है। वह प्रथम उद्भव है इसलिये बाकी सब का कारण बन जाएगा। उसका जो शरीर है वही हम सब के सूक्ष्मशरीरों का कारण है। इसलिये सामर्थ्य की दृष्टि से उसमें ईश्वरत्व भी है। उसकी उपाधि हमसे बहुत बड़ी और शुद्ध है।

****

जिज्ञासा :- भगवान् राम कहाँ रहते हैं?

समाधान :- राम कहाँ नहीं रहते? शास्त्र में कहा है कि यह जगत् कार्य है और राम उसके कारण। श्रुति कहती है कि नाम-रूप ही जगत् है और यह उत्पन्न होने के पहले भी था पर जिस रूप में हम देखते हैं उस रूप में नहीं था। घड़ा उत्पन्न होने से पहले भी था पर घड़ारूप में नहीं, मिट्टीरूप में था। वही मिट्टी घड़े के रूप में प्रतीत हो रही है, मिट्टी के अतिरिक्त घड़ा नाम की कोई वस्तु नहीं है।

एक व्यक्ति कुम्हार के घर के सामने से जा रहा था। कुम्हार ने बर्तन बनाने के लिये मिट्टी का ढ़ेर तैयार करके रखा था। व्यक्ति की उसपर दृष्टि पड़ी और वह आगे चला गया। शाम को लौटा तो वह ढ़ेर दिखाई नहीं दिया। कुम्हार से पूछा - वह ढ़ेर कहाँ गया? कुम्हार ने उस ढ़ेर से बर्तन बना दिए थे। उसने उनकी ओर इशारा करके कहा - यही है। रात में बरसात हो गई तो सारे बर्तन गल गए। कुम्हार ने उन्हें इकट्ठा करके फिर मिट्टी का ढ़ेर बना दिया। सुबह वह व्यक्ति फिर आया तो पूछा - वे बर्तन कहाँ गए? कुम्हार ने मिट्टी की ओर इशारा करके कहा - यही हैं। पूछा मिट्टी के विषय में तो दिखाया बर्तनों को और पूछा बर्तनों के विषय में तो दिखाया मिट्टी को। इसका अर्थ है कि मिट्टी से अलग बर्तन

वास्तविक वस्तु नहीं है। **वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। (छान्दो.उप.- ६.१.४)**

वास्तविक दृष्टि से कारण के अतिरिक्त कोई कार्य नहीं है। इसी प्रकार जगत् राम का संकल्प है इसलिये राम के अतिरिक्त उसका अस्तित्व नहीं है। शिवमहिम्नः स्तोत्र में भी कहा है - **न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि।(२६)** हे महादेव! हम तो जगत् में वह तत्त्व जानते ही नहीं जो आप न हो। एक कण भी आप से भिन्न नहीं है। चाहे उसे राम कहो या शिव। सब रूपों में वही दिखाई दे रहा है। इसलिये राम सर्वत्र हैं।

****

जिज्ञासा :- यह बात लोकप्रसिद्ध है कि ईश्वर बड़े दयालु हैं और यह भी प्रसिद्ध है कि ईश्वर जीव को उसके कर्मानुसार फल देता है। यहाँ ईश्वर में दयालुता का क्या सम्बन्ध है, जैसे कोई जज न्यायालय में न्याय करता है तो उसे दयालु तो नहीं कहते ?

समाधान :- कर्मी के लिए तो ईश्वर जज के समान है और भक्त के लिए माता-पिता के समान है। जैसे जज न्यायालय में खड़े अभियुक्त का न्याय बिना पक्षपात किये करता है, चाहे उसे फाँसी दे अथवा बरी करे। पर पुत्र से कोई गलती हो जाए तो माता-पिता उसे घर से नहीं निकालते। वे थप्पड़ भी मारें तो भी उनका हृदय दया से ओतप्रोत रहता है। इसी प्रकार ईश्वर अपने भक्त को उसके कर्मफल का भोग करवाता है तब भी उसका हृदय भक्त के प्रति दया से ओतप्रोत ही रहता है।

दूसरी बात, ईश्वर की दयालुता सभी के प्रति इस बात से भी सिद्ध होती है कि उसने आपको शरीर बनाकर दिया और वही आपका श्वास चला रहा है। उसके बदले वह आपसे कुछ भी नहीं चाहता है। फिर भी कर्म का फल देनेवाला होने से ईश्वर में दयालुता आपको नहीं दिखाई दे रही है, तब कोई क्या कर सकता है! उसमें सभी के प्रति स्वाभाविक ही दया है। बालक के उत्पन्न होने से पहले माता के स्तनों में दूध भर देता है। कितनी चिन्ता है उसको! वह कुछ न

चाहते हुए भी भक्त को संसार से मुक्त करने हेतु प्रतिज्ञा कर लेता है –

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।(गीता-१२.८)
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।(गीता-१२.६)
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्.........(गीता-१२.७)
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।(गीता-१८.६६)

यहाँ पर कहाँ कर्म हैं! इस प्रतिज्ञा में दया के अतिरिक्त और क्या हेतु हो सकता है! उस परमात्मा की अनुग्रहशक्ति जीवों के कल्याण के लिए निरन्तर योजना बनाती रहती है अन्यथा किसमें सामर्थ्य है कि उसकी माया का पार पा सके! अतः ईश्वर की दयालुता के प्रति किसी प्रकार का संशय नहीं करना चाहिए।

****

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति।।
(श्वेताश्वतर उप.- ४.१४)

अव्याकृत से भी सूक्ष्म, अविद्या और उसके कार्यरूप दुर्गम स्थान में स्थित, सम्पूर्ण जगत् के सृष्टिकर्ता, अनेक रूप वाले और अपने स्वरूप से विश्व को व्याप्त करके स्थित परमात्मा शिव को जानकर जीव परम शान्ति प्राप्त करता है।

सन्त तथा सत्सङ्ग

जिज्ञासा :- आजकल कुछ महात्माओं के नाम के साथ भगवान् शब्द जुड़ा हुआ देखा जाता है। क्या यह उचित है?

समाधान :- भक्त लोग किसी महात्मा के नाम के साथ भगवान् शब्द जोड़ देते हैं तो महात्मा क्या कर सकता है। उनकी श्रद्धा है। गुरु तथा श्रेष्ठ पुरुषों के लिये भगवन् सम्बोधन सुना भी जाता है। पर यदि कोई महात्मा स्वयं अपने नाम के साथ भगवान् जोड़ता है तो उसे पहले यह जान लेना चाहिए कि भगवान् का लक्षण क्या है। फिर वे लक्षण अपने अन्दर घटा कर देखना चाहिए। यदि वे लक्षण विद्यमान् हैं तो वह अपने नाम के साथ भगवान् शब्द जोड़ सकता है। शास्त्र में भग शब्द ऐश्वर्यादि छः अर्थों में प्रयुक्त होता है -

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीङ्गना ।।(विष्णुपुराण-६.५.७४)

इन छः में से एक, दो, तीन या चार नहीं बल्कि छः के छः जिसमें हों वही भगवान् हो सकता है।

****

जिज्ञासा :- महापुरुष किसी शिष्य को सुविधा देते हैं और किसी को उससे वञ्चित रखते हैं। इसका क्या कारण है?

समाधान :- दो प्रकार की सुविधाएं होती हैं। एक व्यावहारिक सुविधा और दूसरी पारमार्थिक सुविधा। आप किस सुविधा की बात कर रहे हैं? यदि वह साधक है तो उसका लक्ष्य परमार्थ ही है। ऐसे में यदि वह व्यावहारिक सुविधा चाहता है तो बहुत विचारणीय बात है क्योंकि व्यावहारिक सुविधा जगत् के रस से सम्बन्धित होती है। इसलिये चाहे वह गुरुजनों से मिल रही हो या किसी अन्य

जगह से, वह परमार्थ मार्ग के लिये बाधक ही होती है। यह हमने अनुभव करके देखा है कि व्यावहारिक सुविधा महापुरुषों से भी कभी मिली हो तो वह जीवन में आगे बढ़ाने वाली सिद्ध नहीं हुई। पारमार्थिक सुविधा किस प्रकार से शिष्य को दी जाती है यह महापुरुष ही जानते हैं, दूसरा नहीं समझ सकता।

हमने अनुभव करके देखा कि महापुरुषों ने जीवन में कभी डाँटा, सावधान किया, किसी तपस्या के लिये लगाया अथवा हमारे मन के प्रतिकूल हमें चलाया उस समय भले ही हमको वह बात समझ में नहीं आई पर अन्त में हमने देखा, ओहो! यह तो उनकी बड़ी भारी कृपा थी। एक बार उत्तरकाशी में मैं महाराजजी की सेवा में था। प्रायः वे किसी को डाँटते नहीं थे, पर उस समय मुझे दिनभर डाँटते रहते थे। चलते समय मेरे पैरों से यदि थोड़ी भी आवाज होती तो मुझे बुलाकर बोलते -''देखो! तुम धम्म से आवाज करते हो, यह विचार नहीं करते कि कोई महात्मा ध्यान कर रहे हैं। उनको जो विक्षेप होगा उसका दोष किसको लगेगा? चलते समय यह विचार क्यों नहीं करते कि जहाँ मैं पैर रखता हूँ वहाँ भगवान् हैं। तुम साधक हो तुम्हें इस प्रकार की सावधानी सतत रखनी चाहिए कि जहाँ मैं पैर रख रहा हूँ वहाँ भगवान् हैं।'' उस समय श्रद्धा थी, सुन लेता था पर मन को उतना अच्छा नहीं लगता। आज यह बात समझ में आती है की उनकी डाँट में कितनी कृपा थी।

इसलिये महापुरुष इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं कि पारमार्थिक सुविधा किसे देना है और व्यावहारिक सुविधा किसे देना है। दूसरी बात व्यक्ति का अपना प्रारब्ध भी होता है। वह जहाँ जाता है वहाँ उसके प्रारब्ध के अनुसार व्यावहारिक सुविधा मिल जाती है। उसने आज नहीं तो पहले कभी वैसी कामना की होगी।

****

जिज्ञासा :- मैं बहुत वर्षों से वेदान्त का प्रवचन सुनता हूँ। यथाशक्ति जप-चिन्तन करता हुआ जगत् की परीक्षा करता रहता हूँ तो कोई विरक्त साधु नहीं दिखता। फिर अपना आदर्श किसे मानें?

समाधान :- आप जगत् की परीक्षा मत कीजिए, स्वयं की परीक्षा कीजिए, आत्मपरीक्षा कीजिए। आप कह रहे हैं, ''मुझे कोई विरक्त साधु दिखाई नहीं दिया।'' विरक्त साधु दिखाई देने से आप को क्या लाभ होगा? आप यह देखिए, इतने सालों से वेदान्त का चिन्तन कर रहे हैं तो आपके अन्दर विरक्ति आई है या नहीं। रही बात विरक्त सन्त की, आपने कहीं एक तो देखा होगा। नहीं भी देखा है तो किसी विरक्त के विषय में सुना होगा। आप उसे आदर्श मान सकते हैं। दुनिया की परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। सन्त के सत्संग में जो आप सुनते हैं उसका पालन कीजिए। उसका व्यवहार क्यों देखते हैं।

समावर्तन संस्कार में गुरु शिष्य को कहता है- ''देखो! मेरा जो व्यवहार शास्त्र के अनुकूल हो उसको मानना और जो शास्त्र के अनुकूल न हो उसको नहीं मानना। हो सकता है किसी परिस्थितिवश या दवाई के रूप में मैं कोई चीज ग्रहण करूँ जो शास्त्रसम्मत न हो। मुझे देखकर तुम वह वस्तु ग्रहण मत करना।'' इसलिये सन्त के आचरण की परीक्षा न करें। यह तो उन्हीं पर छोड़ दें।

****

जिज्ञासा :- जल में नग्न स्नान करना शास्त्र-निषिद्ध है किन्तु कुम्भ मेले में नागा संन्यासी नग्न स्नान करते हैं। क्या यह परम्परा उचित है?

समाधान :- परमहंस संन्यासी जब वस्त्र ही नहीं पहनता तो वह नग्न स्नान ही करेगा। संन्यास संस्कार के समय संन्यासी जल में खड़ा होकर सम्पूर्ण वस्त्रों का त्याग कर देता है। बाद में गुरु उसे लोकमर्यादा के लिये वस्त्र देता है। इसलिये अनेक विरक्त महात्मा कहते हैं कि संन्यासी को नग्नस्नान में कोई दोष नहीं है। जो अखाड़ों के नागा साधु होते हैं वे हमेशा नग्न ही रहते हैं। वे भभूति लगाकर रहते हैं, इसलिये वही उनका वस्त्र है। वे जल में तो क्या बाहर भी नग्न ही निकलते हैं और दुनिया बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से उन्हें देखती है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि शाही स्नान में नागाओं को नग्न अवस्था में नहीं निकलना चाहिए। आज के युग में नग्न पुरुष को देखने से स्त्री का मन बिगड़ेगा। परन्तु हमारा तो अनुभव है कि जनता उनका दर्शन बहुत श्रद्धा से करती हैं। यह श्रद्धातत्त्व बहुत

विलक्षण होता है। हमने कई वर्षों तक उत्तरकाशी में देखा कि अवधूत महात्मा जा रहे हैं, सामने से माताएँ और लड़कियाँ आ रही हैं, परन्तु उन्हें देखकर उनके मन में कहीं भी विकार नहीं आता था। चित्त श्रद्धा से अभिभूत हो जाता था। नागाओं के शाही स्नान को देखने का बहुत बड़ा पुण्य भी माना जाता है।

****

जिज्ञासा :- महात्माओं में प्रसिद्धि है - **युक्ति से मुक्ति।** इसका क्या तात्पर्य है?

समाधान :- हाँ! बात तो ठीक है। कई परिस्थितियों में हठ से मुक्ति नहीं मिलती, किसी युक्ति से ही मुक्ति मिल पाती है। एक गाँव के बाहर एक साधु रहते थे। गाँव का एक युवक उनसे धीरे-धीरे सम्बन्धित हो गया। उसके माता-पिता नहीं थे, बड़े भाई-भाभी थे। वह दिन भर खेती में काम करता और शाम को सत्संग के लिये महात्मा के पास आ जाता था। साधुता के जीवन के प्रति उसका लगाव बढ़ गया, घर-बार से मन हट गया तो वह महात्मा से दीक्षा लेने के लिये तैयार हो गया। उसके भाई ने सोचा यह तो खेती में सब काम करता है, साधु बन गया तो अपने हाथ से चला जाएगा। उसने पंचायत बैठा ली और कहा- यह साधु गाँव का अन्न खाता है और हमारे लड़के को ही साधु बना रहा है। यह तो गलत बात है।

लोगों ने उसकी बात का समर्थन किया तो महात्मा घबरा गए। उन्होंने कहा तुम ले जाओ अपने लड़के को, हम तो किसी और गाँव में चले जाएंगे। जाने से पहले उन्होंने लड़के के कान में एक सूत्र छोड़ दिया। लड़का भी खुशी से घर चला गया। घर पर पहले से भी अधिक काम करने लगा। परन्तु जब भी कोई माँगने वाला घर पर आ जाता तो उसे खूब सामान दे देता। ६ महीने में उसके भाई ने कहा कि भइया तुझे साधु बनना हो तो बन जा, मेरा घर बर्बाद मत कर। अब देखो! आज्ञा मिल गई या नहीं। बिना युक्ति के मुक्ति नहीं मिलती है।

इसी प्रकार किसी गाँव का एक युवक वैराग्य होने पर घर छोड़कर चला गया और एक महात्मा का शिष्य बन गया। एक साल बाद उसके गुरुजी ने किसी

कार्य से उसे उसके गाँव भेजा। उस गाँव के लोग बड़े विद्वान् तथा कर्मकाण्डी थे। उसके आने पर पंचायत बैठ गई, लोग उसे कहने लगे माता-पिता की सेवा छोड़कर, उन्हें दु:खी करके कोई साधु बने तो इससे क्या लाभ होगा? शास्त्र में ऐसा कहाँ लिखा है? शास्त्र में तो यही लिखा है कि पुत्र को माता-पिता की सेवा करनी चाहिए। पहले तो वह घबरा गया। फिर भगवान् का स्मरण किया तो बुद्धि में एक युक्ति आ गई। उसने खड़े हो कर कहा- शास्त्र केवल मेरे लिये नहीं है, आप सब को भी शास्त्र की बात माननी चाहिए।

पण्डित लोग नाराज हो गए। बोले- हम तो शास्त्र के अनुसार ही चलते हैं। सन्ध्योपासना, अग्निहोत्र, देवपूजन, उपासना सब कुछ शास्त्रीय विधि से करते हैं। साधक ने कहा - शास्त्र में तो यह भी लिखा है कि जब व्यक्ति की आयु ५० वर्ष से अधिक हो जाए, घर की जिम्मेदारी समाप्त हो जाए तो उसे वानप्रस्थ-आश्रम स्वीकार करके जंगल में जाकर तपस्या करनी चाहिए। यहाँ जितने लोग इस प्रकार के हैं वे कल हरिद्वार चले जाएं और मैं यहाँ रहकर बाकी लोगों की सेवा करूँगा। यदि आपलोग नहीं जाएंगे तो आपके बदले तपस्या करने मुझे ही जाना पड़ेगा। अब बताओ घर छोड़ने के लिये कौन तैयार होगा! उसे साधु बनने की आज्ञा मिल गई। यही है युक्ति से मुक्ति।

****

जिज्ञासा :- कथा-सत्संग किस प्रकार से सुनें जिससे जीवन में लाभ हो?

समाधान :- तुलसीदासजी ने कहा है - **श्रोता बकता ग्याननिधि कथा राम कै गूढ़।(मानस बाल.-३०)** वक्ता तो ज्ञान की निधि अर्थात् ज्ञान का खजाना होना ही चाहिए तभी वह आपके सब संशयों को दूर कर सकेगा। पर साथ में श्रोता भी ज्ञाननिधि होना चाहिए। **ज्ञानं निधिर्यस्य** अर्थात् ज्ञान को ही निधि(खजाना) समझने वाला होना चाहिए। उसके लिये ब्रह्माण्ड में दूसरी कोई निधि ही न हो। जब ऐसा होगा तो वह कथा का एक अक्षर भी नहीं भूलेगा।

काशी में गंगाजी के दूसरी ओर रामनगर में एक महात्मा कथा कर रहे थे।

प्रतिदिन जब काशी नरेश पहुँच जाते तो महात्मा कथा शुरु कर देते थे। एक दिन राजा पहुँच गए पर महात्मा ने कथा शुरु नहीं की। राजा ने इशारा किया, स्वामीजी! कथा आरम्भ करें। महात्मा ने कहा, ''अभी श्रोता आने वाला है।'' राजा सहित सभी लोगों के मन को धक्का लगा कि क्या हम लोग श्रोता नहीं हैं? इतने में एक व्यक्ति जो कभी भी देर नहीं करता था दौड़ते हुए आ गया। उस दिन उसे किसी विशेष कारण से दो मिनिट की देरी हो गई थी। उसके पहुँचते ही महात्मा ने कथा आरम्भ कर दी। कथा पूर्ण होने पर राजा ने पूछा, ''स्वामीजी! आपने कहा था कि श्रोता अभी आया नहीं। हम लोग जो बैठे थे क्या श्रोता नहीं थे?''

महात्मा ने कहा,''आपकी बात तो ठीक है, परन्तु आप लोग यह बताइए कि तीन दिन पहले हमने कौन सी कथा कही थी?'' अब सभी लोग सिर खुजलाने लगे, तीन दिन पहले क्या बोले थे यह किसे ध्यान था। जब कोई नहीं बोला तो महात्मा ने उस व्यक्ति को खड़ा किया और उससे वही प्रश्न किया। उसने झट बोलना शुरु कर दिया ''पाँच दिन पहले आपने यह कथा कही थी, चार दिन पहले यह कही थी, तीन दिन पहले यह, दो दिन पहले यह, कल यह और आज यह कथा सुनाई है।'' महात्मा ने कहा, ''आप सभी लोग देख लो कि श्रोता कौन है?''

सत्संग में जो सुना है उसे जब आप धारण करेंगे तभी उसका मनन कर पाएंगे। यदि धारण नहीं करेंगे तो उसका मनन नहीं होगा, फिर निदिध्यासन का तो सवाल ही नहीं उठता। कथा ठीक से सुनी इसकी परीक्षा यही है कि सुनने के बाद जब आप बाहर निकलते हैं तो वही बात आपके मन में घूमती है अथवा कोई अन्य बात आ जाती है। यदि वही बात घूमे तो उसे आप याद रख पाएंगे। तभी वह कथा-श्रवण आपको कुछ लाभ दे सकेगा।

****

जिज्ञासा :- सत्सङ्ग या भगवत्कथा को सुनने के लिए क्या नित्यकर्म का त्याग कर सकते हैं?

समाधान :- सत्सङ्ग या भगवत्कथा अवश्य सुननी चाहिए। पर नित्यनियम की उपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए। आप अपने अन्य समय में से कटौती करके सत्सङ्ग सुनिए अथवा प्रातःकाल उठने का समय जल्दी रखिए तो आपको नित्यनियम नहीं छोड़ना पड़ेगा। नित्यनियम परिस्थितिवश संक्षेप में कर सकते हैं, पर उन्हें छोड़ना नहीं चाहिए।

****

जिज्ञासा :- उच्च कोटि के सन्तों के देहत्याग के अनन्तर भी कई भक्तों को एक साथ उनका दर्शन होता है। इसमें क्या रहस्य है ?

समाधान :- एक साथ दर्शन होता है ऐसी बात नहीं है। पर आप विचार करके देखिए कि जो महापुरुष होता है उसका अपने स्वरूप के विषय में क्या निर्णय है। वह अपने को शरीर नहीं बल्कि व्यापक समझता है। उसके शरीरत्याग के अनन्तर यदि कोई भक्त सावधान है तो उसका चित्त एकबार उस स्वरूप से टकराता है। भक्त का मन उसमें तल्लीन है इसलिये उसकी व्यापकता प्रकट हो जाती है। अब उसके दर्शन के लिये उसे कहीं जाने की जरूरत नहीं पड़ेगी।

****

जिज्ञासा :- साधु लोग प्रायः किसी देवता या देवी का नाम लेकर कहते रहते हैं कि उनकी प्रेरणा से कार्य कर रहा हूँ। यहाँ प्रेरणा का तात्पर्य क्या है? कृपया अपने अनुभव से बताएँ।

समाधान :- साधु हो या गृहस्थ, यदि परमात्मा के प्रति सच्ची आस्था है तो वह किसी-न-किसी रूप में उसे प्रेरणा देता है क्योंकि वह तो हृदय में रहता है, कहीं दूर नहीं है। व्यक्ति की बुद्धि में एक प्रकार का विचार उत्पन्न कर देता है, उसी को साधु लोग भगवत्प्रेरणा कहते हैं। दूसरी बात, यदि आपकी निष्ठा पक्की है तब तो वह प्रत्यक्ष होकर भी किसी रूप में आपको प्रेरणा दे सकता है।

मेरे जीवन की एक घटना है। एक बार एक महात्मा को साथ लेकर मैं ओंकारेश्वर आया। महात्मा का शरीर अस्वस्थ था। मैं उनकी सेवा करता था। उनके लिए दूध, दवाई और भोजन इत्यादि की व्यवस्था भी करनी पड़ती थी।

उस समय अर्थाभाव भी था। मैं किसी को पत्र तो लिखता नहीं था क्योंकि इसी दृष्टि से यहाँ आया था कि किसी को समाचार न मिले कि मैं कहाँ पर हूँ। मेरे पास पाँच-सात दिन की व्यवस्था तो थी, पर उसके आगे की नहीं थी। उसी समय नर्मदा के तट पर बैठा हुआ मैं विचार कर रहा था कि अभी तक तो नर्मदा ने किसी प्रकार काम चलाया, पर सात दिन के पश्चात् क्या होगा ?

इतने में मुझे प्रत्यक्ष रूप से एक अनुभव हुआ कि किसी माता ने आकर जोर से मुझे एक थप्पड़ मारा और कहा, ''साधु बने हुए कितने वर्ष हुए हैं ?'' हमने कहा, ''लगभग बारह-तेरह वर्ष तो हो गए।'' फिर पूछा, ''अच्छा, यह बता कि इतने समय तक कभी भूखा रखा ?'' अब मेरे पास तो कुछ शब्द ही नहीं रहा। फिर कहा, ''देख! इतने वर्ष हुए साधु बने, मैं तेरे लिए प्रतिदिन भोजन की व्यवस्था कर रही हूँ। किसी कारणवश सुबह नहीं तो शाम को कर ही देती हूँ। आज तक कभी भूखा नहीं रखा। तेरे अविश्वास के कारण सात दिन आगे तक का प्रबन्ध कर रखा है और तुझको अभी-भी विश्वास नहीं है। सात दिन पहले से ही चिन्ता कर रहा है।'' फिर एक थप्पड़ और मारा। मैं समझ गया कि यह माँ नर्मदा ही है। उस थप्पड़ और उपदेश ने मेरे जीवन में इतनी गहरी छाप छोड़ी कि उसके पश्चात् तो मेरे अन्दर से यह चिन्ता हमेशा के लिए ही निकल गई कि आगे क्या होगा!

प्रारम्भ में इस आश्रम को चलाने के लिए बहुत मुश्किल होती थी। कभी-कभी तो सुबह भोजन बना तो शाम के लिए नहीं रहता था। पर मुझे कभी इसकी चिन्ता नहीं हुई। मुझे पक्का भरोसा रहा कि माँ नर्मदा व्यवस्था करेंगी। यदि वह थप्पड़ नहीं लगा होता तो ऐसी परिस्थिति में अवश्य ही चिन्ता होती। उस थप्पड़ ने ऐसा काम किया कि मैंने कभी किसी भक्त को आश्रम की व्यवस्था के लिए प्रेरित नहीं किया और न ही किसी महात्मा को जाने के लिए कहा। कभी-कभी देवता इस प्रकार की प्रेरणा भी दे देता है।

****

जिज्ञासा :- महात्मा लोग कहते हैं कि शरीर जहाँ रहे रहने दो, मन

भगवान् में रख दो। क्या शरीर कहीं भी रहते हुए मन भगवान् में रखना सम्भव है?

समाधान :- हाँ, सम्भव है यदि लक्ष्य स्पष्ट हो तो। अर्जुन से भगवान् ने कहा, ''जहाँ पर शरीर रहता है वहाँ मनुष्य नहीं रहता है, मनुष्य वहीं रहता है जहाँ उसका मन रहता है। इसलिए हे अर्जुन! तुम अपना मन मुझमें रख दो।'' अर्जुन ने कहा, ''यह तो ऐसे ही हुआ जैसे कोई कहे कि मैंने सम्पूर्ण लोक तुम्हें दान में दे दिया। अरे! यह तुम्हारा था ही कहाँ जो तुमने दान में दे दिया! इसी प्रकार हमारा मन हमारे साथ कहाँ है कि उसे हम भगवान् में रखें!'' तब भगवान् ने कहा, ''देखो, अर्जुन! जब तुम छोटे थे तब तुमने मन को खिलौनों में रखा। जब कुछ बड़े हुए तब अध्ययन में रखा और उसके उपरान्त अध्ययन से भी हटाकर धन कमाने में रखा। जिन माता-पिता के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते थे, विवाह के पश्चात् उन्हें भी भूलकर पत्नी में रखा। इस प्रकार तुम अभी तक मन को एक जगह से हटाकर दूसरी जगह रखते आए हो और मुझ में रखने में कंजूसी करते हो।''

अर्जुन ने कहा, ''भगवन्! मैं नहीं जानता कि मेरा मन एक वस्तु को छोड़कर दूसरी वस्तु में कैसे और कब चला जाता है।'' तब भगवान् ने कहा, ''तुम्हारी बुद्धि जिस वस्तु को इस प्रकार स्वीकार कर लेती है कि हमें इससे सुख प्राप्त होगा, मन उसमें स्वतः चला जाता है।''

जैसे, यहाँ भी व्यवहार में जब तुमको लगता है कि स्त्री से सुख मिलेगा तो तुम्हारा मन स्वतः ही माता-पिता से हटकर स्त्री में चला जाता है। इसी प्रकार जिस दिन तुम समझ लोगे कि एक दिन मुझे इस जगत् के बिना ही काम चलाना पड़ेगा और भगवान् के बिना काम नहीं चलेगा, तब तुम्हारी बुद्धि भगवान् का महत्व स्वीकार कर लेगी, इससे मन को भगवान् में रखना सहज हो जाएगा। इसलिए महात्मा लोग जो कहते हैं कि मन भगवान् में रखकर व्यवहार करो यह बात उचित ही है।

****

शरणागति

जिज्ञासा :- कामनायुक्त व्यक्ति क्या भगवान् के शरणागत हो सकता है?

समाधान :- हाँ! ऐसा व्यक्ति भी शरणागत हो सकता है पर कामना पूर्ति के लिये। यह शुद्ध शरणागति नहीं है। जो वस्तु नैमित्तिक होती है वह निमित्त के समाप्त होने पर समाप्त हो जाती है -

निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः। (व्याकरण महाभाष्य)

इसलिये ऐसे व्यक्तियों की शरणागति तब तक ही रहती है जब तक उनका प्रयोजन पूरा नहीं हो जाता।

****

जिज्ञासा :- मैने अपने जीवन में भगवान् का भजन ही किया है और भगवान् से कुछ नहीं माँगा। एक दिन किसी कारणवश भगवान् से छोटी सी वस्तु माँगी पर उन्होंने मेरी एक न सुनी। मुझे शंका होती है कि भगवान् बहुत कठोर दिल वाले हैं?

समाधान :- एक बार भगवान् वैकुण्ठ में बैठे थे। नारदजी वहाँ पहुँचे और कहा भगवन्! एक शंका है। भगवान् ने कहा - 'पूछो!' नारदजी बोले - 'भगवन्! मैं तो आप का ही हूँ। इस संसार में आपके अतिरिक्त मेरा और कोई नहीं है। एक बार मेरे मन में विवाह करने की इच्छा हुई और मैंने अपनी इच्छा पूर्ण करने के लिये आप से प्रार्थना की। परन्तु आपने मेरी बात नहीं सुनी। इसका कारण मैं जानना चाहता हूँ।'

भगवान् ने कहा - ''नारद! कारण यही है कि तुम केवल मेरे हो। इसीलिये मैंने अपने हृदय को वज्र के समान कठोर करके तुम्हारा विवाह नहीं

होने दिया। यदि तुम भिखमँगे होते तो मैं तुम्हारा विवाह अवश्य करवा देता। अब तुमने तो मेरे सिवाय दूसरा भरोसा रखा ही नहीं इसलिये मुझे विचार करना पड़ा कि इस विवाह से तुम सुखी होगे या दुःखी। मेरा तो वचन है -

सुनु मुनि कहउँ तोहि सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा।
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।।
(मानस अरण्य-४२.२/३)

मैं अपने बच्चे को दुःखी नहीं करना चाहता। पर क्या करूँ जब देखता हूँ कि यह विष खाने जा रहा है तो कैसे खाने दूँ। जब वह हठ करके रोता है उस समय मैं प्रसन्न नहीं होता परन्तु मुझे हृदय को वज्र के समान बनाना पड़ता है। माता जब बालक को थप्पड मारती है उस समय भी वह उसे दुःखी करना नहीं चाहती। उसका हृदय कृपा से ओत-प्रोत रहता है। नारद! बस यही बात थी कि मैंने तुम्हारी एक न सुनी।''

इसलिये आप यदि साधक हैं तो आपको भगवान् पर कठोरहृदय होने का आरोप नहीं लगाना चाहिए। आप अल्पज्ञ हैं, किसी भावना के वश में आकर भगवान् के सामने अपनी कामना को रख तो देते हैं परन्तु उससे लाभ होगा या हानि यह आप नहीं जानते। भगवान् सर्वज्ञ हैं इसीलिये वह भक्त की हर बात नहीं मानता। उसके हित में जो होता है वही करता है।

****

जिज्ञासा :- कभी-कभी भगवान् का आश्रय लेकर क्रिया प्रारम्भ करते हैं फिर भी नुकसान उठाना पड़ता है। भगवान् सहायता क्यों नहीं करते ?

समाधान :- आप पक्का निश्चय कर लीजिए कि भगवान् का आश्रय लेने से मंगल ही होगा। चलते चलो, पीछे मुड़कर मत देखो। धनहानि भी हो जाए तो चिन्ता मत करो। समय पर प्रभु सब ठीक कर देंगे। समस्या यही है कि आप धन के नुकसान को ही हानि मान लेते हैं। ऐसी बात नहीं है। कभी-कभी भगवान् नुकसान में भी कृपा कर देते हैं।

****

जिज्ञासा :- शरणागत यदि अपराधी है तो उसको शरण देना क्या अपराध नहीं है ?

समाधान :- शरणागत की रक्षा के विषय में हमारा शास्त्र बहुत जोर देता है। कोई अभिमान छोड़कर शरण में आ जाए तो कितना भी बड़ा अपराधी हो उसकी रक्षा करनी पड़ेगी। शरणागति की मर्यादा तो भारतीय परम्परा में ऐसी रही है कि कोई शरण में आ गया तो चाहे पूरा राज्य बर्बाद हो जाए पर राजा शरणागत की उपेक्षा नहीं करेगा। यदि कोई सचाई से शरण में आ जाता है तो उसका अपराध खत्म हो जाता है। हाँ! कोई छल करे तो अलग बात है। वह शरणागत नहीं है। जैसे कलि ने छल किया। जब परीक्षित मारने के लिये तैयार हो गए तो वह यह सोचकर उनके चरणों में गिर गया कि इन्हें छू लूँगा तो मेरा कुछ प्रभाव इनपर पड़ ही जाएगा। उसने कहा, ''हम भी आपकी प्रजा हैं। हमें भी कुछ स्थान मिलना चाहिए।'' जब स्वर्ण में स्थान मिल गया तो उन्हीं को पकड़ लिया। उसने छल किया था। उसे उसी समय मार दिया होता तो आगे समस्या नहीं आती।

****

यः स्रष्टारं निखिलजगतां निर्ममे पूर्वमीश-
स्तस्मै वेदानदित सकलान् यश्च साकं पुराणैः।
तं त्वामाद्यं गुरुमहमसावात्मबुद्धिप्रकाशं
संसारार्तः शरणमधुना पार्वतीशं प्रपद्ये।।
(आत्मार्पणस्तुतिः-१६)

जिन्होंने सृष्टि के आरम्भ काल में सम्पूर्ण जगत् के स्रष्टा ब्रह्मा को उत्पन्न कर उन्हें पुराणों सहित सकल वेद का उपदेश किया उन आत्मबुद्धि के प्रकाशक, आदिगुरु, उमापति की संसार से त्रस्त मैं दीन भक्त शरण ग्रहण करता हूँ।

योग एवं ध्यान

जिज्ञासा :- ध्यान में बैठते समय किसी को भ्रूमध्य में प्रकाश दिखाई दे या ध्वनि सुनाई दे तो ये किस बात के द्योतक हैं। उस समय साधक को क्या करना चाहिए ?

समाधान :- ध्यान करने वाले साधक की साधना यदि ठीक चल रही है तो उसे इस प्रकार की अनुभूतियाँ होना स्वाभाविक है। साधक अपनी साधना में प्राण को आधार बनाता है अथवा मन को, इस बात पर भी उसे होने वाली अनुभूतियाँ निर्भर करती हैं। प्राण क्रियाशक्ति का केन्द्र है और मन ज्ञानशक्ति का। यह सारा जगत् नामरूपात्मक है। नाम का मूल **नाद** है और रूप का मूल **प्रकाश(बिन्दु)** है। यदि साधक प्राण को आधार बनाकर साधना करता है तो उसे विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ(नाद) सुनाई देती हैं और मन को आधार बनाकर साधना करता है तो उसे प्रकाश आदि के दर्शन होते हैं। ऐसे में साधक को अत्यन्त सावधान रहना चाहिए, अन्यथा कभी-कभी ये दर्शन साधना में बाधक बन जाते हैं। इसलिये इनकी उपेक्षा करते हुए आगे बढ़ना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- अनाहत नाद का क्या अर्थ है? यह साधना कैसे की जाती है और इसकी प्रगति की पहचान क्या है ?

समाधान :- आहत का अर्थ है किसी से टकराना। अनाहत का अर्थ है नहीं टकराना। अनाहत नाद का अर्थ हुआ किसी से बिना टकराए उत्पन्न होने वाली ध्वनि। सामान्य बोलचाल में जब प्राणवायु तालु, कण्ठ आदि स्थानों में आकर टकराती है तब ध्वनि बाहर प्रगट होती है। अनाहत नाद इस प्रकार की

ध्वनि नहीं है। शरीर के भीतर एक बिन्दु है जिसमें कम्पन होता है तो उस कम्पन से एक ध्वनि उत्पन्न होती है। वह ध्वनि बाहर श्रवणेन्द्रिय से सुनाई नहीं देती। अन्तर्मुख होने पर साधक उसका अनुभव सुषुम्ना नाड़ी के भीतर करता है। उसी को अनाहत नाद कहते हैं।

यह साधना करने की कई प्रकार की विधियाँ हैं। हठयोग तथा मन्त्रयोग वाले साधक विशेषकर इसका अनुभव करते हैं। इसकी प्रगति की पहचान यही है कि आपको नाद स्पष्ट सुनाई देने लगे।

****

जिज्ञासा :- तन्त्रपद्धति से कुण्डलिनी जागरण करने के लिये क्या योगपद्धति की भी सहायता ले सकते हैं?

समाधान :- आसन-प्राणायाम के रूप में योग की सहायता ले सकते हैं। परन्तु तन्त्रपद्धति और योगपद्धति इन दोनों का सिद्धान्त अलग-अलग है। योगपद्धति में प्राणायाम की प्रधानता रहती है। प्राणायाम के द्वारा मणिपूर चक्र(नाभिस्थान) में अग्नि प्रज्वलित करते हैं। दूसरी ओर तन्त्रपद्धति में भावना की प्रधानता रहती है। भावना के द्वारा स्वाधिष्ठान चक्र(नाभिस्थान से चार अंगुल नीचे) में अग्नि प्रज्वलित करते हैं। उसी अग्नि से मूलाधार चक्र में सोयी हुई कुण्डलिनी को जाग्रत करके सुषुम्ना मार्ग से चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार चक्र तक ले जाते हैं।

****

जिज्ञासा :- तन्त्रपद्धति तथा योगपद्धति में सरल कौनसी है ?

समाधान :- यह साधक के संस्कारों पर निर्भर करता है। यदि साधक में भावना की प्रधानता है तो उसे तन्त्रपद्धति सरल लगेगी क्योंकि इस पद्धति में बैठ कर मात्र भावना ही करनी पड़ती है। योगपद्धति इससे कुछ जटिल है। उसमें सावधानी की बहुत अपेक्षा रहती है। योगपद्धति के द्वारा उत्पन्न की जाने वाली अग्नि की अपेक्षा तन्त्रपद्धति के द्वारा उत्पन्न की जाने वाली अग्नि

मूलाधार चक्र (जो सुषुप्त कुण्डलिनी का स्थान है) के समीप होने से कुण्डलिनी-जागरण का कार्य जल्दी हो जाता है।

****

जिज्ञासा :- ध्यानकाल में जैसा अनुभव होता है वह जब हम क्रियाशील होते हैं उस समय क्यों नहीं रहता?

समाधान :- अरे! मन की एक समान वृत्ति तो हमेशा नहीं रहती है। मन की एक ही वृत्ति रहे तब तो यदि वह जगत् में लग जाए तो निकले ही नहीं, भगवान् में कैसे लगेगा? ध्यानकाल में मन एकाग्र होता है इसलिये अलग प्रकार की अनुभूति होती है। परन्तु कभी-कभी क्रियाशील रहने पर भी वैसी वृत्ति आ जाती है। अन्दर स्मृति तीव्र हो जाए तो व्यवहार करते हुए भी वैसा अनुभव हो सकता है।

कभी आप वृक्ष में जल दे रहे हों और आप का भाव बन जाए कि महादेव को जल चढ़ा रहे हैं तो आपको रोमांच हो सकता है। जब व्यक्ति का अभ्यास सुदृढ होता है तब वह जो ध्यान करता है उसका स्मरण चलते-फिरते भी बना रहता है। जब वृत्ति दृढ़ हो जाए तो वह आपके अधीन हो जाती है।

****

जिज्ञासा :- सविकल्प समाधि और ध्यान में क्या भेद है?

समाधान :- ध्यान के समय साधक एक लक्ष्य पर मन को एकाग्र करता है परन्तु बहुत लम्बे काल तक एक सी वृत्ति नहीं रह पाती, बदल जाती है। ध्यान का अभ्यास करते-करते जब वह सुदृढ़ हो जाता है, लगातार एक वृत्ति का प्रवाह चलने लगता है तो उसे सविकल्प समाधि कहते हैं। ध्यान ही पुष्ट होकर सविकल्प समाधि का रूप धारण करता है। इसमें भी त्रिपुटी बनी रहती है।

अभ्यास करते-करते एक ऐसा आन्तरवैराग्य हो जाता है जिससे सविकल्प समाधि से भी मन हट जाता है। इसमें साधक का कोई प्रयास

अपेक्षित नहीं है। साधना के पूर्व संस्कारों के बल पर उस वृत्तिप्रवाह से भी वैराग्य हो जाता है जिसे **परवैराग्य** कहते हैं। इसके बाद वह वृत्तिप्रवाह धीरे-धीरे समाप्त हो जाएगा, तब निर्विकल्प समाधि लग जाएगी। यह ध्यान का ही क्रमिक विकास है।

****

जिज्ञासा :- ज्योति का ध्यान करना, निराकार का ध्यान है अथवा साकार का?

समाधान :- आकार जो भी होगा, चाहे वह ज्योति हो या कोई अन्य, वह साकार ही होगा।

****

जिज्ञासा :- बाह्य कुम्भक किस प्रकार करें?

समाधान :- बाह्य कुम्भक का कोई क्रम नहीं होता। आपका श्वास बाहर गया उसे रोक दीजिए तो बाह्य कुम्भक हो जाएगा। जब तक आपकी सामर्थ्य है तब तक उसे धीरे-धीरे रोकने का अभ्यास बढ़ाना चाहिए। इसके लिये कोई रेचक-पूरक का क्रम नहीं है। लेकिन रेचक-पूरक के क्रम से दीर्घकाल तक अभ्यास करके जब प्राणायाम सिद्ध होगा तभी यह कुम्भक हो पाएगा। बाह्य कुम्भक में श्वास को जब तक रोक सकते हैं तब तक रोकिए, इसमें समय का कोई नियम नहीं है। प्रारम्भिक अभ्यास में समय का नियम होता है कि पूरक से चार गुना कुम्भक का समय और दो गुना रेचक का समय होना चाहिए। जब यह अभ्यास सिद्ध हुआ तो श्वास स्वाभाविक बाहर जाता है, उसे रोक देंगे तो बाह्य कुम्भक हो जाएगा। श्वास अन्दर गया उसे रोक देंगे तो आन्तर कुम्भक हो जाएगा। अब बाहर श्वास रोककर बैठे हैं तो वहीं समाधि लग सकती है, परन्तु पहले सामान्य प्राणायाम से श्वास शुद्ध हो जाएगा तभी यह कुम्भक बनेगा।

****

जिज्ञासा :- योग के विषय में बहुत सुनते हैं। वास्तव में योग किसे कहते हैं?

समाधान :- योग को ठीक से समझना चाहिए। आजकल तो लोग आसन, प्राणायाम, पेट हिलाना इसको ही योग समझ लेते हैं। पर शास्त्र में योग इसे नहीं कहा है। आप का रोना भी योग हो सकता है यदि वह परमात्मा से सम्बन्धित हो जाए। यदि जगत् से सम्बन्धित हो जाए तो आपका ध्यान भी योग नहीं बनेगा। आपका प्रत्येक कर्म योग बन सकता है यदि उसका सम्बन्ध परमात्मा से, स्वरूप से हो जाए। भगवद्गीता के पहले अध्याय का नाम **अर्जुनविषादयोग** है। बताओ! विषाद भी कहीं योग होता है? दुनिया में सब लोग विषादग्रस्त हैं ही, तब तो सब योगी हो गए। पर ऐसा नहीं है। अर्जुन को जो विषाद था उसका सम्बन्ध परमात्मा से था, वास्तविकता को जानने से, स्वरूप के ज्ञान से था। इसलिये उसकी योग संज्ञा हुई।

आपका कोई भी व्यवहार जब परमात्मा से सम्बन्धित हो जाता है तब आप योगी हो जाते हैं। दूसरी ओर आप भजन कर रहे हैं, वेद पढ़ रहे हैं, ध्यान कर रहे हैं, उपनिषदों पर प्रवचन भी कर रहे हैं, परन्तु इनका सम्बन्ध जगत् से हो जाए तो आपकी योगी संज्ञा नहीं हो सकती। शास्त्र के इस मर्म को समझना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- गीता में कहा है -

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥(६.४६)

यहाँ किस योगी को तपस्वी आदि से श्रेष्ठ कहा है और क्यों?

समाधान :- पहले तो यह समझना चाहिए कि गीता के प्रत्येक अध्याय के नाम में योग शब्द जुड़ा हुआ है - अर्जुनविषादयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग आदि। गीता में कहीं भी सकामता के लिये स्थान नहीं है। इसमें तो जितना भी

उपदेश है वह आपको निष्कामता की ओर, स्वरूप की ओर ले जाने के लिये है। इसलिये गीता के अनुसार योगी वही हो सकता है जिसका लक्ष्य जगत् नहीं बल्कि परमात्मा है।

तपस्वी का लक्ष्य अलग हो सकता है। वह तपस्या करके सिद्धियाँ, स्वर्ग या ब्रह्मलोक की प्राप्ति करने की इच्छा रख सकता है। यहाँ ज्ञानी शब्द का अर्थ शास्त्रों का पण्डित समझना चाहिए। उसके पाण्डित्य का उद्देश्य भी धन या यश कमाना हो सकता है। कर्मी का लक्ष्य भी प्रायः स्वर्ग, धन आदि ही होता है। परन्तु इस अध्याय में तो आत्मसंयमयोग की चर्चा है। यह तो उस साधक के लिये बताया जो निष्काम कर्म की कक्षा पास कर चुका है। उसे बाहर से संयमित करके स्वरूपस्थ बनाने के लिये यह योग है। यह ज्ञान का अन्तरंग साधन है। इस योग का अनुष्ठान वही कर सकता है जिसका लक्ष्य केवल परमात्मप्राप्ति है। इसीलिये इस योगी को सर्वश्रेष्ठ कहा है।

****

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥
(श्वेताश्वतर उप.-१.३)

उन योगियों ने ध्यानयोग का अनुसरण करके अपने गुणों से आच्छादित परमात्मा की शक्ति का साक्षात्कार किया। वह परमात्मा स्वयं ही काल से लेकर आत्मा(जीव) पर्यन्त समस्त कारणों का अधिष्ठान है।

दोष-विचार एवं निवारण

जिज्ञासा :- मैं अखबार पढ़ना और समाचार सुनना छोड़ना चाहता हूँ पर छूटता नहीं। कृपया छोड़ने का उपाय बताएं?

समाधान :- छोड़ने के लिये कोई उपाय नहीं करना पड़ता। किसी वस्तु को छोड़ने में व्यक्ति परवश नहीं होता, बनाने में परवश होता है। अखबार पढ़ने में परवशता है, उसको खरीदने के लिये रुपए चाहिए, लाने के लिये कोई व्यक्ति चाहिए। फिर भी पढ़ने की अपेक्षा छोड़ना कठिन लग रहा है तो कोई अन्य कारण है जिसे खोजना पड़ेगा। व्यक्ति का जिसमें राग होता है उसे छोड़ना कठिन होता है। इसका मतलब आपका अखबार के प्रति जो राग है उस राग को समाप्त करना पड़ेगा।

किसी वस्तु के प्रति राग को समाप्त करने के लिये आपका दृढ़ संकल्प चाहिए और उस वस्तु में क्या दोष है यह दिखाई देना चाहिए। आप प्रयास कर रहे हैं फिर भी छूट नहीं रहा है, इसका मतलब आपको उसमें दोष दिखाई नहीं दे रहा है। जिस दिन यह लगेगा कि अखबार पढ़ना हमारे लक्ष्य में बहुत बड़ा बाधक है तो उसमें रस नहीं मिलेगा। जैसे किसी को लड्डू में विष दीख जाए तो वह लड्डू नहीं खाएगा। अरे! अखबार तो एक दिन छूटना ही है। तुम नहीं चाहोगे फिर भी एक दिन छूट जाएगा। जो वस्तु छूटने वाली है उसे आज छोड़ने में किस बात की कठिनाई है?

****

जिज्ञासा :- क्रोध का स्वरूप क्या है?

समाधान :- क्रोध एक आवेश है, तमोगुणी वृत्ति की एक अभिव्यक्ति है। जब यह व्यक्ति पर सवार हो जाता है तो उस व्यक्ति के विवेक, विचार और

धैर्य को दबाकर उसे अपने वश में कर लेता है। जैसे प्रेत किसी के सिर पर सवार होता है तो व्यक्ति को होश नहीं रहता, अर्थात् वह प्रेत के द्वारा नियन्त्रित हुआ ही चेष्टा करता है। इसी प्रकार क्रोधाविष्ट व्यक्ति की भी चेष्टा समझनी चाहिए।

****

जिज्ञासा :-

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।(गीता-५.२३)

यहाँ भगवान् ने कहा - "जो काम, क्रोध आदि को सहन कर लेता है वही योगी है, वही सुखी मनुष्य है।" इससे सिद्ध हुआ कि योगी को भी काम, क्रोध आदि का आवेश आता है। फिर इससे बचता कौन है?

समाधान :- काम, क्रोध आदि बीज रूप या किसी न किसी रूप में सभी जीवों में रहते ही हैं। ये हमेशा अभिव्यक्त रूप में नहीं रहते। इनका एक वेग आता है। यहाँ पर भगवान् कहते हैं - "मनुष्य शरीर जब तक है तब तक इसमें काम, क्रोध आदि रहे तो कोई आश्चर्य नहीं।" अरे! मनुष्य शरीर मिला है तो मूल में अज्ञान है यह मानना ही पड़ेगा। जहाँ अज्ञान है वहाँ काम, क्रोध रहता ही है। पुरुषार्थ क्या है? इनको सहन करना, विचार के द्वारा अन्दर ही शमन कर देना। यहाँ ध्यान देने की बात है कि जब तक शरीर है तब तक ये कभी भी आ सकते हैं। अहंकार करके कोई इन्हें रोक नहीं सकता। हाँ, मनुष्य इनके वेग को सहन कर सकता है।

एक महात्मा थे जिन्होंने काष्ठमौन का व्रत ले रखा था। वे किसी मार्ग से जा रहे थे। उनको भूख लगी। रास्ते में एक खेत में उन्होंने मूली देखी तो उखाड़कर खा ली। इतने में उनको किसान ने देख लिया और बहुत मारा। वे कुछ बोले नहीं और क्रोध भी नहीं आया, क्योंकि व्रत ले रखा था। काम, क्रोध को शान्त करने की शक्ति ईश्वर ने मनुष्य में दे रखी है। ऑफिस में अपने

से बड़े अधिकारी की डाँट चुपचाप सुन लेता है। इसलिये कि नौकरी छूट जाएगी यह भय अन्दर बैठा है। सीमा पर सैनिक काम का वेग सहन कर लेता है। कारण कि पैसे का लोभ है। इसी प्रकार किसी में परमार्थ का महत्त्व बैठ जाए और उसका लोभ आ जाए तो सहन क्यों नहीं कर सकता?

वे महात्मा तीन साल पश्चात् फिर उसी रास्ते से लौट रहे थे तो वह घटना याद आ गई और क्रोध आ गया। कहा - ''हमने तो उस समय कोई गलती नहीं की थी। भूख लगी थी, दो मूली खा ली तो किसान ने मुझे बहुत पीटा। मेरे साथ बहुत बड़ा अन्याय किया।'' यहाँ पर विचारणीय यह बात है कि उस समय मौन व्रत ले रखा था, परमार्थ का एक महत्त्व बैठा हुआ था, इसलिये क्रोध सहन कर लिया। परन्तु वह नष्ट नहीं हुआ था। यदि बीज रूप में नहीं रहता तो आज प्रकट कैसे होता? हमने ऐसे कई लोगों को देखा है जिनमें चालीस-पचास वर्षों तक काम की अभिव्यक्ति दिखाई नहीं दी, फिर एकाएक दिखाई दी। यदि बीज रूप में नहीं होता तो कैसे आता।

इसलिये इस विषय में महात्मा लोग मृत्युपर्यन्त सावधान रहते है। भाष्यकार भगवान् ने **प्राक्शरीरविमोक्षणात्** का अर्थ **मृत्युपर्यन्त** ऐसा किया है। उन्होंने कहा - **जीवितोऽवश्यम्भावी।** तात्पर्य है जीवित पुरुष में ये दोष अवश्य ही रहते हैं। इसलिये कहा **- यावत् मरणं तावत् न विश्रम्भणीयः।** शरीर पर्यन्त इनका विश्वास नहीं करना चाहिए। जब तक मर नहीं जाए तब तक विश्वास न करे कि काम, क्रोध का वेग नहीं आएगा।

एक युवक था। वह एक महात्मा से मजाक में हमेशा पूछता रहता था -''महाराज! क्या आप सच्चे साधु हैं?'' महात्मा कुछ बोलते नहीं थे, चुपचाप चले जाते। इस प्रकार बहुत समय बीत गया। महात्मा की मृत्यु का समय आया तो उन्होंने किसी से कहा -''उस युवक को बुलाओ''। जब वह आया तो महात्मा बोले -''भाई! मैं सच्चा साधु हूँ।'' युवक ने कहा - ''महाराज! मैंने गलती की, मुझे ऐसा नहीं पूछना चाहिए था। पर आप तो

महापुरुष हैं आप जो जवाब आज दे रहे हैं वह पहले भी दे सकते थे।'' महात्मा ने कहा - ''उस समय नहीं दे सकता था क्योंकि कभी मेरा मन गड़बड़ा जाता तो क्या करता। अब मैं जाने वाला हूँ। मेरे जीवन में अभी तक कभी काम, क्रोध का वेग नहीं आया और अब आगे आने की सम्भावना भी नहीं है। इसलिये अब मैं कह सकता हूँ कि मैं सच्चा साधु हूँ।''

तात्पर्य यह हुआ कि भले ही काम, क्रोध पर आप का नियन्त्रण है पर अहंकारपूर्वक कार्य होने वाला नहीं। इसलिये कहा - ''जो इस विषय में सावधान है वही योगी है, वही मनुष्य सुखी है।'' ज्ञानी के शरीर में भी काम-क्रोध दिखाई दे सकता है, पर ज्ञानी का उससे सम्बन्ध नहीं बनता। इसलिये कह सकते हैं कि ज्ञानी में काम, क्रोध का वेग नहीं आता।

****

जिज्ञासा :- किसी घटना को देख कर भय उत्पन्न होने में क्या कारण है? कहते हैं भय उत्पन्न होने के समय इष्ट मन्त्र का जप करना चाहिए। इसमें क्या रहस्य है?

समाधान :- भय का विषय सामने उपस्थित होने पर जीव के शरीर में विभिन्न प्रकार के परमाणुओं का संघर्ष होता है। उससे मन में एक प्रकार की विषम अवस्था उत्पन्न होती है। वह बढ़ती जाती है तो मन में बेचैनी होने लगती है। जैसे शरीर में कम्पन होना, निद्रा न आना, रोम खड़े होना इत्यादि, इसे ही भय कहते हैं। इष्ट देवता के मन्त्र का जप करने से तत्सम्बन्धी परमाणु बाहर से आकर्षित होकर शरीर में प्रवेश करने लगते हैं जिससे भय को उत्पन्न करने वाले परमाणु शान्त हो जाते है। साधक के भाव की प्रबलता से कभी-कभी वे परमाणु इतने घनीभूत हो जाते हैं कि उससे इष्ट का दर्शन भी हो जाता है।

****

जिज्ञासा :- जीवन में दीनता न आये इसके लिये क्या करना चाहिए?

समाधान :- इसके लिये पहले दीनता के कारण को पकड़ना पड़ेगा। जब कारण पकड़ में आ जाएगा तो उसे नष्ट करने का उपाय करना पड़ेगा। जब कारण नहीं रहेगा तो कार्य भी नहीं रहेगा। दीनता में मुख्य रूप से दो कारण हैं - **संसार की कामनाएं** और **अहंकार।** कामनाएं रहते हुए आप दीनता से मुक्त नहीं हो सकते। वे आपको किसी के भी सामने झुका सकती हैं। दीनता में दूसरा कारण है- अहंकार। अहंकारी व्यक्ति में दीनता रहेगी ही। जब वह अपने से छोटे को देखकर अहंकार करता है, तो बड़े को देखने से दीनता महसूस करेगा ही।

हमने देखा है, यहाँ आश्रम में फॉरेस्ट का रेञ्जर आता था तो वह बैठने के लिये कुर्सी चाहता था। एक दिन उसका बड़ा अधिकारी कञ्जर्वेटर आश्रम में आया तो हमने देखा कि वह रेञ्जर जो हमेशा बैठने के लिये कुर्सी चाहता था आज बाहर गेट के पास खड़ा है। अन्दर आने की हिम्मत नहीं हो रही है। देखो! यह दशा होती है अहंकारी की। इसलिये यदि दीनता से मुक्त होना चाहते हो तो अहंकार को त्यागना पड़ेगा। अपने से छोटों के सम्मान का ध्यान रखना पड़ेगा और इच्छाएं समेटनी पड़ेंगी।

****

जिज्ञासा :- सन्तों से सुनते हैं कि अहंकार हमारा सबसे बड़ा शत्रु है। इसे मिटाने का उपाय क्या है?

समाधान :- अरे! पहले विचार करके देखो कि तुम्हारा अहंकार सच्चा है या झूठा। एक लाख पावर का बल्ब है जो बहुत प्रकाश कर रहा है, दूसरी ओर एक जीरो पावर का बल्ब टिमटिमा रहा है। लाख पावर के बल्ब को बहुत अहंकार हो रहा है कि मैं इतना प्रकाश दे सकता हूँ। पर क्या उसका अहंकार सच्चा है? स्विच ऑफ कर दो और उससे कहो, ''अब प्रकाश करो!''

केनोपनिषद् की आख्यायिका में देख लो। परमात्मा यक्ष का रूप ले

कर आता है और एक तिनका अग्नि और वायु के सामने रख देता है। अग्नि पूरा जोर लगा कर भी उस तिनके को जला नहीं पाया और वायु उड़ा नहीं सका। उनका अहंकार कहाँ चला गया! परमात्मा की शक्ति से ही वे अपना काम कर पाते हैं। इसी प्रकार हमें नेत्र, श्रोत्र बनाकर उसी ने दिए हैं, वही हमारे प्राणों को चला रहा है। सारी शक्ति हमें उसी से मिल रही है और हम व्यर्थ अहंकार करते हैं। जिस दिन इस सचाई को स्वीकार कर लोगे उसी दिन तुम्हारा अहंकार टूट जाएगा।

****

जिज्ञासा :- परशुरामजी तो भगवान् के अवतार थे। फिर उन्होंने अपनी माता का सिर काटने जैसा जघन्य कार्य क्यों किया?

समाधान :- उनके पिता जमदग्निजी महर्षि थे। किसी कारण से उनकी पत्नी से कोई मानसिक अपराध हो गया था। उन्होंने उस अपराध को अपनी योगसामर्थ्य से जान कर अपनी पत्नी का सिर काटने की आज्ञा पुत्रों को दी। अन्य पुत्रों ने तो मना कर दिया, परन्तु परशुरामजी ने पिता की आज्ञा को सर्वोपरि मानकर माता का सिर काट दिया। अब बताओ चाहे लोकदृष्टि से हो या शास्त्रदृष्टि से, इस कार्य को कोई अच्छा कह सकता है? इससे कोई पुण्य बन सकता है? यह तो बड़ा निकृष्ट कार्य दीखता है। परन्तु परशुरामजी के अन्दर तो एक ही बात है कि पिता की आज्ञा का पालन पुत्र को अवश्य करना चाहिए। उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन मात्र किया तो उस सिर काटने के कार्य से उनका क्या सम्बन्ध बना? कोई सम्बन्ध नहीं बनता क्योंकि उनका माता के प्रति कोई विपरीत भाव नहीं था।

जब पिताजी ने प्रसन्न होकर उनसे वर माँगने को कहा तो उन्होंने कहा- ''माता जीवित हो जाए और उसे यह ज्ञान न रहे कि मैंने उसका सिर काटा था।'' उनके मन में माता के प्रति लेशमात्र भी द्वेष नहीं था। इसलिये कर्म की गति अत्यधिक गहन है। किसी कर्म में ऐसी दृष्टि होती है जो तमाम दोषों

को पीछे छोड़ देती है।

****

जिज्ञासा :- जो व्यक्ति मांसाहार करते हैं उन्हें तो दोष लगता है। परन्तु उनमें से कई व्यक्तियों का भाव बड़ा अच्छा देखा जाता है, वे भजन भी करते हैं। यह कैसे होता है?

समाधान :- यह विषय बहुत सूक्ष्म विचार करने का है। केवल बाह्य कर्म देखकर हम कोई निश्चय नहीं कर सकते। हम एक बार मुंबई के पास समुद्र किनारे एक आश्रम में रहे थे। जिन लोगों का समुद्र किनारे जन्म हुआ है वे मछली पकड़ते हैं, बेचते हैं और खाते भी हैं। मछली बेचना ही उनकी जीविका है तो उन्हें मछली खाने का पाप लगेगा या नहीं? हमने यह भी देखा कि उनके अन्दर ईश्वर के प्रति और सन्तों के प्रति इतनी सुन्दर भावना थी जो शाक-पात खाने वालों मे भी नहीं दीखती। वे हमारी भाषा नहीं समझते थे परन्तु प्रत्येक भाव, प्रत्येक इशारे को समझते थे। कोई बच्चा भी स्नान किए बिना आश्रम में नहीं आता था। महिलाएँ बाजार में मछली बेचकर आतीं तो स्नान करके बाजार में जो सबसे अच्छा फल होता उसे खरीद कर हमारे पास लाती थीं।

उनका भाव देखकर हमने सोचा कि हे भगवन्! इन मछली खाने वालों को तुमने ऐसा भाव कैसे दे दिया। फिर हमें ध्यान आया कि गीता में भगवान् ने कहा है -

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।(१८.४७)
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।(१८.४८)

उन लोगों को जन्म से ही मछली खाना प्राप्त है। उनके माता-पिता सभी खाते हैं तो उन्हें खाने से क्या पाप लगेगा। वे तो जानते ही नहीं कि यह पाप है। परन्तु जिस व्यक्ति के सामने ऐसी स्थिति नहीं है, मान लीजिए कोई ब्राह्मण है, वह यदि मांस खा लेगा तो उसे बहुत बड़ा पाप लगेगा। जो व्यक्ति

पाप जानकर भी लोभवश अथवा शरीर-पोषण के लिये मांस खाने में प्रवृत्त होता है उसे तो बहुत पाप लगेगा।

जो व्यक्ति मांस खाने के माहौल में ही जन्मा है, शास्त्र-संस्कार से रहित है उसे मांस खाने का दोष नहीं लगता परन्तु वह यदि किसी के उपदेश को मान कर मांस खाना छोड़ दे तो उसे बहुत बड़ा फल मिलता है। जो व्यक्ति त्रैवर्णिक है, यज्ञोपवीत धारण करता है, जिसे शास्त्र का, गुरु का आदेश है कि अपना भोजन ऐसा बनाओ जो भगवान् को भोग लगा सको, वह यदि अभक्ष्यभक्षण करेगा तो भारी दोष का भागी होगा।

****

जिज्ञासा :- आज कई लोग कहते हैं हमें नर्मदा का दर्शन हो गया, शिवजी का दर्शन हो गया। परन्तु उनके व्यवहार में छल-कपट-झूठ स्पष्ट दिखाई देता है। यह सब कैसे सम्भव है?

समाधान :- हो सकता है किसी को स्वप्न में दर्शन हो जाता हो या अन्य प्रकार से, पर इससे उनके जीवन में कोई बहुत बड़ा अन्तर आता हो यह जरूरी नहीं। वे लोग चाहे सच बोलते हों या झूठ, पर विचार करके देखें तो वह दर्शन कोई वास्तविक दर्शन नहीं है। भागवत में हम पढ़ते हैं कि अक्रूर जिस समय कृष्ण को वृंदावन से मथुरा लाते हैं उस समय रास्ते में यमुना में स्नान करते हैं। जब वह डुबकी मारते हैं तो भगवान् उन्हें अपना दिव्य स्वरूप दिखाते हैं। अक्रूर ने वहाँ बड़ी लम्बी स्तुति भी की है। उसी अक्रूर की बुद्धि द्वारिका में कैसे खराब हो गई? स्यमन्तक मणि और सत्यभामा के निमित्त से उसी अक्रूर ने भगवान से द्वेष किया, झूठ भी बोला।

भगवान् के दिव्य स्वरूप का दर्शन होने के बाद भी उनकी बुद्धि में दोष आ गया। अतः वह दर्शन वास्तविक दर्शन नहीं है, एक चमत्कार है। वह भी कभी लाभ देता है परन्तु उसमें दोष भी आ सकता है। जब तक भगवत्-तत्त्व का दर्शन नहीं होता तब तक दोषों की निवृत्ति पूर्ण रूप से नहीं होती।

इसलिये भगवत्-तत्त्व का दर्शन अलग है और किसी रूप में भगवद्-भावना हो जाना या किसी की कृपा से सगुण रूप का दर्शन करना अलग बात है। यहाँ सार यह है कि हमें दूसरों की ओर ध्यान न देकर अपनी स्थिति को देखना चाहिए। इस बात पर विश्वास रखना है कि कपट, दम्भ से रहित हुए बिना हम भगवत्-तत्त्व को पहचान नहीं सकते। इसलिये हमको सरल बनना चाहिए।

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।

(मानस सुन्दर.-४३.३)

शास्त्र जितने उपाय बताते हैं वे सब मन को निर्मल करने के लिये ही हैं। सगुण-साकार का दर्शन तो दुर्योधन आदि को भी हुआ था पर उनका कल्याण कहाँ हुआ। इसलिये दर्शन का स्वरूप समझना चाहिए और वह तभी प्रकट होगा जब मन शुद्ध होगा।

****

जिज्ञासा :- मनुष्य जीवन का लक्ष्य मोक्षप्राप्ति है, संसार नश्वर है, इन बातों का पूरा ज्ञान होने पर भी लोग जाने-अनजाने में संसार की ओर क्यों मुड़ जाते हैं?

समाधान :- हम कई बातों को शास्त्र से सुनकर बुद्धि से समझते हैं। मनुष्य जीवन का लक्ष्य मोक्षप्राप्ति है और संसार नश्वर है ये दोनों ऐसी ही बातें हैं। इनको समझने के लिये हम तर्क का सहारा भी लेते हैं। मनुष्य शरीर के अलावा दूसरे शरीर में मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती इसलिये मनुष्य जीवन का यही लक्ष्य है। फिर प्रश्न उठता है कि मोक्ष प्राप्त करना क्यों जरूरी है। इसका उत्तर है कि जन्म लेने वाला कभी पूर्ण सुखी नहीं रह सकता। **न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति।(छान्दो. उप.- ८.१२.१)** जब तक शरीर का सम्बन्ध है तब तक सुख-दुःख का सम्बन्ध टूट नहीं सकता। इसलिये जब तक जन्म-मरण का चक्र चलता रहेगा तब तक नित्य सुख की आशा नहीं की जा सकती। नित्य सुख का एक ही उपाय है - **अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये**

स्पृशतः।।(छान्दो. उप.- ८.१२.१) ज्ञान के द्वारा शरीर का सम्बन्ध छूटने पर सुख-दुःख का स्पर्श नहीं होता। यही मोक्ष की स्थिति है।

इस प्रकार तर्कों के द्वारा हमलोग बुद्धि से निश्चय करते हैं, परन्तु बुद्धि में निश्चयात्मक ज्ञान होने मात्र से काम नहीं बन सकता जब तक वह ज्ञान जीवन में न आए। ज्ञान को जीवन में लाने के लिये साधनों की अपेक्षा रहती है। मनुष्य शरीर में यही विशेषता है कि इसमें ज्ञान की कमी नहीं है। किसी के मन में नहीं आता कि क्रोध करना अच्छी बात है, झूठ बोलना अच्छा है; सबको ज्ञान है कि यह गलत है। परन्तु गलत जानकर भी छोड़ नहीं पाता, इसका मतलब दृढ़ता और वैराग्य की कमी है। यदि बौद्धिक ज्ञान से काम चल जाए तो विवेक, वैराग्य, शम, दम, तितिक्षा आदि साधनों की क्या आवश्यकता रहेगी। बुद्धि से जान लिया कि ब्रह्म का यह स्वरूप है पर इस ज्ञान से कुछ लाभ नहीं होगा, वह तो बुद्धि का वैभव बन जाएगा। इस वैभव का भी अहंकार हो जाएगा जो बन्धन का हेतु बनेगा।

शास्त्र कहता है कि तुम्हें मन को एकाग्र करके समाधि लगाने का अभ्यास होने पर वहाँ जो सुख मिलेगा वह भी बन्धन का हेतु बन सकता है। वहाँ तो एकाग्रता के अभ्यास से मन की सात्त्विक दशा के कारण तुम्हें सुख का अनुभव हो रहा है, जो निरन्तर एकरस आनन्दतत्त्व है उसका अनुभव कहाँ है। यदि इस समाधि-सुख में व्यक्ति रस लेने लगे तो वह भी मोक्ष का नहीं बन्धन का हेतु बन जाएगा।

सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।।(गीता - १४.६)

इसलिये बौद्धिक ज्ञान से मोक्षप्राप्ति की ओर जाना हो तो विवेक, वैराग्य आदि साधन-सम्पत्ति का अर्जन करना अत्यावश्यक है।

****

जिज्ञासा :- यदि जगत् असार है तो इसको प्राप्त करने की इच्छा क्यों होती है?

समाधान :- जगत् असार ही है, इसमें तो किसी प्रकार का संशय नहीं है। इसको प्राप्त करने की जो इच्छा होती है, उसमें हेतु असावधानी ही समझना चाहिए क्योंकि लोग जगत् की परीक्षा नहीं करते। जिस दिन आप इसकी परीक्षा कर लेंगे उसी दिन समझ में आ जाएगा कि जो शान्ति हम चाहते हैं वह इस जगत् से मिलनेवाली नहीं है।

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान् नास्त्यकृतः कृतेन...

(मुण्डक उप.-१.२.१२)

तब इसकी इच्छा कैसे करेगा! अब उसकी कामना की दिशा ही बदल जाती है और वह विचार करता है कि ऐसा कौन-सा उपाय है जिससे सदा बना रहनेवाला सुख मिले। इससे यह सिद्ध हुआ कि हमारी असावधानी ही जगत् की इच्छा में कारण है क्योंकि हम अभी अपना लक्ष्य ठीक से निर्धारित नहीं कर पाए हैं।

****

जिज्ञासा :- जीवन में कभी संकट के समय भगवान् से कोई मनौती करें, संकट शान्त होने पर किसी कारण से उस मनौती को पूरा कर न पाएं तो इसका क्या समाधान है ?

समाधान :- तुम दुनिया भर का सब काम कर रहे हो तो भगवान् की मनौती पूरी क्यों नहीं करते ? भगवान् के साथ चालाकी नहीं करनी चाहिए। यदि कोई बड़ा कारण है जिसकी वजह से पूरा नहीं कर पाते तो रोज भगवान् के चरण पकड़ कर रोया करो। ऐसा मत कहो कि पूरी नहीं कर पा रहा हूँ तो क्षमा कर दें। ऐसी प्रार्थना करो कि मुझे शक्ति दें जिससे मैं अपना वचन निभा पाऊँ।

प्राचीन काल में यदि कोई गरीब व्यक्ति किसी का कर्ज चुका नहीं पाता था तो मरने से पहले उससे कहता था - यदि मेरे लड़के ने कर्ज चुकाया तो ठीक है, नहीं तो मैं अगले जन्म में चुकाऊँगा। तुम भी रोज भगवान् से प्रार्थना

करो कि आप को जो वचन दिया है उसे अभी नहीं चुका पाए तो फिर जन्म लेकर चुकाएंगे। इस प्रकार से रोज प्रार्थना करोगे तो कम से कम भगवान् से कुछ परिचय तो हो जाएगा।

****

जिज्ञासा :- मन को परमात्मा ने चञ्चल क्यों बनाया है ?

समाधान :- परमात्मा ने मन को चञ्चल बनाकर ठीक ही किया। यदि मन चञ्चल नहीं होता और इसका स्वभाव स्थिर रहना होता तब वह जगत् में कहीं स्थिर हो जाता तो बड़ी मुश्किल हो जाती, क्योंकि वह वहाँ से हटता ही नहीं। अब यह आपका काम है कि उस मन की चञ्चलता का सदुपयोग करके उसे जगत् से हटाकर परमात्मा की ओर ले जाओ। बस, यही आपका पुरुषार्थ है।

****

जिज्ञासा :- मन में प्रश्न उठना कब समाप्त होगा? कोई अचूक दवा बताएँ।

समाधान :- जब आपके अन्दर कोई संशय नहीं रहेगा तो प्रश्न उठना बन्द हो जाएगा। संशय कब समाप्त होगा? जब आप जीवन के लक्ष्य को, तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लेंगे तो कोई संशय नहीं रहेगा। समर्थ गुरु रामदास ने कहा- **''ज्ञानी वही है जिसे कोई संशय न हो।''**

उत्तरकाशी के ऊपर संग्राली नामक एक गाँव है। पहाड़ में प्रत्येक गाँव का देवता होता है। साल में एक बार उस देवता का आवेश पुजारी पर आता है। उस समय सभी लोग पुजारी से अपने-अपने प्रश्न पूछते हैं और वह जवाब देता है। ऐसे ही समय उत्तरकाशी के एक महात्मा उस गाँव में पहुँचे। उन्होंने उस देवता से पूछा, ''तू सच्चा देवता है या झूठा?'' उसने कहा, ''मैं सच्चा देवता हूँ।'' महात्मा ने कहा, ''तब बता मुझे **ज्ञान** है या नहीं?'' देवता बोला, ''तुमको ज्ञान नहीं हुआ है।'' वे बोले, ''तू सच्चा देवता नहीं है, मुझे तो **ज्ञान**

है।'' अब देवता बोला, ''तुमने पूछा कि मुझे ज्ञान है या नहीं, इसका मतलब तुम्हें संशय हुआ। जिसको संशय हो उसे ज्ञान नहीं हुआ है। यदि ज्ञान हो तो संशय नहीं रहेगा और संशय न रहने पर कोई प्रश्न नहीं उठेगा।''

इसलिये प्रश्न उठना समाप्त करना हो तो **ज्ञान** प्राप्त कर लो, यही अचूक दवा है। **ज्ञानरूपी** अग्नि सभी संशयों को भस्म कर देती है। अभी तो बुद्धि **श्रुतिविप्रतिपन्ना है**, इसलिए नई-नई बातें सुनकर संशय होता रहता है। भगवान् गीता में कहते हैं -

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।(२.५३)

बहुत कुछ सुनने से बुद्धि में संशय रहते हैं। जब बुद्धि एक आत्मतत्त्व को पकड़कर निश्चल हो जाएगी तब संशय समाप्त हो जाएँगे।

****

जिज्ञासा :- चाहकर भी हमारा मन शान्त और प्रसन्न क्यों नहीं रह पाता?

समाधान :- इसीलिये शान्त नहीं रह पाता कि तुम जगत् से कुछ चाहते हो। जिसके पास कुछ न हो उससे तुम कुछ चाहो तो तुम्हारी चाह कभी पूरी होने वाली नहीं है। जब तक चाह रहेगी तब तक अशान्ति दूर नहीं होगी। तेज धूप के समय रेगिस्तान में एक नदी दिखती है, उसमें जल दिखता है, पेड़ और पक्षी भी दिख जाते हैं, पर वास्तव में वहाँ जल का नामोनिशान भी नहीं रहता। उस जल से यदि किसी की प्यास बुझी होगी तो इस जगत् से भी प्यास बुझ जाएगी। तुम तो यह परीक्षा ही नहीं करते कि इतना काल बीत गया फिर भी जगत् की चाह पूरी ही नहीं होती। यदि शान्ति प्राप्त करनी है तो जगत् से चाहना छोड़ दो।

****

जिज्ञासा :- शास्त्रों में मन को जीतने के ऊपर विशेष रूप से बल दिया

जाता है। मन को जीतेगा कौन क्योंकि मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार एक ही तत्त्व के नाम हैं? इनमें से किसी एक से जीतने का अर्थ हुआ अपने द्वारा अपने को ही जीतना, यह कैसे सम्भव हो सकता है क्योंकि कोई कितना ही बलवान् क्यों न हो, वह अपने कन्धे पर नहीं बैठ सकता?

समाधान :- प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि आज मेरा मन ठीक है अथवा नहीं। यहाँ पर जाननेवाला कौन है? यदि कोई कहे कि मन जान रहा है, तो मन नहीं जान सकता क्योंकि मन जड़ है। तब यहाँ यही निर्णय करना पड़ता है कि विचार-विवेक करनेवाला जो जीव है, वही जान रहा है अर्थात् मन का प्रकाशक जीव है। इसलिए यहाँ पर अनुभव के साथ जोड़कर देखें तो इस बात को समझना कठिन नहीं है और शब्दों के चमत्कार में पड़कर तो समझना कठिन है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।।
(गीता-१३.२२)

यहाँ पर जिसको उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता इत्यादि कहा है, वही मन को वश में करता है।

****

जिज्ञासा :- विषयों को दूर करना आसान है, पर उनका राग दूर करना कठिन है- **नासति सम्यग्दर्शने रसस्य उच्छेदः(गीता शां.भाष्य-२.५९)।** यदि सम्यक् दर्शन से पहले राग नहीं जाता है तब शास्त्र में साधक को उसके त्याग के लिए क्यों कहा है?

समाधान :- सम्यक् दर्शन होने तक राग-द्वेष आदि वृत्तियाँ नष्ट नहीं होती हैं, पर इनकी अवस्थाएँ बदलती जाती हैं। इसलिए कहा है - **ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः (योगसूत्र-२.११)।** रागात्मिका, द्वेषात्मिका वृत्तियों को ध्यान-भजन द्वारा नष्ट करना चाहिए। परन्तु इतना होने पर भी भीतर जो

संस्कारात्मक रूप में राग बैठा हुआ है, वह तो परमात्म-दर्शन होने तक नष्ट नहीं होगा।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश - इन पञ्चक्लेशों की पाँच-पाँच अवस्थाएँ होती हैं। **१) प्रसुप्त, २) विच्छिन्न, ३) उदार, ४) तनु और ५) दग्ध।**

प्रसुप्त :- यह वातावरण न मिलने पर अभी प्रकट नहीं हुई है, पर अन्दर विद्यमान है, जैसे बच्चों में।

विच्छिन्न :- कभी वृत्ति दूसरी तरफ गई तो उस समय वर्तमान वृत्ति कुछ कमजोर लगती है। ऐसे में इसको विच्छिन्न कहते हैं।

उदार :- वृत्ति के प्रबल रूप से प्रकट होने को उदार कहते हैं।

तनु :- वृत्ति विद्यमान तो है, पर वह कमजोर है। ऐसी अवस्था को तनु अवस्था कहते हैं।

दग्ध :- यहाँ पर वृत्ति सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है। यह तो ईश्वर-दर्शन होने के पश्चात् ही सम्भव है। ध्यान-भजन इत्यादि करके वृत्तियों को तनु कर सकते हैं, दग्ध नहीं। शास्त्र में राग को त्याग करने की बात जहाँ कही है, वहाँ उसको **तनु** (क्षीण) करना समझना चाहिए।

****

पुंसां कलिकृतान् दोषान् द्रव्यदेशात्मसम्भवान्।
सर्वान् हरति चित्तस्थो भगवान् पुरुषोत्तमः।।
(भागवत-१२.३.४५)

कलियुग के प्रभाव से द्रव्यों में, स्थानों में और मनुष्यों के अन्तःकरणों में अनेक प्रकार के दोष आ जाते हैं। यदि भक्ति के द्वारा पुरुषोत्तम भगवान् चित्त में स्थित हो जायें तो इन सभी दोषों का हरण कर लेते हैं।

धर्म-जिज्ञासा

जिज्ञासा :- किसी को लगे कि हमारी परम्परा शास्त्रविरुद्ध है तो उसे क्या करना चाहिए?

समाधान :- यदि ऐसी शंका किसी को होती है तो उसे उस परम्परा की समीक्षा करनी चाहिए। हो सकता है कि वह परम्परा शास्त्र के अनुकूल ही हो क्योंकि शास्त्र का बहुत बड़ा भाग हम नहीं जानते। समीक्षा करने पर यदि निश्चय हो कि हमारी परम्परा का शास्त्र से विरोध है तो उसे त्याग देना चाहिए क्योंकि शास्त्रसमर्थित परम्परा ही व्यक्ति को लक्ष्य तक पहुँचा सकती है। धर्म के विषय में भी कहा है - **श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। (याज्ञवल्क्यस्मृति-१.७)** यहाँ पर भी श्रुति, स्मृति, सदाचार आदि को क्रम से महत्त्व दिया गया है।

****

जिज्ञासा :- गीता में अर्जुन ने पूछा -

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ..।(१७.१)

जो श्रद्धावान् व्यक्ति शास्त्रविधि को छोड़कर यजन करते हैं उनकी श्रद्धा का क्या स्वरूप है। यहाँ पर शास्त्रविधि को छोड़ने वाले के लिये श्रद्धावान् शब्द का प्रयोग क्यों किया?

समाधान :- यहाँ पर श्रद्धावान् का तात्पर्य ऐसे साधक से है जो शास्त्र के प्रति, गुरु के प्रति श्रद्धा तो रखता है उसमें आस्तिक्यबुद्धि भी है पर वह शास्त्र को नहीं जानता। परम्परा से उसे जैसा बता दिया वैसा ही कर रहा है। वह नहीं जानता है कि मैं शास्त्रविधि का उल्लंघन कर रहा हूँ। हाँ! यदि कोई जानबूझ कर अपनी हठधर्मिता के कारण शास्त्र का उल्लंघन करता है तो ऐसे

व्यक्ति के लिये श्रद्धावान् शब्द का प्रयोग नहीं होता है। यहाँ पर अर्जुन का प्रश्न है - **तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः। (गीता १७.१)** इस प्रकार शास्त्र का उल्लंघन करके उपासना करने वाले साधकों की निष्ठा का प्रकार सात्त्विक, राजस या तामस में से कौन सा होगा। भगवान् ने उत्तर दिया - ''यह तो उनकी उपासना का विषय जानने से ही जाना जा सकता है कि वह देवता की उपासना कर रहा है या किसी भूत की। देवताओं की उपासना भी कर्तव्यदृष्टि से कर रहा है या कल्याण के लिये, जगत् के लिये कर रहा है या किसी को मारने के लिये।''

वस्तुतः श्रद्धा भी व्यक्ति की प्रकृति पर निर्भर करती है। व्यक्ति जैसी प्रकृति वाला होता है उसकी श्रद्धा भी वैसे ही देवता में और वैसी ही उपासना में उत्पन्न हो जाती है।

****

जिज्ञासा :- शास्त्रों में कहीं पर यह कहा है कि भोजन के उपरान्त विश्राम करना चाहिए और कहीं पर दिन में सोना निषेध भी किया है। शास्त्र की इन दो बातों में विरोधाभास लगता है। इसका क्या समाधान है ?

समाधान :- यहाँ पर किसी भी प्रकार का विरोधाभास नहीं है। विरोधाभास वहाँ समझना चाहिए जहाँ पर एक ही विषय पर दो विरोधी बातें कही गई हों, यहाँ ऐसा नहीं है। जो भोजन के उपरान्त विश्राम करने की बात कही है वह आरोग्य को ध्यान में रखकर आयुर्वेद की दृष्टि से कही गई है। जो दिन में सोने का निषेध किया है वह व्रत-नियम को ध्यान में रखकर धर्म-शास्त्र की दृष्टि से कहा है। जैसे आप कोई अनुष्ठान कर रहे हैं या कोई उपवास कर रहे हैं तो उस अन्तराल में आपको दिन में नहीं सोना चाहिए। यहाँ पर भी दिन में निद्रा के लिये निषेध किया है, विश्राम के लिये तो निषेध नहीं है। अनुष्ठान काल में भी आप दो घड़ी(४८ मिनट) लेटकर विश्राम कर सकते हैं।

****

जिज्ञासा :- मैं एक जज के पद पर कार्य करता हूँ। कई बार मेरे मन में सन्देह उत्पन्न हो जाता है कि मैं जो फैसला कर रहा हूँ उससे वास्तव में न्याय हो रहा है या नहीं। कृपया मेरे लिये ऐसा मार्गदर्शन कीजिए जिससे मैं वर्तमान स्थिति में सत्य और धर्म की रक्षा कर पाऊँ तथा मेरा कर्म ही पूजा हो जाए।

समाधान :- आप साधक हैं इसलिये ऐसा सन्देह होना स्वाभाविक है। यहाँ पर सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है कर्तव्य को समझने की। संसार में प्रत्येक व्यक्ति को कोई न कोई पार्ट मिला है, जिसमें से आप को जज का पार्ट मिला है। उस पार्ट के माध्यम से आपको जीविका चलाने के लिये धन भी मिलता है। यह भी कोई बुरी बात नहीं क्योंकि व्यावहारिक जिम्मेदारियाँ निभाने के लिये धन की आवश्यकता होती ही है।

आप जिस पद पर हैं वहाँ आपके साथ दो वस्तुओं का सम्बन्ध है। एक धन का जो व्यावहारिक है और दूसरा धर्म का जो पारमार्थिक है। उस पद के साथ आप का कर्तव्य निहित है। यह आप पर निर्भर है कि उस पद पर रहते हुए आप के अन्दर कर्तव्य की प्रधानता है या धन की। यदि धन की प्रधानता है तो आपका व्यवहार न्यायपूर्वक नहीं हो पाएगा क्योंकि धन के द्वारा आपको कभी भी खरीदा जा सकता है। यहाँ पर धन के साथ-साथ लोभ, भय, मोह इत्यादि को भी समझ लेना चाहिए। इनके दबाव में आकर व्यक्ति ठीक निर्णय नहीं कर पाता। यदि आपके जीवन में इस प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, केवल धर्म का सम्बन्ध है तो आप कर्तव्य के आधार पर ही निर्णय लेंगे। वह निर्णय आप भारतीय संविधान के अनुसार ही लेंगे। वही आपका धर्म है। आप उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

एक बार काशी में कोई हरिजन किसी मन्दिर में प्रवेश कर गया। करपात्रीजी महाराज ने विरोध किया तो पुलिस उनको पकड़ कर ले गई और जज के सामने पेश किया। उन्होंने मनुस्मृति आदि बहुत सारे धर्मग्रन्थों के प्रमाण देकर कहा- मैंने धर्म के विरुद्ध कोई काम नहीं किया तो मैं अपराधी

कैसे हो सकता हूँ? जज ने कहा- ''महाराज! आपकी बात ठीक है। आप जिन ग्रन्थों को प्रमाण के रूप में बता रहे हैं, हो सकता है कभी वे हमारे समाज के लिये संविधान के रूप में मान्य रहे होंगे लेकिन आज हम वर्तमान संविधान के बाहर निर्णय नहीं ले सकते। हम यह जानते हैं कि आप अपने धर्म के अनुसार ही लड़ रहे हैं पर आज के संविधान के अनुसार आप ने अपराध किया है। इसलिये आपको एक महीने की सजा दी जाती है।''

देखिए, यहाँ जज ने रागद्वेष-पूर्ण कोई निर्णय नहीं लिया, बल्कि अपने कर्तव्य का पालन किया। कई बार जानते हुए भी कि यह अपराधी नहीं है पर प्रमाण मिल जाते हैं तो उसको अपराधी मानना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में जज उसे छोड़ नहीं सकता। तात्पर्य यह है कि आपके सामने आदर्श के रूप में संविधान है, आप उसी के अनुसार निर्णय कीजिए। किसी लोभ, मोह या भय से प्रभावित होकर निर्णय मत कीजिए।

सामने वाले अभियुक्त को यदि आपने समझ लिया कि यह मेरे मामा का लड़का है, उसके प्रति आपको मोह उत्पन्न हो गया तो आप ठीक निर्णय नहीं कर पाएंगे। उस समय आप अपना कानून का सम्पूर्ण ज्ञान उसे बचाने में लगा देंगे। आप ठीक निर्णय तभी ले सकते हैं जब समझें कि न यह हमारा शत्रु है और न ही सम्बन्धी, यह केवल अभियुक्त है। ऐसे में आपका निर्णय शास्त्रदृष्टि से निर्दोष होगा। आप सत्य और धर्म की रक्षा कर सकेंगे। आप कर्तव्यपूर्वक कर्म करते हुए ईश्वर को समर्पण करते जाएंगे, तब आपका प्रत्येक कर्म ईश्वर से सम्बन्धित हो जाएगा। ऐसे में वह कर्म पूजा बन जाएगा **-स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य।(गीता - १८.४६)** आप उस कर्म के द्वारा परमात्मा की आराधना का फल प्राप्त कर लेंगे जिससे धीरे-धीरे परमात्मा की कृपा का अनुभव आपको होने लगेगा।

****

जिज्ञासा :- साधक लोग सुबह चार बजे से जप-ध्यान करते हैं। उस

समय सूर्योदय तो होता नहीं, फिर उसे पिछले दिन का माना जाए या आज का?

समाधान :- भारतीय परम्परा में अरुणोदय से पहले तक रात्रि मानी जाती है। अरुणोदय काल में सूर्य का उदय प्रारम्भ हो गया ऐसा मानते हैं। इसलिये साधक लोग इस काल में जो भजन-पूजन करते हैं वह पिछले दिन का नहीं बल्कि अगले दिन का माना जाता है। सुबह तीन बजे के बाद का जो काल है उसे अगले दिन से सम्बन्धित मानते हैं। इसीलिये अमावस्या, संक्रान्ति आदि पर्वों का पुण्यकाल अरुणोदय से ही माना जाता है। उस काल में स्नान करने पर आपको पर्व-स्नान का फल अवश्य मिलेगा। ऐसा नहीं है कि सूर्योदय के बाद स्नान करने पर ही पर्व का स्नान माना जाएगा।

****

जिज्ञासा :- क्या रात्रि में नदी, तालाब आदि में स्नान कर सकते हैं?

समाधान :- शास्त्र में ऐसा कहा गया है- रात्रि में नदी, तालाब आदि में स्नान नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे वरुणदेव का अपमान होता है। पर मान लीजिए आप कहीं बाहर से घर तब पहुँचे जब सूर्यास्त हो चुका हो और स्नान करना आवश्यक हो, तो उस समय स्नान करने में कोई दोष नहीं है। यदि कभी रात्रि में ग्रहण पड़े तो उस समय भी स्नान करने में दोष नहीं लगता।

****

जिज्ञासा :- सूर्योदय से पहले जलपान करना उचित है अथवा नहीं?

समाधान :- इस विषय में एक विचारणीय बात यह है कि सूर्योदय कब से माना जाए। अरुणोदय से मानें अथवा जब सूर्य का दर्शन हो जाए तब से मानें। अरुणोदय के बाद अन्धकार चला जाता है। बिना सूर्यप्रकाश के तो अन्धकार जाएगा नहीं। अतः कुछ लोग मानते हैं कि उस समय सूर्योदय हो चुका है। वे लोग कहते हैं कि हम अरुणोदय काल में ही सन्ध्या, गायत्री-जप, सूर्य को अर्घ्य देना आदि नित्य कर्म कर लेते हैं। इसके बाद जलपान करने में

कोई दोष नहीं है।

परन्तु कई सन्तों का कहना है कि सूर्योदय से पहले जल-पान करना उचित नहीं है। पहले सूर्य को अर्घ्य दो, प्रणाम करो इसके बाद जल-पान करना चाहिए। अपना नित्य कर्म पूर्ण किए बिना जलपान नहीं करना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- क्या त्रैवर्णिकों को यज्ञोपवीत और शिखा अनिवार्य रूप से धारण करना चाहिए?

समाधान :- शास्त्र ऐसी आज्ञा देता है इसलिये अनिवार्य रूप से धारण करना ही चाहिए। शास्त्र की बातों में अपनी बुद्धि नहीं लगानी चाहिए। हमारा हित किसमें है यह शास्त्र ही जानता है। इसका व्यावहारिक पक्ष भी देखिए। यज्ञोपवीत संस्कार और शिखा हमारे जीवन का आधार बनता है। जैसे राष्ट्रिय ध्वज दिखता तो कपड़ा ही है परन्तु उसके साथ पूरे राष्ट्र का स्वाभिमान जुड़ा रहता है। इसी प्रकार शिखा-सूत्र पहले सनातनी हिन्दुओं के स्वाभिमान का केन्द्र था। शिखा-सूत्र वाला व्यक्ति नित्य गायत्री जप करता है जिससे उसकी बुद्धि का विकास होता है, चरित्र में, जीवन में एक दिव्यता आती है। वह व्यक्ति सामान्य व्यक्ति के समान व्यवहार नहीं कर सकता। इसलिये इस संस्कार का बहुत बड़ा महत्त्व है।

****

जिज्ञासा :- क्या यज्ञोपवीत संस्कार के पहले वेद और उपनिषद् का अध्ययन कर सकते हैं?

समाधान :- क्यों करना? यज्ञोपवीत संस्कार तो घर में होने वाले जातकर्म आदि संस्कारों के बाद बालक का प्रथम संस्कार है। गुरुकुल में जब बालक जाएगा तो पहला काम यज्ञोपवीत संस्कार ही होगा और गायत्री मन्त्र मिलेगा। तभी उसे वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त होगा, उसके पहले वेदाध्ययन कैसे कर सकता है? उपनिषद् भी वेद के अन्तर्गत ही हैं इसलिये

उनका अध्ययन भी यज्ञोपवीत संस्कार के बाद ही कर सकते हैं। यही शास्त्र की दृष्टि है।

आज तो कॉलेजों में कुर्सी पर बैठकर, जूता-चप्पल पहन कर भी वेद और उपनिषद् पढ़ाए जाते हैं। उनकी दृष्टि में तो जैसे गणित, अंग्रेजी आदि विषय हैं वैसे ही यह भी एक विषय है। पर ऐसे अध्ययन से वेद का ज्ञान होने वाला नहीं है। वह तो शास्त्रीय ढ़ंग से अध्ययन करने पर ही हो सकता है।

****

जिज्ञासा :- आजकल लोग वेद सीखने के लिये आधुनिक संसाधनों जैसे टेपरिकॉर्डर आदि का उपयोग करते हैं। क्या यह उचित है?

समाधान :- शास्त्र जोर दे कर कहता है कि वेदाध्ययन गुरु परम्परा से ही करें। **वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।(श्लोकवार्तिक वाक्या.-३६६)** गुरु-मुख से वेदाध्ययन करने पर परम्परा से कृपाशक्ति प्राप्त होती है जो जीवन में वेद को धारण करने के लिये विद्यार्थी को बल देती है। वह शक्ति आधुनिक संसाधनों के द्वारा वेदश्रवण करने वालों को नहीं प्राप्त हो सकती। इसलिये गुरु-मुख से सुना गया वेदाध्ययन ही हितकर समझना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- हमारे घर में किसी बुजुर्ग की अपमृत्यु हो गई है। उनके कल्याण के लिये हमें क्या करना चाहिए?

समाधान :- उनके लिये भगवान् से प्रार्थना कर सकते हो तथा जप, भगवत्कथा-श्रवण आदि कर सकते हो। अपने पूर्वजों की सबसे बड़ी सेवा तो यही है कि ऐसा कोई कार्य मत करो जो उन्हें दु:ख देने वाला रहा होता। ऐसा व्यवहार जिससे उन्हें प्रसन्नता मिलती रही होगी वही करो। कोई ऐसा व्यवहार न करो जिससे उनकी अपकीर्ति हो। यदि ऐसी सेवा तुम करते हो तो अपने पितरों का उद्धार कर लोगे। अपने जीवन को ठीक बनाने से तुम उनका उद्धार कर सकते हो, पैसे से नहीं।

जिज्ञासा :- भगवान् भाष्यकार लिखते हैं - **भवति हि अस्माकम् अप्रत्यक्षमपि चिरन्तनानां प्रत्यक्षम्। तथा च व्यासादयो देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्ति इति स्मर्यते। तस्माद् धर्मोत्कर्षवशात् चिरन्तना देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवजह्नुः इति श्लिष्यते।।(ब्रह्मसूत्र भाष्य-१.३.३४)** ''अस्माकम् अप्रत्यक्षमपि'' ऐसा कहने से क्या हम लोगों के लिये देवताओं से व्यवहार करना असाध्य है? धर्मोत्कर्ष का क्या अर्थ है?

समाधान :- असाध्य तो कुछ भी नहीं है परन्तु इस युग में अत्यन्त दुःसाध्य है। असाध्य इसलिये नहीं है कि आज भी कोई ऐसा अधिकारी हो सकता है जिससे देवता बातें करते हों, जिसके लिये प्रत्यक्ष हो जाएँ।

आज के युग में तुम धर्मोत्कर्ष क्या करोगे! कोई शास्त्र को पढ़ता नहीं, कहीं से शास्त्र की बातें सुन ले तो मानता नहीं। शिखा, सूत्र, तिलक सब गायब हो गए हैं। माता-पिता कहना छोड़कर मम्मी-पापा कहना शुरु कर दिया। जन्मदिन छोड़कर बर्थडे मनाना, केक काटना शुरु कर दिया। भारतीय संस्कृति को कोई जानता ही नहीं। अपनी परम्परा छोड़कर पाश्चात्य संस्कृति की अन्धी नकल कर रहे हैं। यह हाल उन लोगों का है जो वर्षों से सत्संग सुन रहे हैं, अन्यों का तो कहना ही क्या? लोगों का व्यवहार पागल के समान हो गया है। कोई पागल सामने से आ रहा हो तो तुम रास्ता बदलकर चलते हो कि नहीं? इसी प्रकार हमारा व्यवहार देखकर देवता डरकर दूर चले जाते हैं कि पता नहीं क्या कह दें। ऐसे में तुम धर्मोत्कर्ष क्या करोगे?

व्यासादियों के जीवन में धर्मोत्कर्ष यही था कि उन्होंने शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन कभी नहीं किया। उनके हृदय में जो धर्म था उसका सदा आदर किया। सत्य का कभी त्याग नहीं किया, इसलिये देवता उनके लिये प्रत्यक्ष थे। तुम लोग तो हृदय में बैठे धर्म को मानते ही नहीं, न शास्त्र को मानते हो, फिर धर्मोत्कर्ष कहाँ से करोगे। भगवान् को पकड़कर अपने को बचा लो, पहले ठीक से मनुष्य बन जाओ, यही बड़ी बात है। बड़ी ऊँची-

ऊँची बातें करने में कोई सार दिखाई नहीं देता।

****

जिज्ञासा :- शास्त्र कहता है- **अवध्या ब्राह्मणा गावो ज्ञातयः शिशवः स्त्रियः। (महाभारत उद्योगपर्व-३६.६६)** क्या ब्राह्मण कितना भी अपराध करे फिर भी अवध्य है?

समाधान :- शास्त्र में ब्राह्मण शब्द जिसके लिये प्रयोग किया है उसका लक्षण और उसके कर्तव्य भी वहाँ कहे गए हैं। जो शास्त्रवर्णित ब्राह्मण है वह इस प्रकार का अपराध नहीं कर सकता जैसा आप सोचते हैं। कई विषयों में शास्त्र की दृष्टि समझनी पड़ती है। ब्रह्मसूत्र में विचार आया कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी यदि ब्रह्मचर्य व्रत को तोड़ता है, स्त्रीसम्बन्ध करता है तो उसके लिये प्रायश्चित्त है अथवा नहीं? वहाँ बताया कि प्रायश्चित्त है। पर जब यह प्रसंग आया कि संन्यासी यदि पतित होता है तो क्या प्रायश्चित्त होगा? वहाँ कहा कि संन्यासी पतित हो सकता है ऐसी कल्पना ही शास्त्र नहीं कर पाता। शास्त्र संन्यास का अधिकार उसी को देता है जो एषणात्रय से रहित है। शास्त्र ऐसा सोचता ही नहीं कि एषणायुक्त व्यक्ति संन्यासी हो सकता है। इसलिये वहाँ यही कहा कि उसके लिये अनशन करके शरीर छोड़ देने के अतिरिक्त और कोई प्रायश्चित्त नहीं है।

आजकल तो न शिखा है न यज्ञोपवीत, केवल ब्राह्मण के घर जन्म लेने से ब्राह्मण कहलाते हैं। शास्त्रदृष्टि से वह ब्राह्मण कहाँ हुआ? जिसके पास शिखा-सूत्र नहीं है वह तो व्रात्य है, उसे किसी शास्त्रीय कर्म में अधिकार नहीं है। यहाँ पर जिस ब्राह्मण को अवध्य कहा है वह शास्त्रीय ब्राह्मण है। वह वेदाध्ययन करता है, गायत्री जपता है, तपस्या करता है। यदि किसी पूर्व संस्कारवश उससे कोई बड़ा अपराध हो जाए तब भी वह वध करने योग्य नहीं है क्योंकि वह वेदज्ञ है उसका समाज में बहुत बड़ा उपयोग है। यही शास्त्र की दृष्टि है।

दूसरी बात यह है कि वध के विषय में भी शास्त्र में बहुत विचार है। जिस समय रामजी को सूचना देने के लिये कालभगवान् आए तो उन्होंने कहा, ''हमारी बात-चीत के समय बीच में कोई नहीं आना चाहिए।'' रामजी ने कह दिया जो भी बीच में आएगा वह वध्य होगा। काल ने सूचना दी कि अब अपने लोक जाने का आपका समय आ गया है। इसी बीच दुर्वासा आ गए और कहा हमें अभी रामजी से मिलना है। लक्ष्मणजी पहरे पर थे, उन्होंने सोचा इन्हें रोका तो अनर्थ हो जाएगा। इसलिये लक्ष्मणजी समाचार देने रामजी के पास चले गए। कालभगवान् तो चले गए पर रामजी के सामने भारी संकट आ गया। उनकी प्रतिज्ञा थी कि जो भी बीच में आएगा उसे हम मारेंगे। अब बिना अपराध के लक्ष्मण जैसे भाई को कैसे मारें!

तब वशिष्ठजी ने कहा, ''शिष्ट या सम्मानित व्यक्ति का अपमान कर देना ही उसके लिये मृत्युदण्ड है। आप लक्ष्मण को कह दो कि हमारे राज्य से निकल जाओ। यही उनके लिये मृत्युदण्ड है।'' इसी प्रकार ब्राह्मण से अपराध होने पर उसका अपमान कर देना और स्थान से बाहर निकाल देना यही उसके लिये मृत्युदण्ड है। इसलिये जब शास्त्र कहता है कि ब्राह्मण अवध्य है तो हमें वैसा ही मानना पड़ेगा। उसको मारने से क्या अदृष्ट बनेगा हम नहीं जानते, शास्त्र ही जानता है। इसी प्रकार शास्त्र की मर्यादा है कि स्त्री अवध्य है। उससे कितना भी बड़ा अपराध हो जाए तो उसे सुधारने का प्रयास करना चाहिए पर वह मारने योग्य नहीं है।

****

जिज्ञासा :- एक श्लोक में कहा है- **स्वार्थे सर्वे विमुह्यन्ति येऽपि धर्मविदो जनाः।(महाभारत विराटपर्व-५१.४)** जो स्वार्थ में मोहित हो जाए उसे धर्मवेत्ता कैसे कहा जाए?

समाधान :- कौन नहीं जानता कि सत्य बोलना चाहिए, कौन नहीं जानता कि क्रोध नहीं करना चाहिए। जब सभी लोग जानते हैं तो धर्म तथा

न्याय के वेत्ता(जानकार) हुए या नहीं? परन्तु केवल धर्म के वेत्ता होने से, धर्म का उपदेश करने से काम नहीं चलता है। स्वार्थ सामने आने पर व्यक्ति धर्म को भूल जाता है।

भीष्मपितामह के समान धर्म का वेत्ता कौन था। इसीलिये उनके अन्तिम समय में भगवान् सभी पाण्डवों को धर्म का उपदेश प्राप्त कराने के लिये उनके पास ले गए। उन्होंने सभी प्रकार के धर्मों का बड़ा सुन्दर उपदेश किया। उस समय द्रौपदी को हँसी आ गई। पाण्डव कुल की मर्यादित कुलवधू धर्मोपदेश के बीच में हँस दे यह बड़ी गम्भीर बात थी। पितामह ने पूछा ,'' बेटी क्या बात है? यह तो उचित मर्यादा नहीं है।'' द्रौपदी ने कहा,''क्षमा कीजिए मुझे एक बात याद आ गई। आप धर्म के इतने बड़े ज्ञाता हैं तो जब सभा में मेरा अपमान हो रहा था उस समय आप चुप क्यों रहे, उसका विरोध क्यों नहीं किया।'' भीष्म ने कहा, ''बेटी! तुम्हारी बात ठीक है। मुझे धर्म का ज्ञान था पर मैं दुर्योधन का नमक खाता था इसलिये मेरे अन्दर उसके विरोध में बोलने की ताकत नहीं रही।'' इसलिये जो धर्म को जानता है उन्हें धर्मवेत्ता कहने में तो कोई दोष नहीं है परन्तु धर्म को जीवन में धारण करना अलग बात है।

****

जिज्ञासा :- कई बार धर्मसंकट सामने आ जाता है कि सत्य बोलें तो सामने वाले को कठोर लगता है। सामने वाले के अनुकूल बोलें तो असत्य हो जाता है। ऐसे में क्या करें?

समाधान :- इस विषय को लेकर धर्मसंकट में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। निर्णय लेने के लिये शास्त्र आपके सामने है वह जैसा कहता है वैसा करो। शास्त्र कहता है-

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः।।(मनु.- ४.१३८)

सत्य वचन बोलना चाहिए और वह सत्य के साथ-साथ प्रिय और हितकर भी होना चाहिए। सत्य होने पर भी कठोर हो तो नहीं बोलना चाहिए। किसी काणे व्यक्ति को काणा कहना सत्य है, फिर भी इस प्रकार नहीं बोलना चाहिए। यह कठोर होने के साथ-साथ हितकर भी नहीं है। किसी को प्रसन्न करने के लिये ऐसी मधुर वाणी भी न बोलें जिसमें सत्यता न हो।

****

जिज्ञासा :- शास्त्र एक तरफ तो सत्य का त्याग न करने के लिये कहता है। दूसरी तरफ कहता है किसी की प्राणरक्षा के लिये एक बार बोला गया झूठ सौ सत्य से श्रेष्ठ होता है। इन दो वाक्यों में कौन सा सत्य है?

समाधान :- दोनों ही सत्य हैं। यहाँ बात समझने की है। किसी निरपराधी की हत्या हो रही हो और वह आप के असत्य बोलने से टल जाए तो वह असत्य सौ सत्य से बढ़कर है। किसी की प्राणरक्षा के लिये असत्य बोलने का तात्पर्य यह नहीं है कि किसी अपराधी को मृत्युदण्ड मिलने वाला हो और आप उसकी प्राणरक्षा करने के लिये गवाही में असत्य बोल दें।

****

जिज्ञासा :- महाभारत में कहा है-

यद् भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा।
विपर्यये कृतोऽधर्मः पश्य धर्मस्य सूक्ष्मताम्।।(शान्तिपर्व)

भूतहित क्या है तथा इसका निर्धारण कैसे हो?

समाधान :- भारतीय परम्परा का धर्म बहुत सूक्ष्म है। सत्य का सम्बन्ध हमेशा हित और अहिंसा से होता है। जिसमें हित निहित न हो वह सत्य नहीं हो सकता। प्रश्न यह है कि भूतहित को कैसे निर्धारित किया जाए। व्यावहारिक सत्य यही है कि आप जैसा जानते हैं वैसा ही बोलिये, उसमें कोई चालाकी मत करिए। मान लीजिए आप जानते हैं कि अमुक व्यक्ति ने चोरी की, अब आप सब जगह इस बात की चर्चा करें इससे क्या लाभ है। इसका

हित से कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि उसे दुःखी करने से सम्बन्ध है। यदि कोई लाभ नहीं है और दूसरे को कष्ट होता है तो वहाँ चुप रहना चाहिए। यदि आप अपना दोष प्रकट करना नहीं चाहते तो दूसरे के दोष को प्रकट करने का अधिकार आपको कहाँ से मिला।

इसीलिये अन्यत्र कहा है-**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।(मनु- ४.१३८)** अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं है कि तुमको गवाही देने के लिये बुलाया गया और तुम झूठ ही बोल दो। झूठ बोलने का तो निषेध है - **प्रियं च नानृतं ब्रूयात्।** किसी को अच्छा लगने के लिये, खुश करने के लिये झूठ बोलने का विधान शास्त्र नहीं करता। अब कहो कि हमारे सत्य बोलने से किसी को दण्ड मिलेगा तो उसका सम्बन्ध जज से है, न्याय से है, तुमसे नहीं। तुम्हारे झूठ बोलने से वह छूट भी जाए तो उसका हित होगा ऐसी बात नहीं है। गवाही में कभी झूठ नहीं बोलना चाहिए। हाँ! शास्त्र में कुछ ऐसे आख्यान आते हैं जिनसे पता लगता है कि कहीं-कहीं घुमा-फिरा कर बोलने से किसी की रक्षा होती हो, कोई बड़ी विपत्ति टलती हो तो बोल सकते हैं पर वह झूठ नहीं होना चाहिए। इसलिये भूतहित का सम्बन्ध अहिंसा से होता है। आप विचार कीजिए कि आप अपने प्रति कैसा व्यवहार चाहते हैं। इससे आप दूसरों के प्रति अपने व्यवहार को मिलाइए तो समझ में आ जाएगा कि भूतहित कैसे निर्धारित हो।

यह बात भी ध्यान रखने की है कि व्यक्तिगत हित की अपेक्षा व्यापक हित का महत्त्व अधिक होता है। इसलिये सरकार कुछ गाँवों को उजाड़कर बाँध बनाती है तो उसमें दोष नहीं मानते क्योंकि उसका सम्बन्ध व्यापक हित से है। शास्त्र यह कहता है कि यदि एक व्यक्ति को हटाने से परिवार सुखी होता है तो उसे हटा देना चाहिए। एक परिवार को हटाने से गाँव सुखी होता है तो उसे हटा सकते हैं। एक गाँव को हटाने से राज्य सुखी होता है तो उसमें दोष नहीं है। इसीलिये अवतारी पुरुष भी कई बार ऐसे व्यवहार कर देते हैं जो गलत

मालूम पड़ते हैं पर उन लोगों को दोष नहीं लगता क्योंकि उस व्यवहार का सम्बन्ध उनके स्वार्थ से न होकर व्यापक हित से होता है।

कृष्ण ने द्रोणाचार्य, भीष्म और कर्ण को मरवाने के लिये क्या-क्या बोल दिया परन्तु उन्हें असत्य का दोष नहीं लगा। वे ऐसा न बोलते तो ये तीनों नहीं मरते, अधर्म जीत जाता। कृष्ण का तो अवतार ही अधर्म के नाश के लिये हुआ था। उनकी दृष्टि धर्म की है, व्यापक हित की है, अतः कोई दोष उन्हें स्पर्श नहीं करता। अवतारी पुरुष या ज्ञानी सन्त ही ऐसा बोल सकता है क्योंकि उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। सामान्य मनुष्य ऐसा नहीं बोल सकता।

मेरा तात्पर्य यही है कि भूतहित का निर्धारण तो बुद्धि से होगा पर आधार शास्त्र को ही बनाना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि जिसके हृदय में शास्त्र-श्रद्धा है, धर्म प्रतिष्ठित है उसका हृदय भूतहित क्या है इसका ठीक निर्णय दे देगा।

****

जिज्ञासा :- धर्मपालन करने के लिए भी क्या वर्णाश्रम का विचार करना अनिवार्य है?

समाधान :- धर्मपालन दो प्रकार से होता है - एक सामान्य और दूसरा विशेष। सामान्य धर्मपालन के लिए वर्णाश्रम का विचार करने की आवश्यकता नहीं है। जैसे -

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः।।(मनुस्मृति-१०.६३)

अहिंसा का पालन करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, शुद्धता रखना, इन्द्रियनिग्रह इत्यादि धर्म सभी वर्णों के लिए मनुस्मृति में कहे गए हैं। इसलिए यहाँ पर वर्णाश्रम का विचार करने की आवश्यकता नहीं है, सभी को पालन करना चाहिए। पर विशेष धर्मपालन करने के लिए वर्णाश्रम का विचार करना आवश्यक है। जिस वर्ण के लिए जो धर्म विहित है उसी का पालन उसके लिए

श्रेयस्कर होता है क्योंकि एक ही धर्म किसी एक वर्ण के लिए धर्म हो जाता है तो दूसरे के लिए अधर्म।

****

जिज्ञासा :- अहिंसाधर्मपालन करने के लिए क्या सर्प-बिच्छू इत्यादि नुकसान पहुँचानेवाले कीटों को भी नहीं मार सकते?

समाधान :- नहीं। यदि आपने अहिंसाधर्मपालन का नियम लिया है, तो आप सर्प-बिच्छू आदि को भी नहीं मार सकते। आप उनको बिना कष्ट पहुँचाए अपने निवास-स्थान से केवल हटा भर सकते हैं या किसी अन्य उपाय से अपना बचाव कर सकते हैं।

****

जिज्ञासा :- निवृत्ति मार्ग के नैष्ठिक ब्रह्मचारी को माता-पिता के दाहसंस्कार में जाना उचित है या नहीं?

समाधान :- निवृत्ति मार्ग के नैष्ठिक ब्रह्मचारी को माता-पिता के दाहसंस्कार में नहीं जाना चाहिए क्योंकि अब उसका कुल ही बदल गया है, इसलिए उसका पुराने रीति-रिवाजों से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा। यहाँ तक कि दत्तक-पुत्र का भी अपने वर्तमान माता-पिता से ही सम्बन्ध होता है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी का सम्बन्ध संन्यास-मार्ग से हो गया है क्योंकि उसने भले ही विरजाहोम करके शिखा-सूत्र का त्याग नहीं किया है, पर है तो वह निवृत्तिमार्गी ही। अतः उसे भी संन्यासी के समान नियमों का पालन करना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- धार्मिक व्यक्ति को किन लक्षणों से पहचाना जा सकता है?

समाधान :- धर्म के दस लक्षण मनुस्मृति में गिनाए गए हैं —

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।(६.९२)

धृतिः - धृति का अर्थ होता है - **धैर्य।** धर्म का एक लक्षण धैर्य भी होता

है। जिस व्यक्ति में धैर्य होगा वह किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होगा।

क्षमा - क्षमा शब्द **क्षमु-सहने** धातु से बना है। सामर्थ्य होने पर भी अपना मन किसी के प्रति नहीं बिगड़ने देना ही क्षमा है। जिस व्यक्ति में धैर्य होता है, उसी में क्षमा हो सकती है।

दमः - दम का अर्थ सामान्यतः तो इन्द्रिय-निग्रह ही होता है, किन्तु यहाँ पर इन्द्रिय-निग्रह का अलग से ग्रहण होने से इसका अर्थ मनोनिग्रह ही लेना चाहिए। जीवन में धर्म-प्रतिष्ठा के लिए मन का वश में होना अत्यन्त आवश्यक है।

इन्द्रिय-निग्रहः - जीवन में सहनशीलता तभी हो सकती है जब आपकी इन्द्रियाँ निगृहीत हों। जिस व्यक्ति की इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, उसके जीवन में धर्म की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। इन्द्रिय और मन को वश में करने की शक्ति तो सभी में है। तभी तो रुपये के लोभ से व्यक्ति काम-क्रोध सहन कर लेता है। इसी प्रकार यदि परमार्थ का लोभ हो जाए तो क्यों नहीं सहन कर सकता! भगवान् ने कहा है - **त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं... (गीता-१६.२१)**। इसलिए यदि व्यक्ति इनको सहन नहीं कर सकता है तो समझना चाहिए कि उसमें परमार्थ का महत्व नहीं है। धार्मिक व्यक्ति पुरुषार्थी होता है, पर प्राप्त भोग में सदा सन्तुष्ट रहता है क्योंकि सन्तोष से अत्युत्तम सुख प्राप्त होता है-

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः।(योगसूत्र-२.४२)

अस्तेयम् - धार्मिक व्यक्ति दूसरों की किसी वस्तु को अनधिकार रूप से कभी नहीं लेना चाहता, दूसरों की वस्तु के प्रति सदा उदासीन रहता है।

शौचः - वह सत्य और मधुर वचनों से वाणी को, सद्विचार से मन को और जल, मिट्टी इत्यादि से शरीर को शुद्ध रखता है क्योंकि शुद्धता जिसके अन्दर है उसी में वैराग्य रहता है। शुद्धता जिसमें नहीं है उसकी इन्द्रियों को भूत-प्रेत आदि अशुद्ध कर देते हैं।

धीः - उसकी बुद्धि विवेकवती होती है। यहाँ पर धीः का अर्थ मात्र

तीक्ष्ण बुद्धि नहीं है, अपितु शुद्ध बुद्धि है। शुद्ध बुद्धिवाला व्यक्ति झट पहचान लेता है कि क्या करना है अथवा क्या नहीं करना है।

सत्यम् - जीवन में धर्म-प्रतिष्ठा के लिए सत्यवचन का आश्रय अत्यन्त आवश्यक है। सत्य का तात्पर्य है जैसा सुना है या जैसा देखा है, वैसा ही वचन बोलना।

अक्रोधम् - उपरोक्त धैर्य, क्षमा इत्यादि गुण आने पर क्रोध का अभाव उसमें स्वाभाविक ही हो जाता है।

विद्या - शास्त्रज्ञान भी तात्पर्य के सहित उसमें रहता है।

उपरोक्त दस गुण जिस व्यक्ति में प्रतिष्ठित हैं वह धार्मिक है। यदि कोई व्यक्ति अपने को धार्मिक समझता है तो उसे अपने जीवन में देखना चाहिए कि उपरोक्त लक्षण घटते हैं या नहीं। यदि घटते हैं तो वह धार्मिक है अन्यथा नहीं।

****

जिज्ञासा :- व्यवहार में कहीं-कहीं नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र के वचनों में विरोध दिखता है, वहाँ किसे माना जाए। धार्मिक होने से जीवन में लाभ क्या है?

समाधान :- धर्मशास्त्र में और नीतिशास्त्र में भेद है। धर्मशास्त्र प्रत्येक व्यवहार का सम्बन्ध स्व से ही मानता है। जैसे किसी ने आपको गाली दी तो उस गाली का सम्बन्ध गाली देनेवाले से ही हुआ, आपसे नहीं। पर यदि आपके मुख से गाली निकल गई तो उसका सम्बन्ध आपसे हो जाएगा। एक बार युधिष्ठिर आदि पाण्डव बैठे थे। कौरव आकर झगड़ा करने लगे और बहुत गालियाँ दीं, परन्तु युधिष्ठिर ने कोई प्रतिक्रिया नहीं की। तब कौरवों ने कहा, "क्या तुम नपुंसक हो? हमने इतनी गालियाँ दीं, तो भी तुम कुछ नहीं बोले।" तब युधिष्ठिर ने कहा- **ददतु ददतु गाली गालीमन्तो भवन्तः।** हे भाइयो! खूब गाली दीजिए क्योंकि आप गाली के विषय में सम्पन्न हो। जिसके पास जो होगा, वही देगा। विद्वान् विद्या देता है, धनवान् धन देता है और गालीमान्

गाली देता है। हम लोग तो गाली के विषय में दरिद्र ठहरे, तो कहाँ से गाली दें!"

देखिए! युधिष्ठिर का मन धर्म की कितनी गहराई में है। उनको गाली गृहीत ही नहीं हो रही है। परन्तु नीतिशास्त्र ऐसा नहीं कहता, वह कहता है यदि कोई तुम्हारे सामने बहुत गर्जना कर रहा है तो तुम भी उसके सामने बढ़-चढ़कर गर्जना करो, तब वह चुप हो जाएगा। इसीलिए कहा - **शठे शाठ्यं समाचरेत्**। शठ को शठ के समान व्यवहार करके ही दबाना चाहिए।

नीतिशास्त्र का भी कथन अपने स्थान पर ठीक ही है, पर धर्मशास्त्र आपको एक अगाध धैर्य की ओर ले जाता है। मृत्यु के समय विजय उसी व्यक्ति की होती है जिसमें धर्म प्रतिष्ठित होता है क्योंकि धर्म की यह प्रतिज्ञा है कि तुम मुझे धारण करो, मृत्यु के समय मैं तुम्हारे साथ रहूँगा। यही धर्म की महिमा है। जगत् की यह प्रतिज्ञा है कि तुम चाहे मेरे लिए झूठ बोलो, चोरी करो या अन्य कुछ भी करो, मृत्यु के समय आपके साथ मैं नहीं रहनेवाला हूँ।

****

जिज्ञासा :- आप प्रायः कहते हैं —धर्म पर खड़े होकर अर्थ को पकड़ो। यदि व्यक्ति ऐसा करेगा तो अर्थ ही नहीं आएगा या फिर बहुत कम आएगा। ऐसे में धर्म पर खड़े होने का क्या औचित्य है?

समाधान :- अच्छा, यह बताइए कि आप धन क्यों चाहते हैं? शान्ति के लिए चाहते हैं अथवा अशान्ति के लिए, तृप्ति के लिए चाहते हैं या अतृप्ति के लिए। आपके पास धन आ जाए और उससे तृप्ति न होकर अतृप्ति बढ़ती जाए तो ऐसे धन से क्या लाभ होगा! मान लो, आपको एक लाख रुपये कहीं से मिले और आपने देखा पड़ोसी के पास दस लाख रुपये हैं। तब आपका चिन्तन हुआ कि मेरे पास तो इससे नौ लाख रुपये कम हैं, तो आपके पास नौ लाख का अभाव हो गया। फिर आपने प्रयत्न करके कहीं से एक करोड़ प्राप्त किए और देखा पड़ोसी के पास दस करोड़ हैं। तब आपको नौ करोड़ का

अभाव लगने लगा। देखिए, पहले से अधिक अशान्ति हो गयी कि नहीं!

ऐसे में शास्त्र कहता है तुम ऐसा धन क्यों चाहते हो जो अशान्ति का कारण बने? धर्म पर खड़े होकर अर्थ को पकड़ोगे तो तुम सूखी रोटी से भी तृप्त हो जाओगे। तुम्हारे अन्दर बहुत बड़ा बल आ जाएगा। शास्त्र तो जीवन की शुरुआत ही यहाँ से मानता है कि तुम्हारा जीवन शास्त्रानुसार चल रहा है या नहीं!

एक मजदूर काम करने के बदले में वेतन लेता है और वह यह भी जानता है कि हमने वेतन लिया है तो हमें इतना काम करना ही चाहिए। अब यदि वह अपना कर्तव्य समझकर उस कार्य को करेगा तो अन्त में स्वर्ग को प्राप्त कर लेगा। यदि कोई मुख्यमन्त्री या बड़ा विद्वान् आचार्य भी अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर रहा है, उसकी दृष्टि पैसे में लगी है तो वह अन्त में नरक में ही जाएगा। भारतीय परम्परा बड़ी विलक्षण है। यहाँ यह नहीं कहा है कि ब्राह्मण स्वर्ग में जाएगा और शूद्र नरक में जाएगा। अपना कर्तव्य-कर्म करके शूद्र भी स्वर्ग में जा सकता है और कर्तव्य-कर्म से दूर होगा तो ब्राह्मण भी नरक में जाएगा। इसलिए शास्त्र व्यक्ति के कर्म को पहले कर्तव्य के साथ जोड़कर फिर ईश्वर से जोड़ देता है, तब वही कर्म उपासना बन जाता है और ईश्वर-प्राप्ति करवाने में समर्थ हो जाता है। इसलिए हमारे शास्त्रों में जो धर्म पर खड़े होकर अर्थ को पकड़ने की बात कही गई है, वह उचित ही है।

****

देवपूजन-कर्मकाण्ड

जिज्ञासा :- किसी स्तोत्र का पाठ मन ही मन करना चाहिए अथवा जोर से उच्चारण करके भी कर सकते हैं?

समाधान :- सामान्यतः तो नियम है कि स्तोत्र पाठ **वैखरीवाणी** (जो वाणी समीप में बैठे हुए व्यक्ति को स्पष्ट सुनाई दे) में ही किया जाता है। एक बात का ध्यान अवश्य रखें कि हमारे द्वारा होने वाले शब्द से किसी अन्य साधक को विघ्न तो नहीं हो रहा है। इसलिये स्तोत्र पाठ करने के लिये एकान्त स्थान का चयन करें। यदि समीप में अन्य लोग हों तो **उपांशुस्वर** (मात्र होंठ-जिह्वा हिले, लेकिन समीप में बैठे व्यक्ति को सुनाई न पड़े) में पाठ कर सकते हैं। यदि व्यक्ति निष्काम भाव से केवल भगवान् की प्रसन्नता के लिये पाठ करता है तो उसे यह प्रयास करना चाहिए कि शब्दों के उच्चारण में जीभ तो हिले परन्तु शब्द बाहर न निकले। हमने अनुभव किया है कि ऐसे पाठ में तन्मयता अधिक होती है, अधिक भाव बनता है और अधिक आनन्द भी प्राप्त होता है। ऐसे पाठ के साथ अर्थचिन्तन ठीक प्रकार से हो सकता है।

जो व्यक्ति जगत् की कामनाओं को मन में रखकर सकाम भाव से स्तोत्र का पाठ करते हैं उन्हें तो जोर से उच्चारण करके ही पाठ करना चाहिए। इसमें भी ध्यान रखें कि पाठ को जल्दी-जल्दी न करें , गायन न करें, सिर न हिलाएं, अपने हाथ से लिखा हुआ पाठ न करें, अर्थ जाने बिना पाठ न करें और अस्पष्ट उच्चारण भी न करें।

****

जिज्ञासा :- किसी स्तोत्र का पाठ करने के बाद उसकी फलश्रुति को पढ़ना चाहिए अथवा नहीं?

समाधान :- फलश्रुति को पढ़ें तो अच्छा है क्योंकि वह भी उस स्तोत्र के अन्तर्गत ही आती है। यदि अधिक संख्या में स्तोत्र का पाठ करना हो तो प्रथम और अन्तिम आवृत्ति में फलश्रुति सहित स्तोत्र पढ़ लें और बीच में केवल स्तोत्र का पाठ करें ऐसा शास्त्रीय विधान है।

****

जिज्ञासा :- किसी स्तोत्र का पाठ यदि अनुष्ठानरूप से करना हो तो कितनी संख्या में करना चाहिए?

समाधान :- यदि स्तोत्र, कवच या सहस्रनाम का अनुष्ठान करना हो तो उसके १,१०० पाठ करने पड़ते हैं, यह सामान्य नियम है। किसी-किसी स्तोत्र में अनुष्ठान के लिये आवृति की संख्या के विषय में बता दिया जाता है। वहाँ पर तदनुसार ही संख्या समझनी चाहिए। कलियुग में उसका ४ गुना करना चाहिए अर्थात् आप ४ बार १,१०० पाठ करेंगे तब वह स्तोत्र सिद्ध होगा। इसके बाद आप उसका प्रयोग कर सकते हैं चाहे वह जगत् के लिये करें या मोक्ष के लिये वह आपके हाथ में है।

****

जिज्ञासा :- क्या श्राद्धकर्म में मित्रों को निमन्त्रण दे सकते हैं?

समाधान :- श्राद्धकर्म में विशेषकर विद्वान् तथा सत्कर्म करने वाले ब्राह्मणों की ही प्रधानता होती है। इसलिये अपनी सामर्थ्य के अनुसार मित्र या शत्रु भाव को त्यागकर ग्यारह, इक्कीस अथवा अधिक संख्या में ब्राह्मणों को बुलाएं। ब्राह्मणों को भोजन करवाकर उन्हें दान-दक्षिणा देकर विदा करना चाहिए। तदुपरान्त मित्र-सम्बन्धियों को भोजन करवा सकते हैं। श्राद्ध में दौहित्र को निमन्त्रण के लिये विशेष विधान किया है -

व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत्। (मनु.-३.२३४)

****

जिज्ञासा :- सन्ध्याकर्म के लिये सुबह और शाम के समय का ही

विधान क्यों किया गया है?

समाधान :- कोई भी कर्म हो उसके फल में काल का बहुत योगदान होता है। उपयुक्त काल में किया गया कर्म ही पूर्ण फल देने में सफल होता है। शास्त्र में आठ प्रहर(चौबीस घण्टे) को चार भागों में विभाजित किया है। जिनमें चार सन्धियाँ हैं- प्रातः, मध्याह्न, सायं और निशीथ(मध्य रात्रि)। इन सन्धियों में किया गया भजन-ध्यान उत्कृष्ट माना जाता है। यहाँ पर यह शंका नहीं करनी चाहिए कि इन्हीं कालों को महत्त्व क्यों दिया गया है। सृष्टि के आदि में कृपाशक्ति ने कुछ विशेष काल निर्धारित किए हैं। जैसे सन्ध्याकाल, सूर्यग्रहण, चंद्रग्रहण, संक्रान्ति इत्यादि। इन कालों में किया गया कोई भी कर्म प्रबल फल देने में समर्थ होता है। सूर्यग्रहणकाल में किसी मन्त्र का जप किया जाए तो वह एक पुरश्चरण का फल देता है। क्यों देता है? इसलिये कि सृष्टि के आदि में कृपाशक्ति ने यही नियम बनाया जो आज भी चल रहा है। इसलिये सनातन परम्परा में त्रिकाल सन्ध्या का विधान किया गया है। तन्त्रशास्त्र में तो निशीथकाल की सन्ध्या का भी विधान है।

****

जिज्ञासा :- सन्ध्या आदि नित्यकर्म किसी दिन समय पर नहीं होने से बाद में कर सकते हैं क्या?

समाधान :- यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि समय पर क्यों नहीं हुआ? उस समय सो रहे थे या किसी से गप्प लड़ा रहे थे। यदि ऐसी बात है तो मैं पहले इस आलस्य और प्रमाद को दूर करने के लिये कहूँगा। हाँ, यदि उस समय आप यात्रा में थे या शरीर स्वस्थ नहीं था अथवा अन्य कोई परिस्थिति थी जिसे आप टाल नहीं सकते थे तो चिन्ता करने की बात नहीं। इस बात को सिद्धान्त के रूप में धारण करना चाहिए कि कोई भी शास्त्रीय क्रिया समय पर किये जाने से ही पूर्ण फल देती है। समय का उल्लंघन होने पर वह ठीक प्रकार से फल नहीं देती, परन्तु न करने की अपेक्षा देरी से करना भी उचित है। पूर्ण

फल नहीं तो कुछ मिलेगा।

****

जिज्ञासा :- लिङ्ग शब्द का क्या अर्थ है? ज्योतिर्लिङ्ग बारह ही क्यों हैं?

समाधान :- शास्त्र में लिङ्ग शब्द का अर्थ किया गया है - **लीनम् अर्थं गमयति इति लिङ्गम्।** जो छुपे हुए अर्थ को बताए वह लिङ्ग कहलाता है। जैसे हम कहीं धूम देखते हैं तो समझ जाते है कि वहाँ अग्नि है। इसी प्रकार शिवलिङ्ग कारणतत्त्व का अर्थात् जगत्कारण का बोधक है। कार्यरूपी जगत् हमें दिखाई दे रहा है परन्तु उसका कारण परमेश्वर दिखाई नहीं देता। उसका बोधक होने से इसे लिङ्ग कहते हैं। इसलिये इसकी उपासना सभी के लिये अनिवार्य है क्योंकि लिङ्ग की उपासना कारण की उपासना है, बाकी सभी उपासनाएँ कार्य की होती हैं। मानस में रामजी ने कहा है-

औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि।।

(उत्तरकाण्ड- ४५)

यहाँ पर गोपनीयता यही है कि यह उपासना **कारणतत्त्व** की है।

जहाँ कहीं भी किसी निमित्त से ज्योति के रूप में शिव प्रकट होते हैं, बाद में वहाँ लिङ्ग की स्थापना होती है उसे ज्योतिर्लिङ्ग कहा जाता है। जैसे ओंकारेश्वर के विषय में देखिए, विन्ध्याचल की इच्छा हुई कि मेरे ऊपर महादेव का निवास हो, तो उसने कठोर तपस्या की। महादेव प्रसन्न होकर ज्योतिरूप से प्रकट हुए, तब सभी देवता और ऋषि वहाँ पहुँचे और महादेव की स्तुति की। सबने प्रार्थना की कि जीवों के कल्याणार्थ आप यहाँ निवास करें। तब वह ज्योति दो भागों में विभक्त हो गई, एक तो जिस लिङ्ग की पूजा विन्ध्य करता था उसमें लीन हुई और दूसरी ओंकार पर्वत में। सभी ज्योतिर्लिङ्गों की कथाओं में यही बात आती है कि पहले महादेव ज्योतिरूप

से प्रकट होते हैं, फिर वह ज्योति लिङ्ग में लीन हो जाती है। इसीलिये इनका नाम ज्योतिर्लिङ्ग पड़ा।

हमारे शरीर में बारह ज्योतियाँ हैं जिनके द्वारा हमारा सारा व्यवहार होता है - पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि। व्यष्टि में ये बारह ज्योतियाँ हैं। इन्हीं के अनुरूप समष्टि में भी बारह ज्योतियाँ हैं, वही बारह ज्योतिर्लिङ्ग हैं।

****

जिज्ञासा :- शिवजी के पूजन में भस्मी के स्थान पर चन्दन का प्रयोग कर सकते है क्या? क्या ब्रह्मचारी या संन्यासी चन्दन धारण कर सकते हैं?

समाधान :- जिस देवता को जो वस्तु प्रिय होती है उसकी पूजा में उस वस्तु का तो प्रयोग करना ही चाहिए। इसके अतिरिक्त जो वस्तु निषिद्ध नहीं है उसका भी आप प्रयोग कर सकते हैं। भस्मी और बिल्वपत्र भगवान् शिव को बहुत प्रिय है। इसलिये शिव पूजा में इनका प्रयोग अवश्य ही करना चाहिए। चन्दन या अष्टगंध यदि उपलब्ध है तो आप चढ़ाएं, पर भस्मी की कटौती करके नहीं।

देवता का पूजन करके बचा हुआ चन्दन ही प्रसाद के रूप में संन्यासी या ब्रह्मचारी को धारण करना चाहिए, शरीर सजाने के लिये नहीं। शरीर सजाना तो संन्यासी के लिये निषिद्ध है और ब्रह्मचारी के लिये भी। आजकल तो एक नई परम्परा देखने को मिलती है। साधु लोग चन्दन, भस्मी दर्पण देखकर लगाते हैं। यह सुन्दर दिखने की जो वासना है इसे साधु को छोड़ना चाहिए क्योंकि उसको तो शरीर की उपेक्षा करने का अभ्यास बढ़ाना है, देहाध्यास समाप्त करना है। देहाध्यास ही परमार्थ मार्ग में सबसे बड़ा बाधक है।

यह देहाध्यास इतना मजबूत है कि जल्दी छूटता ही नहीं क्योंकि सम्पूर्ण व्यवहार का आधार तो यही है। शरीर का अधिक ध्यान रखने से यह

प्रबल होता जाता है। इसलिये साधु अपने शरीर को चन्दन-वस्त्र इत्यादि से न सजाये।

****

जिज्ञासा :- क्या पार्थिवशिवलिङ्ग-पूजन प्राचीन आराधना है? इसका महत्त्व और सामान्य विधि क्या है?

समाधान :- हाँ! पार्थिवशिवलिङ्ग-पूजन बहुत प्राचीन परम्परा है, यह एक वैदिक आराधना है। इस पूजन का बहुत बड़ा महत्त्व है। शिवपूजन तो सब कुछ दे सकता है। इहलोक भी देता है, परलोक भी देता है, आत्मज्ञान भी दे देता है। अब तुम पूजन किसलिये करते हो यह तुम्हारे मन की बात है। महादेव तो सब कुछ दे सकते हैं। घुश्मा की पार्थिवलिङ्गपूजन की निष्ठा के कारण घुश्मेश्वर ज्योतिर्लिङ्ग का प्राकट्य हुआ।

पार्थिवलिङ्ग-पूजन सभी लोग कर सकते हैं। विधियाँ सबके लिये अलग-अलग हैं। किसी के लिये वैदिक विधि है और किसी के लिये पौराणिक, योग्यता के अनुसार विधियों का भेद है परन्तु पूजन सभी लोग कर सकते हैं। पार्थिवलिङ्ग के लिये मिट्टी ग्रहण करना, लिङ्ग बनाना, उसकी स्थापना करना इन सबके अलग-अलग मन्त्र और विधियाँ हैं जिन्हें शास्त्र में देख लेना चाहिए। इसी मिट्टी से पञ्चदेव भी बनाए जाते हैं क्योंकि महादेव के पूजन में गणपति, पार्वती, विष्णु और सूर्य का पूजन तो सदा होता ही है।

****

जिज्ञासा :- नर्मदेश्वर शिवलिङ्ग के पूजन के लिये प्राण-प्रतिष्ठा आवश्यक है अथवा नहीं?

समाधान :- स्कन्दपुराण के काशी खण्ड में वर्णन आता है कि नर्मदा ने काशी में जाकर दीर्घकाल तक तपस्या की और महादेव को प्रसन्न किया। महादेव के प्रकट होने पर उनसे अनेक वरदान प्राप्त किये जिनमें से एक यह भी था कि हमारे जल के अन्दर रहने वाले पत्थर साक्षात् शिवरूप माने जाएं।

उनके पूजन के लिये प्राणप्रतिष्ठा की आवश्यकता न रहे। कोई भी व्यक्ति मेरे जल से पत्थर निकाल कर उसका पूजन प्रारम्भ कर सकता है। इसके अनुसार तो यही मालूम पड़ता है कि नर्मदेश्वर के पूजन के लिये प्राणप्रतिष्ठा की कोई आवश्यकता नहीं है।

परन्तु आजकल कई बातें व्यावहारिक हो जाती हैं। आप ने पत्थर निकाल कर पूजन शुरु कर दिया उसमें तो कोई दोष नहीं है पर जब दूर कहीं मन्दिर बनता है तो नर्मदा से आप शिवलिङ्ग वहाँ ले जाते हैं। नर्मदा से निकालते ही तो उसका पूजन शुरु नहीं होता। ऐसे नर्मदेश्वर की प्राणप्रतिष्ठा करनी चाहिए। दूसरी बात, आजकल लोग चाहते हैं कि नर्मदेश्वर सुन्दर हो। वह तो सीधे नर्मदा से प्रायः नहीं मिलता। इसलिये नर्मदा से पत्थर लेकर मशीन से सुन्दर नर्मदेश्वर बनाया जाता है। उसकी तो प्राणप्रतिष्ठा अनिवार्य है।

****

जिज्ञासा :- कुछ प्राचीन मन्दिरों में देखते हैं कि खण्डित शिवलिङ्ग का भी पूजन किया जाता है। क्या उस पूजन का भी कोई महत्व है? क्या उन्हें बदलने का विधान नहीं है?

समाधान :- एक बात ध्यान में रखने की है कि ऐसे क्षेत्र में एक शक्ति रहती है, वह उस शिवलिङ्ग तक ही सीमित नहीं रहती। इसलिए उस क्षेत्र का माहात्म्य होता है। शिवलिङ्ग खण्डित हो जाए तो भी उसकी शक्ति कहीं जाती नहीं है। वह शक्ति ही वहाँ रहकर जीवों को अपनी ओर आकर्षित करके उनका कल्याण करती है। रही बात शिवलिङ्ग बदलने की, तो शास्त्रों में इस विषय में कहा है कि देवताओं, ऋषियों, मुनियों एवं सिद्धों के द्वारा स्थापित जो मूर्तियाँ हैं, उनको आप बदल नहीं सकते। यदि वे खण्डित हो गई हैं और पूजा करने योग्य नहीं रहीं, तो उन्हें आप किसी बहुमूल्य धातु में मण्डित करके दर्शन के लिए यथास्थान पर अवश्य रखें और पूजा के लिए उसके प्रतिनिधि के रूप में समीप में ही एक अन्य मूर्ति स्थापित कर सकते हैं।

जिज्ञासा :- आजकल लोग देवी-देवताओं के चित्रों को फ्रेम में मढ़वाकर उनकी पूजा करते हैं, क्या यह भी मूर्तिपूजा के समान शास्त्रीय है?

समाधान :- हाँ, इसे शास्त्रीय ही मानना चाहिए। यद्यपि उनमें प्राण-प्रतिष्ठा आदि नहीं की जा सकती, फिर भी भावना का फल तो मिलता ही है। उन्हें देखकर देवता-विषयक जो स्मृति बनती है, उससे लाभ होता है। इसलिए इस पूजा को अशास्त्रीय नहीं कह सकते।

****

जिज्ञासा :- आर्य-समाज कहता है कि आज से पैंतीस सौ वर्ष पूर्व मूर्तिपूजा नहीं होती थी। आपका इस विषय में क्या विचार है?

समाधान :- आर्य-समाज के कहने से इस बात को हम कैसे सत्य मान सकते हैं! क्या आर्य-समाज के कहने से पुराणों को मानना भी हम छोड़ देंगे? यदि छोड़ देंगे तो जीवन में कोई आदर्श ही नहीं रहेगा। इसलिए पुराणों को हम नहीं नकार सकते और पुराणों को मानें तो उनमें जगह-जगह आता है कि सत्युग, त्रेतायुग इत्यादि में भी मूर्तिपूजा होती थी। विचार करके भी देखिए कि उस निराकार ईश्वर की पूजा करने के लिए आपके पास मूर्ति के अतिरिक्त और क्या आधार है! इसलिए चाहे आर्य समाज हो या और कोई समाज, किसी से भी भ्रमित न होकर अपनी निष्ठा में स्थित रहना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- मन्दिर में घण्टा क्यों बजाया जाता है? इससे क्या लाभ है?

समाधान :- घण्टा बजाने पर एक विलक्षण नाद की अभिव्यक्ति होती है। आप कभी जोर से घण्टा बजाइए और उससे जो ध्वनि निकलती है उसपर मन और श्रोत्र को केन्द्रित कर दीजिए। वह ध्वनि धीरे-धीरे सूक्ष्म और व्यापक होती जाती है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर लेती है। हम कुछ दूर तक ही सुन पाते हैं, यह अलग बात है। हमारी बातचीत से या अन्य बाजे बजाने पर

इस प्रकार के नाद की अभिव्यक्ति नहीं होती। नाद का शास्त्रों में बहुत महत्त्व कहा गया है। विशिष्ट नाद का अभिव्यंजक होने से घण्टावादन को पवित्र माना गया है।

पूजन के समय जब घण्टा बजाया जाता है तो पण्डित एक मन्त्र बोलते हैं उसके अर्थ पर भी जरा ध्यान दीजिए -

आगमार्थं च देवानां निर्गमार्थं तु राक्षसाम्।
घण्टानादं करोम्यहं देवताह्वानलाञ्छनम्।।

देवताओं और अन्य सात्त्विक वृत्ति वाले लोगों को मन्दिर में बुलाने के लिये तथा बुरी वृत्ति वाले राक्षस, प्रेत आदि को भगाने के लिये मन्दिरों में घण्टा बजाया जाता है। ये घण्टा, नगाड़ा, शंख आदि जो वाद्य हैं इनको बजाने से अनिष्ट दूर होता है और मंगल की प्राप्ति होती है। सभी उपद्रव शान्त हो जाते हैं। देहात में लोग कहते हैं - **शंख बाजे बलाएं भागें।**

इसके अलावा शास्त्रों में भी कहा है कि देवताओं के पूजन के समय घण्टा, मृदंग आदि वाद्य बजाने से, नृत्य करने से देवता प्रसन्न होते हैं। हमारा मन भी आनन्द में डूब जाता है। आरती के समय यदि लय-ताल के साथ घण्टा आदि वाद्य बजाये जाएं तो एक ऐसा वातावरण बनता है कि मन उसमें तल्लीन हो जाता है, बाहरी जगत् में नहीं जाता यह भी इसका एक लाभ है।

****

जिज्ञासा :- यदि गोदान करना हो तो क्या जर्सी गाय का दान कर सकते हैं?

समाधान :- शास्त्र दृष्टि से तो नहीं हो सकता क्योंकि वह वर्णसंकर जाति है। हमने लोगों से पता लगाया है कि जर्सी की दो ही प्रजातियाँ हैं। एक सूअर के बीज से बनाई गई है और दूसरी गधे के बीज से। दोनों वर्णसंकर हैं। शास्त्र में गाय का लक्षण किया है - **सास्नादिमत्त्वम्।** जिसके गले में सास्ना अर्थात् गलकम्बल(गले के नीचे लटकती हुई खाल) हो वही गाय है। यह

लक्षण देशी गाय में तो मिलता है, परन्तु जर्सी में नहीं मिलता। इसलिये शास्त्र के अनुसार तो जर्सी को गाय ही नहीं कह सकते। उसके दान से गोदान का फल नहीं मिलेगा। उसे पालने से आपको दूध बहुत मिलेगा परन्तु गोसेवा का पुण्य नहीं मिल सकता।

****

जिज्ञासा :- आज के युग में दान का फल दिखाई क्यों नहीं देता?

समाधान :- दान के विषयों में हमने महात्माओं से सुना है -

सतयुग मान समेत घर त्रेता घरहि बुलाय।
द्वापर मांगे देत है कलियुग काम कराय।।

सतयुग में जिसको दान देना होता था उसके घर जाते थे और बहुत प्रार्थना करते थे कि महाराज! मेरी यह वस्तु आप स्वीकार करें। बड़ा पूजन-सत्कार करके दान देते थे। अभी सौ वर्ष पहले तक ऋषिकेश में महात्माओं के पीछे सेठ लोग कम्बल लेकर घूमते रहते थे- महाराज! मेरा एक कम्बल स्वीकार कर लो। उस समय ऋषिकेश में सतयुग का ही वातावरण था। उसके बाद त्रेता आ गया तो ''घरहि बुलाय'', गुरुजी को घर बुला लो तब दान देंगे। द्वापर में मांगने पर दान दिया जाता था। अब तो ''कलियुग काम कराय'', काम कराए बिना एक पैसा भी दान नहीं देंगे। पण्डितजी मेरा यह अनुष्ठान कर देना, इतना जप कर देना फिर पैसा देंगे। इसके अलावा दान देने में देश, काल, पात्र का जैसा ध्यान रखना चाहिए वह आज के लोग नहीं रख पाते। इसलिये दान का फल जैसा प्रकट होना चाहिए वैसा नहीं होता।

****

प्रारब्ध, पुण्य-पाप, संस्कार

जिज्ञासा :- महात्मा घर-बार सब छोड़कर जब भगवान् का ही हो जाता है तो उसका प्रारब्ध के साथ सम्बन्ध नहीं रहना चाहिए। यदि परमात्मा को प्रारब्ध का भोग करवाना ही है तो वृद्धावस्था में क्यों करवाता है?

समाधान :- प्रारब्ध से ही तो वह घर छोड़ता है, नहीं तो बचपन में ही घर कैसे छोड़ देता। उसके पूर्वजन्म के संस्कार और प्रारब्ध को छोड़कर अन्य क्या हेतु बन सकता है? बचपन में वैसे संस्कार और विचार कहाँ से उत्पन्न होते हैं। मात्र इस जन्म के पुरुषार्थ को हेतु मानें तो उसे बहुत काल लगेगा। यदि कोई घर छोड़ने में हेतु विक्षेप को माने तो भी उसे प्रारब्ध और संस्कार ही समझना चाहिए क्योंकि घर छोड़ने का बल सभी में नहीं देखा जाता। प्रत्यक्ष देखते हैं कि लोगों में विक्षेप भी हो रहा है, जगत् के थप्पड़ भी लग रहे हैं, दुःखी हो रहे हैं फिर भी घर नहीं छोड़ रहे हैं। यदि कोई घर छोड़ने को कहे तो उल्टा उसे ही डाँट देते हैं।

एक बार अपने महाराजजी(स्वा.दिव्यानन्द सरस्वतीजी) हिमालय-भ्रमणकाल में रात्रि के समय किसी गाँव में ठहरे थे। रात्रि को एक वृद्ध उनके पास आया। वह बहुत दुःखी दिखाई दे रहा था। उन्होंने पूछा - ''भाई! इतने दुःखी क्यों हो?'' उसने कहा - ''लड़का और बहू मेरा बहुत अपमान करते रहते हैं। आज तो लड़के की माँ भी उनके साथ हो गई और सभी ने मिलकर मुझे घर से निकाल दिया। भोजन तक नहीं दिया।'' यह सुनकर उनको दया आ गई और कुछ खाने को दिया। फिर कहा - ''रात्रि को यहीं सो जाओ।'' वह वहीं सो गया। जब सुबह हुई तो उन्होंने कहा- ''चलो मेरे साथ, क्या रखा है संसार में।'' इतना सुना कि वह बहुत बिगड़ गया और उन्हें डाँटने लगा -

''मुझे भिखारी बनाना चाहते हो।'' उन्होंने कहा - ''अरे भाई! रात्रि में तो रो रहे थे।'' उसने कहा - ''इसमें क्या हुआ। अपमान किया तो मेरे लड़कों ने किया, पत्नी ने किया, किसी पराये ने थोड़े ही किया।'' यह सुनकर वे हँसे और चल दिए। देखो, यह स्थिति है संसार की। ऐसे ही कोई घर थोड़े छोड़ देता है।

मान लो कोई घर छोड़ भी दे तो वह डाकू भी बन सकता है, चोर भी बन सकता है पर यदि कोई ऐसा न करके महात्मा बनता है तो वहाँ पूर्वजन्म का सम्बन्ध मानना चाहिए। इसलिये कहा - **पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।(गीता- ६.४४)।** वह पूर्वजन्म के अभ्यास से जबरन ही घर छोड़ देता है। जब प्रारब्ध आपका इतना कल्याण कर रहा है, जगत् से निकाल कर परमात्मा की ओर ले जा रहा है फिर आप उससे क्यों डरते हैं? प्रारब्ध कोई मामूली वस्तु नहीं है। जिन कर्मों को लेकर यह शरीर मिला है उन्हें प्रारब्ध कहते हैं। उनका भोग भी होगा। अब वह आपकी इच्छानुसार तो नहीं आयेगा। बचपन का भोग बचपन में आएगा, जवानी का भोग जवानी में आएगा। इसी प्रकार वृद्धावस्था भी प्रारब्ध से ही आती है तो वृद्धावस्था का भोग भी उसी समय आएगा।

हाँ! यदि आप महात्मा हैं तो आपका आश्रय परमेश्वर ही होना चाहिए। आपको सुख-दुःखात्मक सभी प्रकार के प्रारब्ध में परमेश्वर की कृपा ही दिखाई देनी चाहिए।

****

जिज्ञासा :- भगवद्भक्त के संचित और प्रारब्ध कर्मों का क्या होता है?

समाधान :- लोक में देखा जाता है कि जब आप अपना घर किसी को दान दे देते हैं तो उसमें रहने वाले साँप, बिच्छू, चूहे, मच्छर आदि आपके साथ तो नहीं आते। घर के साथ ही रह जाते हैं। इसी प्रकार जब किसी भक्त ने

शरीर तथा शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं से लेकर अहंकारपर्यन्त सब को परमात्मा के लिये समर्पित कर दिया तो शरीर के साथ रहने वाले कर्म चाहे वह संचित हों अथवा प्रारब्ध या फिर क्रियमाण हों किसी के साथ भी उसका सम्बन्ध नहीं बनेगा।

****

जिज्ञासा :- शास्त्र में मदिरापान को महापातक की श्रेणी में रखा है। ठण्डे प्रदेश में रहने वाले सैनिकों के लिये मदिरापान अनिवार्य जैसा हो जाता है। ऐसे में उनकी क्या गति होगी?

समाधान :- शास्त्र में जो धर्म निर्धारित किया है वह वर्णाश्रम और परिस्थिति विशेष को ध्यान में रख कर किया है। मदिरापान जहाँ ब्राह्मण के लिये घोर पाप कहा है वहीं अन्य वर्णों के लिये इतना घोर पाप नहीं बताया। शूद्र के लिये तो यहाँ तक कह दिया कि वह मदिरापान का त्याग करता है तो महान् फल है और ग्रहण करता है तो पाप नहीं है क्योंकि वह वैसी ही प्रकृति में पैदा और पोषित हुआ है। उसके लिये उसे त्यागना बड़ा पुरुषार्थ है। इसी प्रकार ठण्डे प्रदेश में रहने वाले सैनिक के लिये भी समझना चाहिए। उसका मुख्य कर्तव्य है देश की रक्षा के लिये लड़ना। वह जिस वातावरण में रहता है उसमें यदि मदिरापान अनिवार्य है तो उसे पाप नहीं लगता। हाँ! मदिरापान का त्याग करता है तो महान् फल है।

****

जिज्ञासा :- अज्ञान से हुआ पाप कितना प्रबल होता है? उसका प्रायश्चित्त क्या है?

समाधान :- जो पाप अज्ञान से हो जाता है वह कमजोर होता है। उसके लिये अलग से प्रायश्चित्त करने की जरूरत नहीं। वह अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन करने तथा भगवान् से प्रार्थना करने पर समाप्त हो जाता है।

****

जिज्ञासा :- क्या नागरिक नियमों का पालन न करने पर पाप लगता है?

समाधान :- भले ही नागरिक नियमों के उल्लंघन करने से उत्पन्न दोषों का कथन शास्त्र में नहीं किया, पर उनका पालन करना चाहिए, नहीं तो उस लापरवाही का फल तो मिल ही सकता है। मान लो, आपने सड़क पर चलते समय अपने कर्तव्यों का ध्यान नहीं रखा तो जो दुर्घटना होगी वह नागरिक नियमों के उल्लंघन का फल है।

****

जिज्ञासा :- कुछ व्यक्ति चोरी का सामान ले जा रहे थे। उन्होंने मुझे सहायता के लिये कहा। मैंने यह जानते हुए भी कि यह चोरी का सामान है मानव धर्म समझ कर उनकी सहायता की। ऐसे में मुझे पाप लगा या पुण्य? यदि पाप लगा तो इसका प्रायश्चित क्या है?

समाधान :- आपने मानव धर्म समझकर उनकी सहायता की तो जो हुआ उसको भूल जाइये। भविष्य में यह जानते हुए कि यह चोरी का सामान है, किसी की सहायता नहीं करना चाहिए। नहीं तो उसमें दोष के भागी आप भी होंगे। धर्म-अधर्म तो बाद की बात है, मानलो उन चोरों की खोज करते हुए पुलिस वहाँ पहुँच जाये तो उनके साथ आप फँसेंगे या नहीं? आपने पहले किया है उसका प्रायश्चित्त यही है कि भविष्य में सावधान रहें।

****

जिज्ञासा :- पञ्चदशीकार ने कहा है कि ब्रह्म के परोक्ष ज्ञान से पापों का नाश हो जाता है, यह कैसे सम्भव है?

समाधान :- पञ्चदशी में कहा है -

परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम्।
बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत्॥(१.६३)

परोक्ष ज्ञान बुद्धिपूर्वक किए गए पापों का नाश कर देता है। यह है तो

जटिल बात परन्तु पहले समझना चाहिए कि परोक्ष ज्ञान क्या चीज है। ब्रह्म के असन्दिग्ध ज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहते हैं। आपकी बुद्धि में ब्रह्म के विषय में कोई सन्देह न रहे तभी कहा जाएगा कि आपको परोक्ष ज्ञान हो गया। तत्त्व के विषय में ठीक-ठीक निर्णय हो जाने पर बुद्धि के दोष तो इस ज्ञान से समाप्त हो जाते हैं परन्तु उसके पीछे जो अज्ञान है वह समाप्त नहीं होता। इसी दृष्टि से पञ्चदशीकार ने यह बात कही है, हालाँकि अन्य ग्रन्थों में ऐसी बात नहीं आती।

एक विचारणीय बात यह भी है कि अबुद्धिपूर्वक और बुद्धिपूर्वक होने वाले पाप क्या हैं? जो पाप अनजान में हो जाए वह अबुद्धिपूर्वक और जो पाप जानबूझकर करते हैं वह बुद्धिपूर्वक कहलाता है। यहाँ उनका आशय यही मालूम होता है कि अबुद्धिपूर्वक कृत जो पाप हैं वह स्वाभाविक होता है, अतः उसका दोष नहीं लगता है। परन्तु जिसको परोक्ष ज्ञान नहीं है उसे बुद्धिपूर्वक कृत पाप का दोष अवश्य लगेगा। परोक्ष ज्ञान होने पर बुद्धि में निर्णय हो जाता है कि इस पाप से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये उस पाप से वह छूट जाता है। यही ग्रन्थकार का तात्पर्य दिखाई देता है। परन्तु हमको तो यह बात जँचती नहीं है।

****

जिज्ञासा :- अत्यन्त पापी व्यक्ति अपने जीवन के अन्तकाल में कोई शुभ कर्म कर दे तो क्या उसका कल्याण हो सकता है?

समाधान :- वैसे तो किसी अत्यन्त पापी मनुष्य से अन्तकाल में शुभ कर्म होने की सम्भावना बहुत कम होती है परन्तु यदि किसी प्रकार उससे कोई शुभ कर्म बन जाए और उस कर्म का सम्बन्ध ईश्वर से हो जाए तो उस व्यक्ति का भी कल्याण हो सकता है।

बलि के विषय में आता है कि वह पिछले जन्म में बहुत बड़ा पापी था। एक दिन वेश्या के लिये बहुत सी सामग्री लेकर शाम के समय जा रहा

था। एक शिव मन्दिर के पास से गुजर रहा था तो वहाँ आरती हो रही थी। उसका ध्यान उधर चला गया, ठोकर लगकर गिरा और सिर फट गया, सारी सामग्री बिखर गई। उसे आभास हुआ कि अब मरने ही वाला हूँ तो पता नहीं कहाँ से मन में आ गया - "ओहो! जीवन भर तो मैंने कुछ पुण्य नहीं किया परन्तु अब यह सब सामग्री मैं महादेव को अर्पित करता हूँ।" इसी विचार में उसका शरीर छूट गया।

जब धर्मराज के पास पहुँचा तो उन्होंने कहा - "तुम्हारे जीवन में तो पाप ही पाप है, केवल एक पुण्य है। किसका फल पहले भोगोगे?" उसने प्रार्थना की कि उस अन्तकाल के पुण्य का फल मुझे पहले मिल जाए उसके बाद में मुझे नरक में छोड़ दीजिएगा। धर्मराज ने विचार करके कहा - "इस पुण्य से तो तुम्हें दो घड़ी के लिये इन्द्र का पद मिल सकता है।" उन्होंने संकल्प से इन्द्र को बुलाया और कहा -"आप दो घड़ी के लिये स्वर्ग से बाहर घूम आएँ, तब तक यह जीव आपके पद पर रहेगा।"

वहाँ बैठते ही बलि ने दो घड़ी में संकल्प करके स्वर्ग की सब वस्तुएँ दान कर दीं। स्वर्ग में तो लोग भोग के लिये जाते हैं, पर महादेव ने उसे ऐसी बुद्धि दे दी तो क्या करे! उसी दान के प्रभाव से उसका सारा पाप दब गया। स्वर्ग में दान करने की विधि नहीं है इसलिये उसका जन्म दैत्यकुल में हुआ, परन्तु उसका ऐश्वर्य कितना बड़ा था। उसी दान का संस्कार रहा कि उसने गुरु का भी कहना नहीं माना और सारा राज्य विष्णु को दान कर दिया। अब देखो! उसके द्वारा शिवजी को किया गया अर्पण उसे कहाँ से कहाँ ले गया। इस तरह पापी व्यक्ति भी अन्त में यदि किसी प्रकार भगवान् से जुड़ जाए तो उसका कल्याण सम्भव है।

****

जिज्ञासा :- आनन्दरामायण में कहा है - वाल्मीकीजी ने रामायण पहले लिख दिया और रामावतार बाद में हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की प्रत्येक घटना पहले से निर्धारित है। फिर व्यक्ति का पुरुषार्थ क्या बनेगा?

समाधान :- बात तो सुनने में ठीक लगती है। भृगुसंहिता के अनुसार यदि कोई ज्योतिषी बता सके तो आप के पूर्वजन्मों की और इस जन्म में घटने वाली सभी घटनाओं को बता सकता है। भृगुजी समर्थ थे, उन्होंने जो लिखा वैसा हो जाता है। परन्तु उस संहिता में कई साधन भी लिखे हुए हैं। उन साधनों को करने से जीवन में बदलाव भी हो सकता है। किसी की मृत्यु का समय निश्चित है पर कोई विशेष प्रयोग करने से मृत्यु टल भी जाती है।

एक बात समझनी चाहिए कि ज्योतिषशास्त्र जब भी कुछ कहेगा प्रारब्ध को लेकर कहेगा। किसी घटना के साथ सुख-दुःख का सम्बन्ध है उसे लेकर कथन करेगा। आपका शरीर पुण्य और पाप कर्मों से मिलकर आरम्भ हुआ है। उनका फल जो सुख और दुःख है वह आपको किसी घटना के निमित्त से भोगना पड़ेगा। यह प्रारब्ध कर्मों का फल है। परन्तु आपके अन्दर जो इच्छा उत्पन्न होती है उसमें केवल प्रारब्ध कर्मों का ही नहीं अपितु पूर्व के सभी कर्मों का सम्बन्ध रहता है। सभी कर्मों के संस्कार मन में रहते हैं। उनमें शुभ संस्कार भी हैं और अशुभ भी।

शुभ संस्कारों को जगाना, उन्हें बलिष्ठ करना यह हमारा पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ का सम्बन्ध ही अलग है। पुरुषार्थ का सम्बन्ध घटनाओं से न होकर संस्कार-परिवर्तन से है। इसीलिये हमारे यहाँ गर्भाधान से ही संस्कारों की जो व्यवस्था है, वह बालक के शुभ संस्कारों को बलवान् करने के लिये ही है। बालक की प्रकृति कोमल होती है। वहाँ अच्छे संस्कारों का वातावरण मिलने पर वे शीघ्र जग जाते हैं। इसी प्रकार सत्संग का महत्त्व भी संस्कार-परिवर्तन के लिये ही है। प्रारब्ध में परिवर्तन नहीं होता परन्तु संस्कार बदल जाएँ तो आगे आपकी प्रवृत्ति में परिवर्तन हो जाएगा।

संस्कार-परिवर्तन से जीवन में दो परिवर्तन होते हैं। पहला- एक ऐसी

दृष्टि मिलती है जिससे सुख-दुःख का भोग पीछे छूट जाता है। एक भक्त प्रत्येक घटना को भगवत्कृपा के रूप में ग्रहण करता है। किसी ने अपमान किया उसमें भी वह कृपा देख रहा है तो उसे दुःख कहाँ से होगा। दूसरा परिवर्तन यह होता है कि उसकी प्रवृत्ति बदलती है जिससे उसके नवीन कर्म बदल जाते हैं। हम कई बार देखते हैं कि सत्संग मिलने पर कुछ लोगों की प्रवृत्ति एकदम बदल जाती है। इसलिये समझना चाहिए कि प्रारब्ध भाग की अपेक्षा जीवन में पुरुषार्थ भाग बिलकुल अलग है। इसलिये मानव जीवन में पुरुषार्थ का अवसर नहीं है यह एक गलत सोच है।

****

जिज्ञासा :- एक सत्संगी व्यक्ति के पुत्र की दुर्घटना हो गई। उसका डॉक्टर से इलाज हुआ और बहुत से धार्मिक अनुष्ठान भी कराए गए। परन्तु उसे बचाया नहीं जा सका। प्रश्न है कि ऐसा उसके साथ ही क्यों हुआ?

समाधान :- महाभारत के युद्ध में जिन पाण्डवों के रक्षक स्वयं भगवान् थे उनका पुत्र अभिमन्यु छोटी अवस्था में मारा गया। क्या भगवान् नहीं जानते थे कि अर्जुन दूर चला जाएगा तो यह घटना घट जाएगी? क्या भगवान् उसे बचा नहीं सकते थे? जीवों के संस्कार हम नहीं जान सकते। जीव तो अल्पज्ञ है, वह नहीं जानता कि मरने के बाद पुत्र अच्छी जगह गया या बुरी, सुख में गया या दुःख में, वह तो बस अपने दुःख से अभिभूत हो जाता है। द्रौपदी के पाँचों पुत्र एक रात में मार दिए गये। बड़ी दुःख की घटना लगती है। पर जब हम अन्वेषण करते हैं कि वे पुत्र कहाँ से आए थे और कहाँ गए तो कुछ और ही मालूम पड़ता है।

जब विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र से सब कुछ दान में ले लिया तो उन्हें राज्य से बाहर जाने को कह दिया। जब हरिश्चन्द्र काशी जाने के लिये निकले तो प्रजा ने घेर लिया। लोग रोने लगे तो राजा थोड़ा रुक गए। विश्वामित्र ने उन्हें डण्डा मारा कि निकलते क्यों नहीं? ऊपर से कुछ देवता देख रहे थे, उन्हें

बड़ा खराब लगा। उनमें से पाँच देवताओं ने ऊँची आवाज में बोला, ''आप ऋषि होकर इतना अत्याचार करते हो!'' ऋषि ने उन्हें श्राप दे दिया कि तुम मनुष्य योनि में चले जाओ। अब उन्होंने बड़ी प्रार्थना की कि हमें संसार में मत फँसाईये, विवाह से पहले ही हम वहाँ से आ जाएँ ऐसी कृपा कीजिए। विश्वामित्र को दया आई और उन्होंने कहा ''ऐसा ही होगा।'' वे ही देवता द्रौपदी के पुत्र बने थे और ऋषि के वरदान से ही छोटी अवस्था में उनकी मृत्यु हुई।

यह सोचो कि अभिमन्यु का विवाह हो गया था तो उन पुत्रों का विवाह क्यों नहीं हुआ। उन्होंने स्वयं विवाह से पूर्व संसार छोड़ने का वरदान माँगा था, उसी का पालन हुआ। स्थूल दृष्टि से देखें तो यह बड़ी दुर्घटना दिखाई दे रही है परन्तु उन्होंने तो स्वयं वह दुर्घटना माँगी थी। उनका तो उससे कल्याण ही हुआ।

यह अल्पज्ञ जीव नहीं जानता कि कौन किस सम्बन्ध से आया है, कब तक रहेगा, किस निमित्त से चला जाएगा, यह तो केवल मोह करता है। न कोई किसी का पुत्र होता है न पत्नी, सब ऋणानुबन्ध है। उसी के अनुसार कोई जीव हमारे साथ कुछ काल रहता है और फिर अपने निमित्त से दुःखी करके चला जाता है। तुम व्यर्थ रोते हो कि हमारा सम्बन्धी चला गया। बड़े-बड़े सिद्ध-महात्मा हुए हैं पर किसी ने आज तक पूरे गाँव को आशीर्वाद नहीं दिया कि तुम्हारे यहाँ कोई दुर्घटना नहीं होगी, कोई मरेगा नहीं। ऋणानुबन्ध के योग से सम्बन्धी बनते हैं और चले भी जाते हैं।

भागवत में प्रसंग आता है कि राजा चित्रकेतु के छोटे से पुत्र की मृत्यु होने पर नारदजी ने आकर उसकी जीवात्मा को बुलाया और कहा- तुम शरीर में आकर अपने माता-पिता को सुखी करो। तब उस जीवात्मा ने कहा,'' मेरे तो हजारों जन्म हुए हैं, किस जन्म के माता-पिता के विषय में आप कह रहे हैं। मेरे माता-पिता कौन हैं मुझे याद भी नहीं।'' इसी प्रकार तुम्हें भी इस जन्म के

माता-पिता, पुत्र आदि की याद नहीं रहेगी। जो याद नहीं रहेगा उसी के विषय में कितना बड़ा चक्र तुम्हारे मन में घूमता है।

यह भी सचाई है कि सब कुछ तुम्हारे मन का नहीं हो सकता। तुम भी अपने बालक की सब बातें नहीं मान सकते। वह साँप को पकड़ना चाहे तो पकड़ने दोगे? बालक अज्ञानी है और तुम उसके हितैषी हो इसलिये उसकी सब बातें नहीं मानते। इसी प्रकार परमेश्वर तुम्हारी सब बातें नहीं मान सकता क्योंकि तुम अज्ञानी हो और वह तुम्हारा हितैषी है। सब बातें कैसे मानेगा? पुत्र का हित हुआ या अहित, वह दुःख में गया या आनन्द में, तुम नहीं जानते। केवल अपने मोह के कारण दुःखी हो रहे हो।

****

जिज्ञासा :- श्रुति कहती है- **शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः। (श्वेताश्वतर उप.-२.५)** तुम सब अमृत के पुत्र हो, नाशवान् नहीं हो। परन्तु कर्मकाण्ड के समय पण्डित लोग कहलवाते हैं - **पापोऽहं पापकर्माऽहं पापात्मा पापसम्भवः।** क्या ऐसा कहना ठीक है?

समाधान :- यह जीव अमृत का पुत्र है, अमृतस्वरूप है, पर अपने को पाप का कर्ता मान रहा है तो क्या किया जाए? अब जो तुम्हारी स्थिति है उसको भगवान् के सामने सचाई से स्वीकार करो, झूठ बोलने से तुम्हारा काम नहीं चलेगा। जब तुम अपने आप को पुण्य कर्मों के कर्ता मानते हो तो पाप होने पर उसके कर्ता भी तुम्हीं बनोगे। इसलिये अपने दोष को सचाई से स्वीकार करो।

तुम सारा व्यवहार अपने को शरीर मानकर कर रहे हो अथवा अमृतपुत्र मानकर? जब शरीर को **मैं** मानते हो तो उससे होने वाले पापों का कर्ता तुमको ही माना जाएगा। अपने हृदय पर हाथ रखकर देखो कि क्या तुमने जीवन में कभी झूठ नहीं बोला, कभी हिंसा नहीं की, किसी को दुःख नहीं दिया, माता-पिता की अवज्ञा नहीं की, शास्त्र का विरोध नहीं किया? जब तुम

सब प्रकार के पाप कर ही रहे हो तो यदि पण्डित कहता है "**पापोऽहं.....**" बोलो, तो कुछ गलत तो नहीं कहता। सत्य को स्वीकार करो। हाँ! यह अलग बात है कि यह श्लोक व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। पारमार्थिक तो वह श्रुति है जो हमें अमृतपुत्र कहती है। परन्तु स्वयं को भी इसका अनुभव होना चाहिए, तभी पापों से सम्बन्ध का अभाव होगा।

****

जिज्ञासा :- दूसरों को कष्ट देना इसे हिंसा कहा गया है। यदि किसी के धार्मिक अनुष्ठान करने से किसी अन्य को कष्ट पहुँचे तो क्या उस धार्मिक अनुष्ठानकर्ता को हिंसा का फल मिलेगा?

समाधान :- यह बात सत्य है कि दूसरों को कष्ट देना हिंसा है। ऐसा कहा भी गया है -

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥
(समयोचित पद्यमालिका-६५)

करोड़ों ग्रन्थों के कथनों को मात्र आधे श्लोक में कह दिया कि दूसरों का उपकार करना पुण्य है और उनको पीड़ा देना पाप है। यहाँ पर एक बात ध्यान में रखने की है कि कोई व्यक्ति धार्मिक कार्य करता है और किसी दुष्ट प्रकृतिवाले व्यक्ति को उससे कष्ट होता है तो यहाँ हिंसा का प्रसंग नहीं है। उसे कष्ट अपने स्वभाव से हो रहा है न कि उस धार्मिक अनुष्ठान से। इसलिए ऐसे व्यक्तियों को प्रसन्न रखने के लिए अपना धर्म नहीं छोड़ना चाहिए। जैसे आपके जप करने से किसी नास्तिक को कष्ट हो तो क्या आप जप करना छोड़ देंगे! ऐसा ही धार्मिक अनुष्ठान के विषय में भी करना चाहिए।

****

तीर्थ-महिमा

जिज्ञासा :- नर्मदाष्टक में कहा है -

त्वदम्बुलीनदीनमीनदिव्यसम्प्रदायकम्(२)

"तुम्हारे जल में रहने वाली मछलियाँ आदि दीन, हीन जीव भी दिव्य गति को प्राप्त होते हैं।" नर्मदा के आश्रय में रहने मात्र से ही दिव्य गति प्राप्त होती है या उसके लिये कुछ अतिरिक्त करना पड़ता है?

समाधान :- जहर खाने के उपरान्त मरने के लिये कुछ अतिरिक्त उपाय करने की आवश्यकता है क्या? अरे! सृष्टि के आदि में परमात्मा ने जिस वस्तु के अन्दर जो गुण रख दिया वह गुण वहाँ रहकर अपना काम करता है। चाहे उसके सम्पर्क में कोई जान कर आए या अनजाने में। जैसे अग्नि का काम है उसके सम्पर्क में आने वाले को जलाना और जहर का काम है मारना। उसी प्रकार नर्मदा में एक ताकत है कि वह उसके आश्रय में आने वाले को दिव्य गति प्रदान करती है।

उसने बड़ी कठिन तपस्या करके भगवान् शिव को प्रसन्न किया तथा बहुत से वरदान प्राप्त किये। उनमें से एक यह भी है कि हमारे जल के अन्दर कोई भी जीव प्राण त्यागे उसकी दुर्गति न हो, वह ऊपर के ही लोकों में जाए। अब उसमें रहने वाले जो जीव हैं उनका आश्रय तो नर्मदा को छोड़ कर दूसरा कोई है ही नहीं। इसलिये नर्मदा उनका कल्याण करती ही है। पर मनुष्य के लिये एक विशेषता है कि वह यदि नर्मदा की महिमा स्वीकार करेगा तभी कल्याण करेगी, मछली मारने वाले तो दिन भर उसी में रहते हैं फिर भी उनका कल्याण नहीं होता। जैसे किसी-किसी व्यक्ति में सामर्थ्य होती है कि वह जहर को पचा लेता है, उसका प्रभाव उस पर नहीं पड़ता। वैसे ही जो नर्मदा की

महिमा को स्वीकार न करने वाले मनुष्य हैं, उन पर उसकी कृपा का प्रभाव नहीं दिखाई देता।

****

जिज्ञासा :- लोक में 'गंगा और नर्मदा' इन दो नदियों को ही इतना श्रेष्ठ क्यों माना जाता है?

समाधान :- इन सब विषयों में शास्त्र ही प्रमाण है। जो हम अपनी बुद्धि से नहीं जान सकते उसे शास्त्र बताता है - **अज्ञातज्ञापकं शास्त्रम्।**

हम अपनी बुद्धि से इनकी महिमा नहीं समझ सकते हैं, परन्तु शास्त्र जो बताता है उसे जब मान लेते हैं तो कुछ काल बाद बुद्धि से भी समझ जाते हैं।

हम तो नर्मदा के किनारे भी घूमे और गंगा-किंनारे भी। उस समय ठीक समझ में आ जाता है कि शास्त्र इनकी इतनी महिमा क्यों कहता है। आज नर्मदाजी की परिक्रमा करने वालों की संख्या हर वर्ष बढ़ती जा रही है। अन्य किसी नदी की परिक्रमा होती हो ऐसा तो नहीं सुना। हमने अनुसन्धान करके देखा, गृहस्थ लोग मनौती लेते हैं कि हमारा अमुक काम हो जाये तो परिक्रमा करेंगे। इतने गृहस्थ परिक्रमा कर रहे हैं इसका अर्थ यही है कि उनका काम नर्मदा ने किया है। हमारे पास ऐसे सैकड़ों लोगों के उदाहरण हैं जिनके बड़े-बड़े काम नर्मदा ने पूरे किये हैं। इसलिये नर्मदा की महिमा शास्त्र भी बताता है और यह प्रत्यक्ष भी है।

इसी प्रकार गंगा के विषय में हमारा अनुभव है। पहले तो गाँव की पंचायत ही क्या कोर्ट में भी कोई व्यक्ति गंगाजल उठाकर कुछ बोलता था तो उसे प्रमाण माना जाता था। यदि उसने झूठ बोला हो तो उसका अनिष्ट हो जाता था। ऐसी घटनाएँ हमनें अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखी हैं। शास्त्रों में तो सभी नदियों की अपेक्षा गंगा की महिमा अधिक कही गई है। कुछ सन्त कहते हैं कि कलियुग के पाँच हजार वर्ष बीत जाने पर गंगा की शक्ति नर्मदा में

केन्द्रित हो गई है, परन्तु हमने तो अनुभव किया कि गंगा की शक्ति अपनी जगह यथावत् है। हम उसके किनारे घूमे तो गंगा ने समर्थ माता के समान हमें सम्भाला। लोग कहते हैं कि गंगा में बहुत प्रदूषण है पर हम तो गंगाजल ही पीते थे और हमें कोई समस्या नहीं हुई। आज भी गंगाजल की सामर्थ्य बहुत विलक्षण है।

****

जिज्ञासा :- काशी को महाश्मशान क्यों कहा जाता है?

समाधान :- एक बार किसी ने यही सवाल करपात्रीजी महाराज से किया, उस समय मैं भी वहाँ उपस्थित था। उन्होंने जवाब दिया कि जहाँ केवल यह स्थूल शरीर जले उसका नाम श्मशान है और जहाँ इसके साथ-साथ सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर भी जल जाए उसका नाम महाश्मशान है। काशी तो ज्ञान की नगरी है। यहाँ मरने वाले जीव को भगवान् शिव ज्ञान का उपदेश करते हैं जिससे उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है, अर्थात् कारण शरीर(अज्ञान) जल जाता है। सूक्ष्म शरीर अज्ञान का ही कार्य है। उसके नाश होने पर यह भी नष्ट हो जाता है। स्थूल शरीर तो चिता पर जल ही जाता है। इस प्रकार तीनों शरीर नष्ट होने पर जीव मुक्त हो जाता है। उसे पुनः कभी श्मशान में नहीं आना पड़ता। इसीलिये काशी को महाश्मशान कहा जाता है।

एक दृष्टि से देखें तो यह शरीर भी महाश्मशान ही है। इसके अन्दर रोज अनगिनत छोटे-छोटे जीव उत्पन्न होते हैं और इसी में दफनाए जाते हैं। **श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचराः(शिवमहिम्नः - २४)** इसमें चैतन्य परमात्मा इन्द्रियों और मन के साथ क्रीड़ा कर रहा है।

****

जिज्ञासा :- उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यानधारणा।
अधमा शास्त्रचिन्ता च तीर्थभ्रान्त्यधमाऽधमा।।

यहाँ पर तीर्थयात्रा को अधम से भी अधम साधन बताया है, ऐसा क्यों?

समाधान :- तीर्थयात्रा अधम साधन नहीं है, पर हमेशा प्रकरण को देखना चाहिए। यहाँ ज्ञान का प्रकरण है। सहजावस्था का मतलब स्वरूप में स्थित हो जाना। इसलिये सहजावस्था साध्य है और अन्य जो अवस्थाएं बताई गई हैं वे साधन हैं। साधन से साध्य उत्तम होता ही है। इसलिये सहजावस्था को उत्तम कह दिया। सहजावस्था प्राप्त नहीं है तो आपको ध्यान-धारणा करने पड़ेंगे। यह सहजावस्था के अन्तरंग साधन हैं। इसलिये इनको द्वितीय स्थान पर रखा है। कोई ध्यान भी नहीं कर सकता तो कहा शास्त्रचिन्तन करो। ध्यान के लिये मन स्थिर नहीं रहता तो उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, उनका भाष्य, या अन्य आत्मसम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन करो। इसको तृतीय श्रेणी में रखा है।

अब कोई कहे अध्ययन भी नहीं कर सकते तो कहा तीर्थयात्रा करो। इसलिये तीर्थयात्रा को चतुर्थ श्रेणी में रखा है। यहाँ अधमाधम कहने का तात्पर्य श्रेठता के तारतम्य में लेना चाहिए। तीर्थयात्रा अच्छा साधन है। तीर्थयात्रा से आसक्ति कम होती है, तपस्या भी हो जाती है। सुविधा-असुविधा के समय परमात्मा की स्मृति होती है। चलते रहते हैं तो राग-द्वेष से भी बच जाते हैं। इसलिये तीर्थयात्रा को किसी प्रकार से कम नहीं मानना चाहिए।

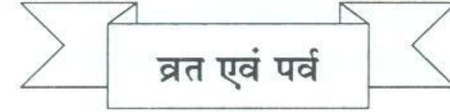
****



विद्यातीर्थे जगति विबुधाः साधवः सत्यतीर्थे
गङ्गातीर्थे मलिनमनसो योगिनो ध्यानतीर्थे।
धरातीर्थे धरणिपतयो दानतीर्थे धनाढ्या
लज्जातीर्थे कुलयुवतयः पातकं क्षालयन्ते।।



इस संसार में विद्वान् लोग विद्यारूपी तीर्थ में, साधुजन सत्यरूपी तीर्थ में, अशुद्धचित्त वाले लोग गङ्गादि तीर्थों में, योगीजन ध्यानतीर्थ में, राजा लोग पृथ्वीरूपी तीर्थ में, धनवान् लोग दानरूपी तीर्थ में और कुलीन स्त्रियाँ लज्जारूपी तीर्थ में अपने-अपने पापों का मार्जन करते हैं।



व्रत एवं पर्व

जिज्ञासा :- प्रदोष व्रत कभी द्वादशी को पड़ता है तो कभी त्रयोदशी को। इसका निर्णय किस प्रकार किया जाता है?

समाधान :- इसका निर्णय धर्मशास्त्र में किया गया है। धर्मशास्त्र के द्वारा वह निर्णय करके पंचाग में दिया जाता है। इसलिये पंचाग में जिस दिन हो उसी दिन मान लेना चाहिए। अब द्वादशी और त्रयोदशी में से किस दिन हो इसके लिये यह निर्णय किया है कि सूर्यास्त से लेकर आकाश में नक्षत्र दिखाई देने लगें तब तक का समय प्रदोष काल कहलाता है। उस काल में त्रयोदशी जिस दिन पड़े उसी दिन प्रदोषव्रत मानना चाहिए। इसलिये वह कभी द्वादशी को तो कभी त्रयोदशी को पड़ता है।

****

जिज्ञासा :- संक्रान्ति, पूर्णिमा, अमावस्या आदि पर्वों पर क्या सावधानी रखनी चाहिए?

समाधान :- पर्व के दिन अपने इष्टदेव का विशेष पूजन करें। जैसे महादेव का रुद्राष्टाध्यायी, शतरुद्रीय अथवा अन्य विशिष्ट वैदिक मन्त्रों या पौराणिक मन्त्रों से अभिषेक करें। जो प्रतिदिन नहीं कर पाते वे ऐसा विशेष पूजन करें। प्रायः लोग ऐसे पर्वों पर अधिक जप-ध्यान करते हैं। पर्वकाल में इन सब से विशेष लाभ प्राप्त होता है, यह काल का माहात्म्य है। पूर्णिमा के दिन सत्यनारायण की कथा सुनने की भी परम्परा है।

यदि व्यक्ति विशेष कुछ न कर सके तो ४ घण्टा, ६ घण्टा, ८ घण्टा या जितना अधिक हो सके मौन रहकर गुरुमन्त्र का जप करे। पर्वों पर विशेष सावधानी यही है कि उस दिन हम व्यर्थ की बातें न करें, झूठ न बोलें, किसी

के प्रति ईर्ष्या न करें। हम किसी के दुःख का निमित्त न बन जाएँ, हमसे किसी प्रकार का प्रतिग्रह न हो जाए अर्थात् किसी प्रकार का प्रमाद उस दिन न करें। यथाशक्ति उपवास करें और भगवान् का ध्यान करें। यही बातें महत्वपूर्ण हैं।

****

जिज्ञासा :- संक्रान्ति के दिन पर्वकाल का निर्णय कैसे किया जाए?

समाधान :- सामान्यतः सभी संक्रान्तियों में संक्रमण काल से २० घड़ी पूर्व और २० घड़ी पश्चात् पर्वकाल माना जाता है। परन्तु मकर संक्रान्ति के लिये शास्त्र की व्यवस्था थोड़ी अलग है। **मकरे विंशति पराः** मकर में संक्रमण काल के २० घड़ी बाद वाला जो समय है वह मुख्य पर्वकाल माना जाता है क्योंकि पूर्व वाली २० घड़ी दक्षिणायन में चली जाती है।

एक बात ध्यान देने की है कि संक्रमणकाल यदि दिन में आए तो उसी दिन पर्वकाल होगा। यदि संक्रमणकाल रात्रि में आ जाए तो पर्वकाल दूसरे दिन प्रातः काल से अर्थात् तीन बजे से माना जाएगा।

****

जिज्ञासा :- हमने सुना है एकादशी तिथि को आँवले का सेवन नहीं करना चाहिए। क्यों?

समाधान :- हमें तो शास्त्रों में एकादशी के दिन आँवले के सेवन का निषेध कहीं मिला नहीं, अपितु आमलकी एकादशी के दिन आँवला खाने का विशेष महत्त्व शास्त्रों में बताया गया है। इससे यही प्रतीत होता है कि एकादशी के दिन आँवला खाने में कोई दोष नहीं है।

****

जिज्ञासा :- रविवार के दिन आँवले के पेड़ के नीचे जाने के लिए निषेध किया है। दूसरी ओर अक्षय नवमी के दिन आँवले के नीचे बैठकर भोजन करने का विधान किया है। यदि उस दिन रविवार पड़े तो क्या करना चाहिए?

समाधान :- शंका तो अच्छी है। रविवार के दिन आँवला खाना और आँवले के पेड़ के नीचे से निकलना भी शास्त्र में निषिद्ध है। दूसरी ओर अक्षय नवमी को आँवले के वृक्ष के नीचे भोजन करने का और आँवला खाने का विशेष महत्त्व शास्त्र में कहा गया है। रविवार को अक्षय नवमी पड़े तो क्या किया जाए? यहाँ शास्त्र का एक नियम समझना चाहिए कि विशिष्ट विधि से सामान्य विधि बाधित हो जाती है। जैसे किसी की हिंसा न करना यह सामान्य विधि है और यज्ञ में पशुबलि विशिष्ट विधि है। इसलिये यज्ञ में दी गई पशुबलि में दोष नहीं माना जाता।

इसी प्रकार रविवार को आँवला-वृक्ष के नीचे न जाना यह सामान्य विधि है और अक्षय नवमी को उसके नीचे भोजन करना यह विशिष्ट विधि है। इसलिये रविवार की अक्षय नवमी को आँवला-वृक्ष के नीचे भोजन करने से कोई दोष नहीं लगेगा।

****

जिज्ञासा :- क्या नक्तभोजन को उपवास माना जाएगा?

समाधान :- हाँ! माना जाता है। आप दिनभर कुछ न खाएँ और रात्रि में एक बार हविष्यान्न का भोजन करें तो शास्त्र दृष्टि से उसे उपवास ही माना जायेगा।

****

जिज्ञासा :- शास्त्र में स्त्रियों के लिये व्रत-उपवास इत्यादि करने का कहीं-कहीं निषेध मिलता है- **नास्ति कश्चित् स्त्रिया यज्ञो न श्राद्धं नाप्युपोषणम्। (महाभारत विराटपर्व-१६.४२)** परन्तु आजकल स्त्रियाँ ही अधिक व्रत-उपवास करती हुई देखी जाती हैं। क्या यह उचित है?

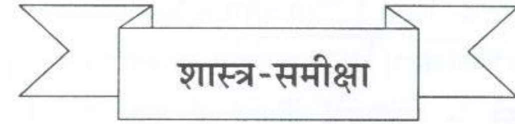
समाधान :- शास्त्र को ठीक से समझें तो बात साफ हो जाती है। जब कन्या घर पर रहती है तब माता-पिता की आज्ञा से वह कोई भी व्रत-उपवास कर सकती है, जप-तप कर सकती है। इसका कहीं निषेध नहीं है। पार्वती ने भी

माता-पिता की आज्ञा से शिव-प्राप्ति के लिये तपस्या की थी। कात्यायनी व्रत का विधान कन्याओं के लिये ही है। ब्रज की कुंआरी गोपिकाओं ने भी कात्यायनी व्रत किया था। गुरुकुल में जाने का अधिकार इसलिये नहीं था क्योंकि उसका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होता। परन्तु जब उसका विवाह होता है तो पति द्वारा किए गए वेदाध्ययन, गुरुसेवा आदि में वह स्वतः भागीदार बन जाती है।

वह गुरुकुल जाकर वेद नहीं पढ़ती परन्तु विवाह-संस्कार होते ही यज्ञ में बैठने का वैदिक अधिकार उसे प्राप्त हो जाता है। उसके बिना पुरुष यज्ञ कर ही नहीं सकता। पुरुष जितना भी धर्मानुष्ठान, तपस्या आदि करता है उसका आधा भाग धर्मपत्नी को मिल जाता है तो स्त्री का अपमान कहाँ हुआ? आज सहशिक्षा का समाज में प्रभाव सब देख रहे हैं। पैसा कमाने में भले ही इसका लाभ हो पर जीवन की उन्नति में क्या लाभ हो रहा है। विवाह के बाद भी स्त्री पति की सहमति से व्रत कर सकती है। माताएँ अखण्ड सौभाग्य की प्राप्ति के लिये तमाम व्रत करती हैं। पति के, परिवार के कल्याण के लिये व्रत करती हैं। उनका कहाँ निषेध है?

पति से विरोध करके व्रत करने का निषेध है क्योंकि विवाह होने के बाद उसके लिये पतिसेवा मुख्य है। उसका सीधा सम्बन्ध स्त्री के कल्याण से है। उसको स्वतन्त्र रूप से यज्ञ का अधिकार नहीं है परन्तु पति के साथ यज्ञ, श्राद्ध आदि तो वह करती ही है। स्त्रियाँ आज भी जो कुछ व्रत, पूजन आदि करती हैं वे सब प्रायः पति के हित के लिये ही करती हैं। उसका पतिसेवा से कहाँ विरोध है? शास्त्र में ऐसे बहुत से व्रत कहे गए हैं जो स्त्रियों के लिये ही हैं। इस श्लोक का तात्पर्य इतना ही है कि स्त्री का मुख्य कर्तव्य पति को प्रसन्न रखना है, उससे विरोध करके या छुपाकर कोई कार्य न करे।

****



शास्त्र-समीक्षा

जिज्ञासा :- पुराणों में कहा गया है कि अमुक तीर्थ में स्नान करने से अथवा निवास करने से, अमुक वस्तु का दान करने से मुक्ति प्राप्त होती है। दूसरी ओर उपनिषद् का वाक्य है - **ज्ञानादेव तु कैवल्यम्,** मुक्ति केवल ज्ञान से ही होती है। इस विरोधाभास का समाधान कैसे हो?

समाधान :- पुराणों में यदि ऐसा कहा है तो इसका उपनिषद् वाक्यों से कोई विरोध नहीं है। मुक्ति तो ज्ञान से ही होती है परन्तु तीर्थ-स्नान, तीर्थ-निवास, दान इत्यादि हृदय को पवित्र करने के साधन हैं यदि ये निष्काम भाव से किये गये हों तो। यदि कोई तीर्थ-निवास करेगा तो उसके नियम का पालन करना ही पड़ेगा। वह प्रातः उठकर स्नान, जप, देवदर्शन करेगा, ऐसे में शम-दम-तितिक्षा इत्यादि उसके जीवन में स्वतः ही उत्पन्न हो जाएँगे जो ज्ञान उत्पन्न करने में सहायक हैं। तीर्थ में निवास करने के लिये सावधानी की बहुत आवश्यकता है। अन्य जगह पर किया गया अपराध तीर्थ में आने से नष्ट हो जाता है पर तीर्थ में किया गया अपराध नष्ट नहीं होता। जो साधक है वह इस बात को जानता है इसीलिये वह प्रयत्न करके अपराधों से बचेगा। ऐसे में उससे तपस्या स्वतः ही हो जाएगी।

अब यदि कोई तीर्थ में रहकर ज्ञान का अन्य साधन कर रहा है जैसे शास्त्र-चिन्तन, प्राणायाम आदि तो भी कोई विरोध नहीं है बल्कि उस तीर्थ के देवता उसे ज्ञान में सहायता करते हैं। इसलिये यह निश्चित समझ लेना चाहिए कि पुराणों में कहीं कोई बात वेदविरुद्ध लग रही हो तो उसका अर्थ है हम उसे समझ नहीं पा रहे हैं।

****

जिज्ञासा :- भगवान् भाष्यकार ने ब्रह्मसूत्र के देवताधिकरण में स्फोटवाद का खण्डन किया है। उसी प्रसंग में सिद्धान्त दिया है-**वर्णा एव तु शब्दः।** वर्ण को नित्य कहा। इस विरोधाभास का क्या समाधान है?

समाधान :- स्फोटवाद वेदान्त के कुछ हद तक नजदीक है। भाष्यकार भगवान् ने स्फोटवाद का जो खण्डन किया है वह ध्वनि को दृष्टि में रखकर किया है। भाष्यकार भगवान् की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है। जैसे उन्होंने सांख्य दर्शन का खण्डन करने के लिये बहुत जोर लगाया हालाँकि सांख्य सिद्धान्त वेदान्त के बहुत नजदीक है। इसलिये खण्डन किस प्रसंग में किया गया है उसे जाने बिना हम उसे विरोधाभास नहीं कह सकते।

****

जिज्ञासा :- भगवान् भाष्यकार ने अपने भाष्य में प्रमाण के रूप में महाभारत के श्लोकों को बहुत स्थानों पर दिया है। इससे महाभारत की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। परन्तु आजकल महाभारत को पढ़ने और पढ़ाने की परम्परा नहीं रही। इसमें क्या कारण हो सकता है?

समाधान :- महाभारत श्रेष्ठ ग्रन्थ है इसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं है। भगवान् भाष्यकार महाभारत के श्लोकों को केवल प्रमाण के रूप में ही नहीं देते बल्कि ब्रह्मसूत्र के भाष्य में तो उन्होंने यहाँ तक कहा है कि ज्ञानाकांक्षी सभी वर्ण के लोगों को महाभारत का अध्ययन करना चाहिए। महाभारत में चतुर्विध पुरुषार्थ का अद्भुत वर्णन किया गया है। उसमें धर्म, राजनीति, कूटनीति सबका ज्ञान भरा है।

जब अंग्रेज भारत में आये तो उन्होंने विचार किया कि यदि भारतीय लोगों को इस ज्ञान से वंचित रखना है तो महाभारत पढ़ने की परम्परा समाप्त करनी होगी। उन्होंने उस समय तीन करोड़ की धनराशि खर्च करके यह प्रचार करवाया कि जिसके घर में महाभारत का अध्ययन, अध्यापन होगा उस घर में 'महाभारत' मच जाएगा। यह सुनकर लोगों ने महाभारत को घरों में रखना ही

छोड़ दिया। आज भी बहुत लोग इस भ्रम को नहीं निकाल पा रहे हैं।

****

जिज्ञासा :- भाष्यकार भगवान् ने अपने भाष्य में प्रमाण के रूप में अन्य पुराणों के श्लोक उद्धृत किये पर श्रीमद्भागवत पुराण के श्लोकों को कहीं भी प्रमाण के रूप में नहीं कहा। इसका क्या कारण है?

समाधान :- भाष्यकार भगवान् ने अपने भाष्य में श्रीमद्भागवत पुराण के श्लोकों को कहीं भी प्रमाण के रूप में क्यों नहीं दिया इसका उत्तर तो भगवान् भाष्यकार ही ठीक-ठीक से दे सकते हैं। हमें तो ऐसा लगता है कि श्रीमद्भागवत में जिस पाञ्चरात्र(चतुर्व्यूह) सिद्धान्त का प्रतिपादन है, भाष्यकार भगवान् ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में उसका खण्डन किया है। जिस ग्रन्थ में प्रतिपादित किसी एक सिद्धान्त का खण्डन जिस व्यक्ति के द्वारा किया गया हो वह उस ग्रन्थ को प्रमाण के रूप में कहीं उद्धृत नहीं कर सकता। शायद इसी दृष्टि से भाष्यकार भगवान् ने श्रीमद्भागवत के श्लोकों को प्रमाणरूप से कहीं नहीं कहा।

****

जिज्ञासा :- कुछ लोग देवीभागवत को उपपुराण मानते हैं। क्या यह मान्यता ठीक है?

समाधान :- किसी के कहने से कोई निर्णय नहीं होता। इसके लिये शास्त्र ही प्रमाण है। इस बात में बहुत बड़ा विवाद है कि अठारह पुराणों के अन्तर्गत देवीभागवत को लिया जाये या श्रीमद्भागवत को। सत्रह पुराणों में तो कोई विवाद नहीं है। विवाद इन्ही दोनों में है कि अठारहवाँ किसको माना जाये। शाक्त लोग देवीभागवत को मानते हैं तो वैष्णव लोग श्रीमद्भागवत को। विचार किया जाये तो भागवत शब्द दोनों में है, श्लोक संख्या भी दोनों में अठारह-अठारह हजार है। भगवत्तत्त्व का दोनों में ही विशद् रूप से वर्णन किया है। ऐसे में निर्णय करना कठिन है। फिर भी बहुत से विद्वान् लोग

देवीभागवत की प्राचीनता पर बल देते हैं।

अनेक ग्रन्थों में बहुत जगहों पर देवीभागवत के श्लोकों का उद्धरण मिलता है। जैसे सांख्यतत्त्वकौमुदी में **वाचस्पति मिश्र** ने देवीभागवत के श्लोकों का उद्धरण दिया है। यह बात नवीं शताब्दी की है। इसके बहुत काल बाद तक भी किसी वैष्णव आचार्य ने श्रीमद्भागवत के श्लोकों को उद्धृत नहीं किया। यहाँ तक की ग्यारहवीं शताब्दी में विद्यमान् रामानुजाचार्य तक भी किसी ने श्रीमद्भागवत की चर्चा नहीं की। यह सब कुछ होने पर भी जहाँ भागवत शब्द आया है वहाँ इन दोनों को ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। कौन प्राचीन है और कौन अर्वाचीन इस पचड़े में नहीं पड़ना चाहिए। आजकल श्रीमद्भागवत पर बहुत कथाएं होती है। लोगों की बहुत श्रद्धा है जिससे उनका कल्याण हो रहा है। अतः किसी की श्रद्धा को ठेस नहीं पहुँचाना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- कहते हैं, पुराणों कि रचना द्वापर में हुई है। ऐसे में सत्ययुग और त्रेतायुग में क्या पुराणों की कथा नहीं होती थी?

समाधान :- सत्ययुग और त्रेतायुग में भी पुराणों की कथा होती थी। क्योंकि इससे पहले भी द्वापर कई बार आया था। यहाँ पर कौनसी घटना किस कल्प की है इसमें कोई तात्पर्य नहीं है।

****

जिज्ञासा :- रामचरितमानस में लिखा है - **होईहि सोइ जो राम रचि राखा।(बाल.-५१.४)** दूसरे स्थान पर लिखा है-**करम प्रधान बिस्व करि राखा।(अयोध्या.-१२६.१)** इन दोनों बातों में परस्पर विरोधाभास लगता है। कृपया स्पष्ट कीजिए?

समाधान :- कोई दो बातें अलग-अलग प्रसंगों में कही गई हों तो उनमें विरोधाभास दिखने पर भी विरोधाभास नहीं समझना चाहिए। जहाँ कर्म

की प्रधानता बताई है वहाँ उनका तात्पर्य है कि तुम आलसी मत बनो, पुरुषार्थ करो क्योंकि जैसा बीज बोओगे वैसी ही फसल काटोगे। इसलिये तुम अच्छे कर्म करो। जहाँ उन्होंने कहा है कि वही होगा जो रामजी चाहेंगे, वहाँ उनका तात्पर्य है कि अपना कर्तव्य कर देने के बाद तुम माथापच्ची मत करो। जो रामजी को करना होगा वही करेंगे। मृत्यु आनी होगी तो आएगी और बचाना होगा तो बचा लेंगे। अनावश्यक चिंता करने से कुछ नहीं होने वाला है। तुम अपना पुरुषार्थ मत छोड़ो। दूसरी बात, जहाँ पर अपने को समझ नहीं आये वहाँ पर भी भगवान् पर छोड़ देना चाहिए? इसलिये ऐसा नहीं समझना चाहिए कि इस चौपाई में कर्म की उपेक्षा की जा रही है।

****

जिज्ञासा :- शास्त्र कहता है- **द्वितीयाद् वै भयं भवति।(बृह.उप.-१.४.२)** दूसरे से ही भय को प्राप्त होता है। पर देखा जाता है कि भय प्राप्त होने पर व्यक्ति दूसरे को ही पुकारता है। इस विरोधाभास का क्या समाधान है?

समाधान :- भय प्राप्त होने पर दूसरे को पुकारता है यह बाद की बात है पर शास्त्र के साथ-साथ अपने अनुभव को भी देखना चाहिए कि यदि आपके मन में कोई दूसरा न हो तो भय लग सकता है? जब अपने को शरीर मान लिया तो दूसरा अपने से बाहर लगता है चाहे वह भूत-प्रेत हो या अन्य कोई प्राणी। इसलिये भय देनेवाला द्वितीय उसको पहले दिखेगा तभी वह किसी को सहायता के लिये पुकारेगा।

****

जिज्ञासा :- श्रुतियों में जो आख्यायिकाएं कही हैं उनमें याज्ञवल्क्य, गार्गी, मैत्रेयी, नचिकेता, सत्यकाम आदि पात्रों का वर्णन आया है। क्या वे काल्पनिक हैं? यदि उन्हें काल्पनिक नहीं मान्नें और आख्यायिकाओं की घटनाओं को सत्य मानें तो वेद के अनादित्व का खण्डन होता है। इसका क्या

समाधान है ?

समाधान :- कल्पित तो सारा संसार है। उसमें यदि कोई पात्र कल्पित हो तो क्या आश्चर्य है! वस्तुतः वेद में जो आख्यायिकाएं हैं उनकी घटनायें घटी अथवा नहीं घटी, श्रुति का इसमें कोई तात्पर्य नहीं है। तात्पर्य तो विषय को स्पष्ट करने में है। अब कोई शंका करे कि मात्र विषय ही समझा देते आख्यायिका कहने की क्या आवश्यकता थी? पर यह शंका ठीक नहीं है। कुछ बातें ऐसी होती हैं जो कथानक के माध्यम से व्यक्ति के अन्दर झट से प्रवेश कर जाती हैं और उसके बिना नीरस मालूम पड़ती हैं। यदि उन घटनाओं को काल्पनिक न मानकर सत्य मानें तो भी वेद के अनादित्व का खण्डन नहीं होता। वेद सर्वज्ञ है। वह भूत, भविष्य तथा वर्तमान सबको जानता है। वह भविष्य में होने वाली घटना को भी कह सकता है। इसलिये उपनिषदों में जो आख्यायिकाएं सुनने को मिलती हैं वे वेद ने पहले से ही कह दी हैं तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। योगवासिष्ठ में वसिष्ठजी रामजी को बताते हैं कि द्वापर में श्रीकृष्ण अर्जुन को गीता का उपदेश इस प्रकार करेंगे। इसी प्रकार वाल्मीकिजी ने रामायण पहले ही लिख दिया और रामजी ने चरित बाद में किया।

****

जिज्ञासा :- आगमशास्त्र में प्रतिपादित सामरस्य मुक्ति और वेदान्त-प्रतिपादित मुक्ति में क्या अन्तर है ?

समाधान :- वस्तुतः तो कोई अन्तर नहीं है, पर सिद्धान्त-प्रतिपादन की प्रक्रिया में कुछ अन्तर लगता है। आगमशास्त्र के अनुसार मुक्ति दशा में शिव के साथ शक्ति का सामरस्य रहता है। यहाँ पर न शिव का अभाव होता है न शक्ति का, पर शक्ति को शिव से अलग करके नहीं देख सकते। शिव और शक्ति अभेद रूप में रहते हैं। जबकि वेदान्त के अनुसार मुक्ति दशा में एक निर्विशेष ब्रह्म ही रहता है। यहाँ पर इस प्रकार से शक्ति की कोई चर्चा नहीं है।

आगम के अनुसार भी इस दशा में शक्ति का शिव से कोई भेद न होने के कारण तत्त्व एक ही रहता है।

****

जिज्ञासा :- श्रुति किसे कहते हैं? श्रुति और उपनिषद् में क्या अन्तर है?

समाधान :- श्रुतिर्वेदः। वेद का ही नाम श्रुति है। उसे श्रुति इसलिये कहा जाता है कि वह परम्परा से सुना ही जाता है उसका नया निर्माण नहीं होता - **श्रूयते एव न क्रियते इति श्रुतिः।** श्रुति व्यापक है, उसमें ब्राह्मण भाग भी आता है, मन्त्र भाग भी आता है, आरण्यक तथा उपनिषद् भी आता है। उपनिषद् श्रुति का शिरोभाग है। श्रुति के दो विषय हैं - धर्म और ब्रह्म। उपनिषद् का विषय है जीव तथा ब्रह्म की एकता को समझाना।

****

जिज्ञासा :- आप कहते हैं शास्त्र के अनुसार चलना चाहिए। शास्त्र किसे मानें?

समाधान :- ऐसा केवल मैं ही नहीं कहता हूँ महापुरुष भी कहते आये हैं-**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।(गीता-१६.२४)** किस कर्म को करें, किसको न करें इसमें प्रमाण शास्त्र ही है। शास्त्र किसे कहते हैं? **शासनात् शास्त्रम्-** जो आदेश दे उसका नाम शास्त्र है। वस्तुप्रतिपादन करने वाले को भी शास्त्र कहते हैं। जो वस्तु के स्वरूप का कथन करे उसे भी शास्त्र कहते हैं। विधिनिषेधात्मक कथन करने वाले को भी शास्त्र कहते हैं। जो आत्मस्वरूप का वर्णन करे उसे भी शास्त्र कहते हैं। इस प्रकार शास्त्र शब्द का प्रयोग व्यापक रूप में किया जाता है। जैसे श्रुति, स्मृति, पुराण, श्रौतसूत्र(कल्पसूत्र, धर्मसूत्र और गृह्यसूत्र) इत्यादि बहुत से शास्त्र हैं। पर सब शास्त्र सब के लिये नहीं होते।

****

जिज्ञासा :- ऋत और सत्य में क्या अन्तर है?

समाधान :- ये दोनों वस्तुतः सत्य के ही वाचक हैं परन्तु परम्परा से इनमें थोड़ा अन्तर मानते हैं। भाष्यकार भगवान् ने कहा है- **ऋतं यथाशास्त्रं यथाकर्तव्यं बुद्धौ सुपरिनिश्चितमर्थम्। (तैत्ति.उप.भाष्य-१.१)** जैसे शास्त्र ने निर्णय करके आदेश दिया- **सत्यं वद,** इसका नाम **ऋत** है और इस आदेश को आपने जीवन में धारण किया तो उसका नाम **सत्य** है।

****

जिज्ञासा :- शास्त्र कहता है कि सृष्टि नामरूपात्मक है। यहाँ नाम का स्वरूप क्या है? क्या नाम का नाश नहीं होता? क्या सारी सृष्टि नाम के अन्तर्गत है?

समाधान :- बिना नाम के कोई रूप देखा है आपने? नाम माने वाक्(शब्द) और रूप माने अर्थ। चक्षु का विषय तो रूप है ही, उससे भिन्न इन्द्रियों के जो विषय हैं वे भी रूप के अन्तर्गत आते हैं। व्यवहार में हम समझते हैं कि वस्तु(अर्थ) पहले बनती है बाद में उसका नाम रखा जाता है। जैसे पहले बालक पैदा होगा और फिर उसका नाम रखा जाएगा यह 'यज्ञदत्त' है। परन्तु सृष्टि के मूल में ऐसा नहीं है। वहाँ तो नाम पहले है और उससे अर्थ की उत्पत्ति होती है। जब हम कोई शब्द सुनते हैं तो उसकी लिपि ध्यान में आती है। पर वह आकृति नाम(शब्द) का स्वरूप नहीं है क्योंकि आकृति नेत्र का विषय है और नाम केवल श्रोत्र से ग्राह्य है। इसलिये जो हम कान से सुनते हैं वही नाम का स्वरूप है।

इसमें और भी सूक्ष्म विचार है। जिस शब्द को हम नाम समझ रहे हैं वह भी वास्तविक नाम नहीं है, केवल संकेत मात्र है। जैसे हमने **आम** शब्द का सम्बन्ध एक फल विशेष के साथ समझ रखा है। अंग्रेजों ने **मैंगो** शब्द का सम्बन्ध उसी फल से बना रखा है। अब उस फल का वास्तविक वाचक आम है या मैंगो, यह एक विचारणीय बात है। इसलिये वस्तुतः शब्द का स्वरूप

ज्ञानात्मक होता है। मैंगो वाले और आम वाले दोनों के अन्दर ज्ञानात्मक रूप एक ही है। आम के विषय में ज्ञानात्मक वृत्ति दोनों में समान है और वही नाम का वास्तविक स्वरूप है। सृष्टिकर्ता हिरण्यगर्भ के पास जो शब्द है वह ज्ञानात्मक है। उस ज्ञान को लेकर जब वह **भूः** इस शब्द का उच्चारण करता है तो भूलोक उत्पन्न हो जाता है। अतः नाम पूर्व में है और अर्थ बाद में आता है, पर समष्टि में दोनों एक ही हैं। जब सीमित अहंता में, व्यष्टि भाव में आते हैं तो नाम से अर्थ भिन्न मालूम पड़ता है।

व्यक्ति या वस्तु के नाश से रूप का नाश होता है, नाम का नहीं। मान लीजिए कोई व्यक्ति मर गया, अब जो उसका रूप(शरीर) दिखाई दे रहा था वह नष्ट हो गया परन्तु नाम तो रहता है। इसीलिये बृहदारण्यक उपनिषद् में जहाँ कलाओं की चर्चा आई तो पन्द्रह कलाओं को नाशवान बताया और नाम को नित्य कहा, पुरुष के मरने के बाद भी नाम शेष रहता है। इसका मतलब हुआ कि नाम में ही रूप कल्पित था। वह नाम भी वर्णात्मक नहीं बल्कि ज्ञानात्मक है। ज्ञान से अतिरिक्त न नाम है न रूप।

कोई कुम्हार घड़ा बना रहा है। उसके अन्दर घड़े का ज्ञान न हो तो घड़ा नहीं बना पाएगा। घड़े का जैसा ज्ञानात्मक स्वरूप उसके अन्दर है वैसा ही घड़ा बनेगा। ज्ञान का शब्द से नित्य सम्बन्ध है और यह ज्ञान ही नाम का मुख्य स्वरूप है। सारी सृष्टि नाम के अन्तर्गत है यह बात सही है क्योंकि नामपूर्वक ही सभी अर्थों की उत्पत्ति होती है।

****

जिज्ञासा :- वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के पात्रों के चरित्रों में भेद क्यों दिखाई देता है?

समाधान :- यह सृष्टि अनादि है। अनादिकाल से आज तक कितने त्रेतायुग हुए, रामजी और सीताजी के कितने अवतार हुए कौन गिन सकता है। कल्पभेद से चरित्रों में भी कुछ भेद हो जाता है। आप वाल्मीकि रामायण पढ़ेंगे

तो वहाँ एक प्रकार की लीला दिखाई देगी, अध्यात्म रामायण पढ़ेंगे तो अन्य प्रकार की, मानस पढ़ेंगे तो कुछ अन्य प्रकार की लीला दिखाई देगी। इन लीलाओं में समानता भी है और विषमता भी। इसका एक कारण तो कल्पभेद से होने वाला लीलाभेद है। दूसरी बात यह है कि ग्रन्थकार के दृष्टिकोण से भी कुछ अन्तर आ जाता है। किसी में एक भाव की प्रधानता होती है तो किसी में किसी दूसरे भाव की। रामचरितमानस भक्तिप्रधान ग्रन्थ है और वाल्मीकि रामायण इतिहास है। रामजी ने मानवरूप में अवतार लिया था, इसलिये वाल्मीकि रामायण में मानव स्वभाव का कहीं उल्लंघन नहीं है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें मानव स्वभाव का प्राकट्य है और साथ ही ईश्वरता का अपलाप भी नहीं है।

रामायण में वर्णित सीता कभी राम पर नाराज भी हो जाती है। ऐसी-ऐसी बातें कह देती है जो कि मानस में वर्णित सीता कभी बोल ही नहीं सकती। जब राम ने वन में साथ ले जाने से मना कर दिया तो सीता बहुत नाराज हो गई। यहाँ तक कह दिया कि हमारे पिताजी अगर यह जानते कि आप हमारी रक्षा नहीं कर सकते तो आपके साथ हमारा विवाह नहीं करते। यहाँ यही दर्शाया कि मानव क्रोध में कुछ भी बोल सकता है। इसका मतलब यह नहीं कि उनका भाव रामजी के प्रति बिगड़ गया। दशरथ के अन्तिम समय में कौशल्या ने उनको बड़े कटु वचन सुना दिये। कैकेयी ने जो बर्ताव किया उससे कौशल्या का चित्त बहुत व्यथित था। अधिक दुःख में व्यक्ति कुछ भी बोल देता है, पर दशरथ के लिये उसके भाव में कोई गड़बड़ी नहीं थी।

मानव स्वभाव का इस ग्रन्थ में बहुत स्पष्ट चित्रण किया गया है और साथ में भाव की भी विलक्षण ढ़ंग से रक्षा की गई है। चाहे वह राम का भाव हो या सीता का, चाहे भरत का। साथ में ही ईश्वरता देखो, जब १४,००० राक्षस हमला करते हैं तब लक्ष्मण कहते हैं कि मैं आपको अकेला नहीं छोड़ सकता। पर राम कहते हैं कि तुम सीता को लेकर गुफा में जाओ, मैं अकेला ही युद्ध

करूँगा। अकेला युवक १४,००० राक्षसों को समाप्त कर देता है। कैसी ईश्वरता है! मानस में मानव स्वभाव का इतना वर्णन न हो कर राम-सीता के आदर्श जीवन तथा उनकी भगवत्ता का वर्णन विशेषरूप से है क्योंकि इसमें भक्ति की प्रधानता है। इसीलिये दोनों ग्रन्थों के चरित्रों में कुछ अन्तर दिखता है। यह अन्तर किसी प्रकार के दोष को नहीं दर्शाता।

****

जिज्ञासा :- शास्त्रों में कहा गया है कि स्वर्ण में कलि का निवास है। दूसरी ओर स्वर्ण को शुद्ध मानकर उसकी पवित्री बनाई जाती है, अंगूठी आदि पहनी जाती है और उसके दान को श्रेष्ठ माना जाता है। इस विरोधाभास का समाधान क्या है?

समाधान :- स्वर्ण में कलि का निवास इसलिए बताया है कि यह जिसके पास होता है उस व्यक्ति में अभिमान उत्पन्न कर देता है, ऐश्वर्यमय व्यक्ति मदमस्त हो जाता है, धर्म की भी उपेक्षा कर देता है। आपके पास सब सुख-सुविधा हो जाए, बैंक-बैलेंस हो जाए, बड़े-बड़े लोग सम्मान करने लगें तो आप जल्दी किसी सामान्य व्यक्ति से बात करना भी नहीं चाहेंगे। यही स्वर्ण की महिमा है। अधिक स्वर्ण पास में होने से व्यक्ति में बहुत-से दुर्गुण आ सकते हैं, इसलिए इसमें कलि का निवास बताया गया है।

जब स्वर्ण का सम्बन्ध भोग से हो जाता है तो उसमें कलि आ जाता है। परीक्षित ने स्वर्ण-मुकुट पहना तो कलि उसपर चढ़ बैठा। वह मुकुट जरासन्ध का था, उसे छिपाकर रखा गया था जिससे कोई उपयोग में न ले। परीक्षित का उस मुकुट पर अधिकार नहीं था, परन्तु उसने उसे उपयोग में ले लिया तो कलि को मौका मिल गया और उसने उसकी बुद्धि को खराब कर दिया।

परन्तु यदि कोई महिमाशाली और उत्कृष्ट वस्तु परमेश्वर या धर्म से सम्बन्धित हो जाए तो उसका बड़ा महत्व हो जाता है। जैसे कोई राजा या

प्रधानमन्त्री भक्त हो जाए तो लोग आश्चर्य में पड़ जाते हैं, उसका बड़ा महत्व हो जाता है। स्वर्ण का सम्बन्ध भी धर्म या ईश्वर से होने पर उसका महत्व बहुत हो जाता है क्योंकि वह स्वर्ण स्वभावतः शुद्ध है। इसलिए पवित्री, यज्ञपात्र, भगवान् के आभूषण, मूर्तियाँ आदि स्वर्ण की बनाई जाती हैं। शुद्ध और महत्वपूर्ण होने के कारण ही स्वर्ण के दान की इतनी महिमा कही गयी है। यही समझना चाहिए कि कोई उत्कृष्ट वस्तु अधर्म से सम्बन्धित हो तो बहुत बड़ा दोष हो जाता है और वही यदि धर्म से सम्बन्धित हो जाए तो उसका बड़ा महत्व हो जाता है।

****

जिज्ञासा :- गीता में कहा है - **व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन...(२.४१)** कर्मयोग में निश्चयात्मिका बुद्धि एक होती है। यहाँ पर शंका है कि भिन्न-भिन्न लोगों की बुद्धियों का एक निश्चय कैसे हो सकता है?

समाधान :- बुद्धि में जब तक एक निश्चय नहीं होता कि हमारा लक्ष्य क्या है, तब तक कुछ भी निश्चय हो सकता है। जैसे गणित के किसी एक सवाल का सही हल एक ही होता है चाहे वह कितने ही लोगों द्वारा हल किया हो, पर गलत हल के विषय में यह नहीं कह सकते कि सभी का एक ही होगा। ऐसे ही चाहे वह कर्मयोगी हो या ज्ञानयोगी अथवा भक्तियोगी, उन सभी का यह निश्चय है कि हमको परमात्म-प्राप्ति ही करनी है, तो उन सभी का एक ही निश्चय है क्योंकि लक्ष्य एक है। पर जगत्-विषयक लक्ष्य सभी का एक नहीं हो सकता क्योंकि कोई पुत्र चाहता है तो कोई धन, कोई शत्रु को मारना चाहता है और कोई श्रेष्ठ लोक प्राप्त करना चाहता है। जगत् तो समान कभी हो नहीं सकता। इसलिए सकाम मनुष्यों के लिए कहा है - **बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् (२.४१)।**

इसलिए भिन्न-भिन्न लोगों की बुद्धियों को एक कहने का तात्पर्य उनके

एक लक्ष्य को लेकर है।

****

जिज्ञासा :- शास्त्र कहता है कि जीव का मुख्य लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना ही है, इसके लिए ब्रह्मचर्य व्रत को भी आवश्यक बताया है। यदि ऐसा है तो शास्त्र विवाह करके गृहस्थाश्रम में जाने की आज्ञा ही क्यों देता है?

समाधान :- पहले तो यह समझना चाहिए कि शास्त्र विवाह करके गृहस्थ में रहने की आज्ञा किसको देता है? सभी लोग तो मोक्ष की इच्छा रखते नहीं। यदि कोई इच्छा रखे भी तो जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्य-पालन सभी के लिए सहज नहीं है। इसलिए शास्त्र ऐसे लोगों को आज्ञा देता है कि तुम विवाह करके धार्मिक जीवन निर्वाह करते हुए परमार्थ मार्ग में आगे बढ़ो। पर जिनमें तीव्र वैराग्य है उन्हें गृहस्थाश्रम में जाने की आवश्यकता नहीं है। शास्त्र यह भी कहता है –

यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।
ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वनाद् वा।।

(जाबालोपनिषद्-४)

जिस समय व्यक्ति में तीव्र वैराग्य प्रकट हो जाए, उसी समय सब त्यागकर घर से चल देना चाहिए। **वह ब्रह्मचर्याश्रम से भी संन्यास ले सकता है अथवा गृहस्थाश्रम या वानप्रस्थ से भी।**

****

जिज्ञासा :- शास्त्रों में देवताओं के विषय में कहा है - अजरा, निर्जरा, अमरा। परन्तु पुराणों में आता है कि देवासुर-संग्राम में देवता मारे गए। इस विरोधाभास का परिहार कैसे होगा?

समाधान :- देवताओं को अमर कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि उनकी मृत्यु नहीं होती, अपितु इसका आशय इतना ही है कि उनकी आयु मनुष्य की तुलना में बहुत ज्यादा होती है। पुण्य क्षीण होने पर उनको भी स्वर्ग से लौटना

पड़ता है, उनका शरीर उसी क्षण गल जाता है - **क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति...(गीता- ९.२१)**। मृत्यु की जहाँ बात आती है तो ब्रह्मा, विष्णु आदि की भी आयु निर्धारित है, फिर देवताओं की क्या बात करें!

****

जिज्ञासा :- जनक की सभा में जब गार्गी ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछे तो उन्होंने उसे डाँटकर चुप क्यों करा दिया? वह तो कार्य-कारणभाव को लेकर ही प्रश्न कर रही थी जो कि एक शास्त्रीय पद्धति है, फिर उसे मना क्यों किया?

समाधान :- याज्ञवल्क्यजी का अभिप्राय था कि परमात्मा के विषय में किसी को जिज्ञासा करनी हो तो उसका एक शास्त्रीय विधान है। बड़ों को प्रणिपात आदि करके उनकी आज्ञा से प्रश्न करना चाहिए। प्रश्न करने में समझने की दृष्टि होनी चाहिए। उन्होंने गार्गी से कहा, ''तूने पूछा कि इन्द्रलोक किसमें ओतप्रोत है, तो हमने प्रजापतिलोक में बता दिया। फिर तूने प्रजापतिलोक का आश्रय पूछा तो हमने ब्रह्मलोक बता दिया। अब तू फिर पूछती है कि ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत है? इस प्रकार से तो इसका कोई अन्त नहीं आएगा। केवल अनुमान से इस प्रकार आत्मतत्त्व के बारे में नहीं पूछा जाता। यह अतिप्रश्न है। विद्वानों की सभा में परमात्मा के विषय में ऐसा अतिप्रश्न करेगी तो तेरा सिर फट सकता है क्योंकि ऐसे प्रश्नों से विद्वानों का अपमान होता है।''

एक स्त्री को डाँटकर उसकी जिज्ञासा को समाप्त करने की दृष्टि याज्ञवल्क्य की नहीं थी क्योंकि जब उसने फिर से दो प्रश्न पूछने के लिए सभी ब्राह्मणों से आदरपूर्वक अनुमति ली और याज्ञवल्क्य से भी अनुमति ले ली तब उन्होंने उसके प्रश्नों का समुचित उत्तर भी दिया। गार्गी ने याज्ञवल्क्य को आदर देते हुए यह भी कहा कि यदि इन दो प्रश्नों का उत्तर इन्होंने दे दिया तो समझना कि इन्हें कोई नहीं जीत सकता। उसने याज्ञवल्क्य से फिर ब्रह्मलोक के आधार को पूछा तो याज्ञवल्क्य ने अव्यक्तात्मा को बताया। तब उसने

याज्ञवल्क्य को नमस्कार किया और अव्यक्त के भी आधार को पूछा। तब याज्ञवल्क्य ने बड़े सुलझे हुए ढंग से उत्तर दिया -

एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनणु ...

(बृह. उप.-३.८.८)

तत्त्व को निषेधमुख से बताया ताकि शब्दविषयता का दोष न आए। इसलिए ऐसा नहीं कह सकते कि याज्ञवल्क्य ने स्त्री होने के कारण गार्गी को डाँटकर चुप कराया था।

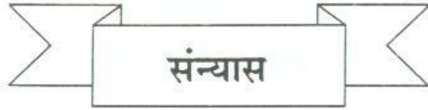
वहाँ पर गार्गी ने पहली बार जिस प्रकार से पूछा था, वह ढंग ठीक नहीं था, बड़ों का अपमान था। आज भी शास्त्रार्थ में मर्यादा होती है, अपना सिद्धान्त पहले बताना पड़ता है, प्रारम्भ में ही उसके विरुद्ध तुम नहीं बोल सकते। शास्त्रार्थ की मर्यादा का उल्लंघन करने के कारण ही याज्ञवल्क्य ने गार्गी को चुप कराया था।

****

जिज्ञासा :- रजोगुण से तो यज्ञ आदि शुभकर्म भी होते हैं। फिर गीता में **रजसस्तु फलं दुःखं।(१४.१६)** ऐसा क्यों कहा गया?

समाधान :- जब आपकी मनःस्थिति सात्त्विक रहेगी उस समय आप ज्ञान, विज्ञान, ध्यान आदि में लगेंगे तो उससे पुण्य-निष्पत्ति ही होगी। राजसी मनःस्थिति में दो विभाग होते हैं एक सत्त्वपरक और दूसरा तमःपरक। जब सत्त्वपरक स्थिति होगी तब यज्ञ, दान आदि शुभ कर्म करेंगे जिससे स्वर्गादि फल प्राप्त होंगे। तमःपरक स्थिति में अशुभ कर्म होगा जिसका फल स्पष्टरूप से नरकादि दुःख की प्राप्ति कहा है। परन्तु जो शुभ कर्म रजोगुण से होंगे उनमें भी कामना रहने से अन्त में दुःख की ही प्राप्ति होगी। कर्म का फल अनित्य होने से हमेशा दुःख रूप ही है। इसी दृष्टि से गीता में यह बात कही गई है।

****



जिज्ञासा :- आजकल संन्यासी के लिये सम्पूर्ण रूप से संन्यास-धर्म का पालन करना लगभग असम्भव सा लगता है। ऐसे में उसे क्या करना चाहिए?

समाधान :- यह बात केवल संन्यासी के लिये ही नहीं है अपितु सभी के लिये है। गृहस्थ भी शास्त्रीय-धर्म का पालन कहाँ कर पा रहा है। गुरुकुल तो रहा नहीं। इसलिये ब्रह्मचारी को तो पता ही नहीं है कि उसका धर्म क्या है, तब वह अपने धर्म का पालन कैसे करेगा। जब ब्रह्मचारी और गृहस्थ ही धर्म का पालन नहीं कर पाते तो संन्यासी पूर्णरूप से कैसे कर पाएगा क्योंकि वह भी तो उसी समाज से आया है, उसकी नींव ही कमजोर है। आकाश में महल बनाने में तो समस्या होती ही है।

यह सब कुछ होते हुए भी कोई अपने को संन्यासी मानता है तो उसे प्रयास करके भी संन्यास-धर्म का पालन जहाँ तक हो सके करना चाहिए। भले ही गृहस्थ कहे कि आजकल झूठ बोले बिना काम नहीं चलता पर संन्यासी के लिये तो झूठ बोलना कोई अनिवार्य नहीं है। इसलिये संन्यासी को सर्वप्रथम मिथ्याभाषण का त्याग तो करना ही पड़ेगा। यदि वह निन्दा-स्तुति, व्यर्थ बात-चीत, अनावश्यक हँसी-मजाक इत्यादि को नहीं छोड़ सकता तो फिर काल पर दोषारोपण करने की आवश्यकता नहीं है। वह **प्रणव** का जप तो कर ही सकता है। यदि यह भी न कर सके तो किसी आश्रम में रहकर सेवा करे। भोजन तो आश्रम में बनता ही है, पाँच-सात घर भिक्षा करने की भी आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार धीरे-धीरे अपने जीवन

को संन्यास के लक्ष्य की ओर ले जा सकता है।

****

जिज्ञासा :- 'जीवनमुक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ में विद्यारण्य मुनि ने लिखा है - ''आजकल के साधक किसी उपास्य देवता को प्रसन्न किये बिना वेदान्त में प्रवेश करते हैं इसलिये वे ईश्वर-अनुग्रह को प्राप्त नहीं कर पाते।'' ऐसे में किसी ने बिना कोई उपासना किये संन्यास धारण कर लिया तो उसे क्या करना चाहिए?

समाधान :- व्यक्ति ने संन्यास धारण किया है तो उसका कोई लक्ष्य होगा ही। वह अपने चित्त की वृत्ति को लक्ष्य से न हटने दे। उसके लिये यही उपासना है। शास्त्र में बताया है -

दद्यान्नावसरं किञ्चित् कामादीनां मनागपि।
आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया।।

(योगवासिष्ठ)

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः।।

(पञ्चदशी- ७.१०६)

यही संन्यासी के लिये सबसे अच्छी उपासना है। यदि कोई इसमें समर्थ नहीं है तो उसे कोई अन्य उपाय करना पड़ेगा, जिससे सामर्थ्य प्राप्त हो सके।

जैसे किसी को डॉक्टर बनना हो तो उसे हाईस्कूल आदि की पढ़ाई से गुजरना पड़ेगा। वैसे ही किसी संन्यासी ने पहले उपासना नहीं की है तो उसे अधिक से अधिक प्रणव का जप करना चाहिए। उसके पास तो बहुत बड़ी ताकत है। कोई साधक प्रणवमन्त्र को अपने जीवन में छः महीने भी व्याप्त करता है तो उसके जीवन में उपासना का फल उदय हो जाता है। पर

मन्त्र सचाई से धारण होना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- संन्यासी के लिये स्त्री की मूर्ति देखना भी वर्जित किया है। समाज में रहते हैं तो मूर्ति क्या प्रत्यक्ष स्त्री का दर्शन भी हो जाता है। ऐसे में क्या प्रायश्चित्त करना चाहिए?

समाधान :- बात विचार करने की है। संन्यासी के लिये जहाँ भिक्षा का विधान किया है वहाँ ऐसा तो नहीं कहा कि स्त्री वाले घर में नहीं जाना। जब वह भिक्षा माँगता है तो कहता है - **''भवती भिक्षां देहि''।** यहाँ पर स्त्री से भिक्षा माँगना सिद्ध होता है। ऐसे में आप उसे स्त्री क्यों समझते हैं। उसमें मातृभाव रखिए। अपनी दृष्टि को पवित्र रखेंगे तो प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। शास्त्रों में जहाँ स्त्री की मूर्ति देखना वर्जित किया है वहाँ शास्त्र का तात्पर्य उसका संग करना, अनावश्यक देखने की चेष्टा करना इत्यादि के वर्जन से है।

****

जिज्ञासा :- कोई साधक घर से निकल कर संन्यास की इच्छा से किसी मठ में गया। वहाँ उसकी चोटी काट दी, जनेऊ निकाल दिया और कुछ सामान्य संस्कार कर दिया। उसको वर्तमान स्थिति से सन्तोष नहीं है, अतः वह विधिवत् संन्यास लेना चाहता है। जो हो गया उसका प्रायश्चित्त क्या है?

समाधान :- यह एक जटिल स्थिति है, पर इसका उपाय है। अब वह जहाँ से विधिवत् संन्यास लेगा वहाँ उसे पहले यज्ञोपवीत संस्कार कराना पड़ेगा। शिखा-सूत्र के साथ कुछ दिन नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप में रहना होगा। कम से कम प्रायश्चित्त है कि उसे गायत्री मन्त्र का २४,००० जप अनिवार्य रूप से करना होगा। यदि विशेष प्रायश्चित्त करना चाहता है

तो ५ दिन का पयोव्रत कर सकता है। ५ दिन तक दूध और गोमूत्र छोड़कर अन्य कुछ ग्रहण नहीं करना चाहिए और गायत्री मन्त्र का २४,००० जप करे। परम्परा के अनुसार यही प्रायश्चित्त है। कोई-कोई महात्मा तो ऐसी परिस्थिति में संन्यास से पहले चान्द्रायण-व्रत करते हैं, पर इस काल में वह सब करने की जरूरत नहीं है। जो हमने बताया है उतना करने से प्रायश्चित्त हो जाएगा, फिर संन्यास ले सकते हैं।

****

जिज्ञासा :- मैं एक संन्यासी हूँ इसलिये मेरे शिखा-सूत्र भी नहीं हैं। मैं शिवजी का अभिषेक रुद्राष्टाध्यायी के पाँचवे अध्याय से करता हूँ। शास्त्र में कर्म-काण्ड के लिये शिखा-सूत्र की अनिवार्यता बताई है। इससे मुझे भय लगता है कि कहीं मैं दोष का भागी तो नहीं हूँ?

समाधान :- आप जो अभिषेक करते हैं वह यदि नित्यकर्म के रूप में है, किसी कामना या संकल्प से नहीं करते तो आपको कोई दोष नहीं लगेगा क्योंकि आपका किसी कर्म-काण्ड से सम्बन्ध नहीं है। आप तो शिवजी की आराधना कर रहे हैं। शास्त्र में संन्यासी के लिये रुद्राष्टाध्यायी के मन्त्रों से अभिषेक के लिये विधान किया है। इसलिये आप अपनी निष्ठा को पक्की रखिए। आपको कोई दोष नहीं लगेगा।

****

जिज्ञासा :- संन्यासी लोग गेरूआ वस्त्र ही क्यों पहनते हैं?

समाधान :- संन्यासी किसी भी रंग का वस्त्र पहने तब भी आप प्रश्न कर सकते हैं, लाल ही क्यों, काला ही क्यों? इसलिये मैं प्रायः कहता हूँ - **तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।(गीता - १६.२४)** क्या करना, क्या नहीं करना इसमें शास्त्र ही प्रमाण है, आपका मन नहीं। शास्त्र कहता है संन्यासी गैरिक वस्त्र धारण करे, अतः उसे मानना चाहिए।

इसमें कारण यह भी है कि गृहस्थ का व्यवहार पञ्चरंगी होता है और साधु का एकरंगी। इसी के प्रतीक रूप में संन्यासी एक रंग का वस्त्र धारण करता है। वह गैरिक ही क्यों? यह अग्नि का रंग है। अग्नि का स्वभाव ऐसा है कि उसमें अच्छा-बुरा कुछ भी छोड़ो सबको आत्मसात् कर लेता है। इसी प्रकार जगत् का अच्छा-बुरा कोई भी व्यवहार संन्यासी को प्रभावित नहीं कर सकता। इसलिये जिसके मन ने जगत् को छोड़ दिया है उसी को यह वस्त्र धारण करने का अधिकार है। यह वस्त्र ब्रह्मजिज्ञासा के लिये मिला है। अतः यह विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षा का प्रतीक है। यही इसकी महिमा है। वस्तुतः तो शास्त्र कहता है इसीलिये संन्यासी गैरिक वस्त्र धारण करता है।

****

जिज्ञासा :- माता-पिता की सेवा से बढ़कर कोई कर्तव्य नहीं है। पुत्र कभी भी उनके ऋण से मुक्त नहीं हो सकता। फिर संन्यास ग्रहण करना क्या उचित है?

समाधान :- व्यक्ति को कोई बहुत बड़ा काम करना हो तो उसे वर्तमान स्थिति का मोह छोड़ना ही पड़ता है। विद्यार्थी को पढ़ना हो तो घर तथा माता-पिता को छोड़कर दूर जाना पड़ता है, उनका मोह छोड़ना पड़ता है। इसी प्रकार मानव जीवन का चरम लक्ष्य परमात्मदर्शन किसी को प्राप्त करना हो तो माता-पिता का मोह छोड़ना ही पड़ेगा। बिना छोड़े इतना बड़ा काम कैसे करेगा। यदि सचाई से घर छोड़कर उस काम में लग जाता है तो माता-पिता की उसमें प्रसन्नता ही होगी क्योंकि उसमें उनका भी कल्याण निहित है। शास्त्र कहता है संन्यासी यदि निष्ठापूर्वक अपने धर्म में रहता है तो माता-पिता को ही नहीं बल्कि अपनी कई पीढ़ियों को तार देता है। यह तो माता-पिता की बहुत बड़ी सेवा है। हाँ! यदि संन्यासी अपने धर्म को छोड़ता है तो उससे माता-पिता की न सेवा होगी और न उनकी प्रसन्नता।

पहले परम्परा यह थी कि माता-पिता की आज्ञा लेकर ही संन्यास लिया जाता था। हमने भी माता-पिता की आज्ञा से ही संन्यास लिया था। हमारी माता ने किसी से कहा था, "मैं माता हूँ इसलिये पुत्र के जाने से दुःखी हूँ, परन्तु वह साधु बना है इसलिये सुखी भी हूँ।" किसी के अन्दर यदि सच्चा वैराग्य आ गया तो शास्त्र कहता है कि उसका कोई सांसारिक कर्तव्य शेष नहीं रहा, वह उसी क्षण संन्यास ले सकता है—

यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।(जाबालोपनिषद्-४)

संन्यासी यदि अपनी निष्ठा में ठीक से रहे तो उसके माता-पिता की सेवा का ध्यान परमात्मा रखेगा, उसकी जिम्मेदारी को परमात्मा सम्भाल लेगा। अपने अनन्य भक्तों का योगक्षेम वहन करना तो भगवान् की प्रतिज्ञा है। कई गृहस्थ भक्तों के जीवन में आता है कि वे जब भजन में तल्लीन हो गये तो उनके कर्तव्य को स्वयं भगवान् ने आकर पूरा किया। संन्यासी यदि सब ओर से मन हटाकर भगवद्भक्ति में लग गया है तो उसके कर्तव्य को भगवान् क्यों नहीं सम्भालेगा।

****

जिज्ञासा :- वानप्रस्थ-आश्रम का विधान शास्त्र में किस दृष्टि से किया है? इसका क्या महत्त्व है? व्यक्ति को वानप्रस्थ से संन्यास में कब प्रवेश करना चाहिए?

समाधान :- गृहस्थ व्यक्ति के ऊपर कुछ जिम्मेदारियाँ रहती हैं। जब तक माता-पिता जीवित हैं तब तक उनके प्रति जिम्मेदारी है। इसके अलावा पत्नी और बच्चों के प्रति जिम्मेदारी रहती है। पुत्रों को योग्य बनाकर काम में लगा दो और कन्याओं का विवाह कर दो तो तुम्हारी व्यावहारिक जिम्मेदारी समाप्त हो गई। पत्नी चाहे तो पुत्रों के साथ रहे या तुम्हारे साथ। अब तुम्हारा एक ही काम रह गया है - **भगवत्प्राप्ति।**

इसके लिये पहले वानप्रस्थ-आश्रम में जाना पड़ता है। इसका कारण यह है कि गृहस्थ में जो प्रमाद हुआ है, शरीर में मोटापा आ गया है उसे तपरूपी अग्नि से हटाना पड़ेगा। गृहस्थ में बहुत से पाप हो जाते हैं अतः तप से अपने को शुद्ध करना पड़ेगा। इसलिये वानप्रस्थ-आश्रम तपस्या-प्रधान है। बार-बार स्नान करो, चान्द्रायण या अन्य व्रत करो, धूप-ठण्ड सहन करो। इस अभ्यास से शरीर की खोट निकल जाएगी और वह शुद्ध हो जाएगा। साथ में व्यक्ति उपासना भी करेगा जिससे उसका मन शुद्ध हो जाएगा। तब व्यक्ति संन्यास का अधिकारी बन जाएगा।

वानप्रस्थ धारण से कितने वर्ष बाद संन्यास में जाना चाहिए यह गणित मत लगाओ। जितने वर्ष में अपना काम बने उतना समय आवश्यक है। मन शुद्ध हो जाए, एकाग्र होकर आत्मरूपी लक्ष्य में तन्मय हो जाए तो अपने आप ही संन्यास की योग्यता आ जाएगी।

****

वमनाहारवद्यस्य भाति सर्वैषणादिषु।
तस्याधिकारः संन्यासे त्यक्तदेहाभिमानिनः।।
(मैत्रेयी उप.-२.१८)

जिसे सम्पूर्ण एषणाओं (इच्छाओं) के विषय उल्टी किये हुए भोजन के समान घृणास्पद प्रतीत होते हैं ऐसे देहाभिमान से रहित पुरुष का संन्यास में अधिकार है।

सुख-दुःख

जिज्ञासा :- कुछ लोग बहुत धन होते हुए भी दुःखी रहते हैं। दुःखी रहना क्या उनका स्वभाव माना जाए?

समाधान :- धन बाहर की सुविधा है। वस्तुतः बाहर की सुविधा से किसी को सुख नहीं मिलता। फिर सुख का हेतु क्या है? पतञ्जलिजी ने कहा है **-सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः। (योगसूत्र-२.४२)** प्राप्त भोग में जिसको सन्तोष है और जो धर्म पर खड़ा है उसको जो सुख प्राप्त होता है वह अत्यधिक भोग करने वालों को प्राप्त नहीं होता।

हमने प्रत्यक्ष देखा है, करोड़पतियों को जितना दुःख है उतना तो किसी मजदूर को भी नहीं है। उनके दुःख को दूर से कोई जान नहीं सकता, पास में रहकर ही जाना जा सकता है। किसी मजदूर की लड्डू खाने की इच्छा है और लड्डू नहीं मिला तो उसे दुःख होता है। किसी धनवान् की लड्डू खाने की इच्छा है और लड्डू सामने भी पड़ा है, पर डॉक्टर ने कह दिया-"लड्डू खाओगे तो मर जाओगे।" अब बताइये, दोनों में से किसको ज्यादा दुःख हुआ? मजदूर तो कभी मिलने पर खा भी सकता है, पर यह तो जीवन भर देख ही सकता है। खाने को तो उबला हुआ साग और सूखी रोटी ही उसके लिये है। मजदूर दिन भर काम करता है, रात्रि को उसे सुखपूर्वक निद्रा आ जाती है। करोड़पति को इन्जेक्शन के बिना निद्रा नहीं आती। बताइये निद्रा के विषय में कौन सुखी है?

अर्थानामर्जने क्लेशः तथैव परिपालने।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः।।(पञ्चदशी-७.३९)

धन के अर्जन करने में भी क्लेश है। फिर उसकी रक्षा करो। उसे खर्च करने में भी भय बना रहता है कि गलत जगह पर खर्च न हो जाए। सुख में धन हेतु बन सकता है यह धारणा गलत है।

****

जिज्ञासा :- शास्त्र में प्रसिद्धि है कि पुण्यात्मा का प्राण बिना कष्ट के छूटता है और पापात्मा को प्राण छूटते समय बहुत कष्ट होता है। परन्तु कभी-कभी इसका उल्टा देखा जाता है। इसमें क्या हेतु है?

समाधान :- शास्त्र में जो बात प्रसिद्ध है वही सत्य है। आपका अनुभव सत्य हो यह कोई आवश्यक नहीं। कभी किसी आदमी को बेहोश पड़ा देखते हैं। बाहर से वह बड़ा शान्त दिखाई देता है पर अन्दर से उसको बहुत कष्ट होता है। वह अपने कष्ट को व्यक्त नहीं कर पाता। इसी प्रकार कभी-कभी कोई बाहर से कष्टग्रस्त दिखाई देता है पर भीतर से उसको परम आनन्द मिल रहा है। इसलिये आप बाहर से देख कर यह नहीं कह सकते कि प्राण सुख से छूटे या दुःख से। उस समय जीव एक क्षण में वर्षों का अनुभव कर सकता है। उसको परमात्मा ही जान सकता है या फिर कोई योगी। उस विषय में आप निर्णय कैसे कर सकते हैं कि शरीर दुःख से छूटा या सुख से।

****

जिज्ञासा :- भीष्म पितामह इतने बड़े धर्मात्मा थे, फिर उन्हें शरशय्या पर सोने का कष्ट क्यों झेलना पड़ा?

समाधान :- वे तो स्वेच्छा से शरशय्या पर सोये थे क्योंकि वे महावीर थे। जब वे युद्ध क्षेत्र में गिर गये तब दुर्योधन उनके लिये गद्दा-तकिया ले आया, जिससे उन्हें आराम मिले। परन्तु उन्होंने कहा- 'यह वीरों की शय्या नहीं है, अर्जुन को बुलाओ।' जब अर्जुन को बुलाया तो उन्होंने अर्जुन को संकेत किया, उसने इस प्रकार से बाण मारे ज़िससे उनका शरीर ऊपर उठ गया और बाणशय्या पर लेट गया। उस काल की धनुर्विद्या को हम आज समझ नहीं

सकते। एकलव्य ने कौरवों के कुत्ते के मुख में इतने बाण भर दिये कि उसका भौंकना बन्द हो गया परन्तु एक बून्द भी खून नहीं निकला।

अर्जुन ने कैसे वह शरशय्या बनाई और वह भीष्म को सुख देने वाली कैसे हुई इस बात को हम अपनी बुद्धि से समझ नहीं सकते। वह शय्या बाणों की थी परन्तु उन्हें कष्ट देनेवाली नहीं थी अन्यथा शरीर ऊपर कैसे रहता बाण शरीर में धँस जाने चाहिए थे। उसी शय्या पर लेटे हुए भीष्म ने सम्पूर्ण धर्मशास्त्र का उपदेश पाण्डवों को किया। यदि वह शय्या कष्ट देने वाली होती तो इतना उपदेश कैसे कर सकते थे। इस बात को ठीक से समझना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- सदा बालक के समान आनन्द बना रहे इसके लिये क्या करें?

समाधान :- आपका तात्पर्य है कि जैसे बालक में काम, कुटिलता, चिन्ता इत्यादि विकार नहीं रहते इसलिये वह आनन्द में रहता है, उसी प्रकार हमारे अन्दर वे विकार न रहें तो हम भी सुखी हो जाएं। जब यह जानते हो तो क्यों उनको पाल रखे हो, निकालो। वे निकले कि आप बालक के समान हो गये। बालक में चिन्ता इसलिये नहीं होती कि वह माता-पिता के आश्रय से रहता है। आप भी भगवान् को माता-पिता मान लो। उनका तो वचन है - **करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।। (मानस अरण्य -४२.३)** तो फिर क्यों चिन्ता करते हो। वह थप्पड़ मारे या लड्डू दे सब में कृपा देखो तो चिन्ता का प्रसंग ही नहीं रहेगा।

****

जिज्ञासा :- सृष्टि के आरम्भ काल में जीव का कोई कर्म तो था ही नहीं। फिर प्रथम सृष्टि में जीव के सुख-दुःख के भोग में हेतु क्या बनता है?

समाधान :- अनादि शब्द का अर्थ है कि यह सृष्टि-प्रलय का चक्र कब से चल रहा है इसका जवाब आप नहीं दे सकते। अनादि का अर्थ यह नहीं

है कि सृष्टि उत्पन्न नहीं होती, बस इतना अर्थ है कि इस परम्परा में यह नहीं बता सकते कि इसके पहले सृष्टि नहीं थी। मान लीजिए एक ऐसा समुद्र है जो अनादि है। उसमें पहली लहर कब उठी यह आप नहीं बता सकते। इसी प्रकार जो मूल चेतन तत्त्व है उसको तो हम नित्य मानते हैं फिर उसमें पहली सृष्टि कब स्फुरित हुई यह नहीं कह सकते।

देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा।।

(माण्डूक्य कारिका -१.९)

जैसे समुद्र का स्वभाव है लहर उठते रहना, ऐसे ही परमात्मा का स्वभाव है अनन्तरूपों में भासित होते हुए भी ज्यों का त्यों बना रहना। इसलिये पहली सृष्टि कब हुई यह प्रश्न अनिर्वचनीय है। इसका जवाब तो आज तक कोई दार्शनिक नहीं दे सका। स्वयं ऋग्वेद भी कहता है—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।

(१०.१२९.६)

यह सृष्टि कहाँ से आई, कब और कैसे बनी यह कोई भी निश्चित रूप से कह नहीं सकता। इसलिये पहली सृष्टि नाम की कोई चीज नहीं है। हाँ! सिद्धान्त तो यही है कि पूर्व जन्म में किये गये कर्मों के फलस्वरूप ही जीव सुख-दुःख भोगता है।

****

न चेन्द्रस्य सुखं किञ्चिन्न सुखं चक्रवर्तिनः।
सुखमस्ति विरक्तस्य मुनेरेकान्तजीविनः।।
(भागवतमाहात्म्य-४.७५)

सुख न तो देवराज इन्द्र को प्राप्त होता है और न ही पृथ्वी के चक्रवर्ती सम्राट को। सुख की प्राप्ति तो केवल पूर्ण विरक्त, एकांतवासी मुनि को ही होती है।

ज्ञानी की स्थिति

जिज्ञासा :- गीता में गुणातीत का लक्षण करते समय सर्वारम्भपरित्यागी कहा। ऐसे में ज्ञानी महापुरुषों के द्वारा यदि कोई क्रिया होती हुई दिखाई दे तो क्या समझना चाहिए?

समाधान :- बात स्पष्ट है कि जितना भी आरम्भ(क्रिया) होगा वह गुणों में ही होगा। गुणों के साथ सम्बन्धित हुए बिना उस आरम्भ का कोई कर्ता नहीं बन सकता। स्वरूपभूत चेतन गुणातीत है, इसलिये उसके साथ किसी गुण का सम्बन्ध हो नहीं सकता। वह तो अक्रिय है। अब कोई शंका करे कि गुणातीत महापुरुषों में आरम्भ दिखाई देता है। उस दिखाई देने वाले आरम्भ का कोई मतलब नहीं है। मतलब इस बात से है कि उसको अपने स्वरूप का क्या निश्चय है। उसे जो निश्चय अपने स्वरूप का है उसका गुणों से सम्बन्ध है या नहीं? यदि नहीं है तो आपको जो क्रिया दिखाई दे रही है उसका आप उस गुणातीत पर आरोप कर रहे हैं वह केवल आपकी दृष्टि में है, न उसकी दृष्टि में है और न ही उसकी अनुभूति में।

उसका उसके शरीर में होने वाली क्रिया से सम्बन्ध क्यों नहीं बन रहा है? इसलिये नहीं बन रहा है कि उस शरीर के साथ उसकी जो अहंता-ममता थी वह अज्ञान से उत्पन्न हुई थी। अज्ञान के नष्ट होने से अहंता-ममता भी बाधित हो गई। अब उसका उस शरीर से होने वाली क्रियाओं से सम्बन्ध कैसे बन सकता है। जैसे आप एक शरीर में अहंता करके किसी दूसरे शरीर में होने वाली क्रिया से सम्बन्ध नहीं रखते क्योंकि वहाँ आपकी

अहंता नहीं है। इसलिये ज्ञानी के शरीर में क्रिया दिखते हुए भी वह गुणातीत ही है।

****

जिज्ञासा :- शास्त्र कहता है- ''ज्ञानी के कर्म भस्म हो जाते हैं।'' इसका क्या तात्पर्य है?

समाधान :- आप कोई स्वप्न देख रहे हैं। उसमें आपने बड़े-बड़े सौ यज्ञ किये और सौ ब्रह्महत्याएं कर दीं। आपने पुण्य किया और पाप भी किया। अब आप जाग गये। उस समय आप न तो उन यज्ञों के पुण्य से प्रसन्न होते हैं और न ही ब्रह्महत्याओं के पाप से दुःखी। आप कहीं उन हत्याओं को स्वीकार करके पुलिस के सामने आत्मसमर्पण करने पहुँचें और कहें- मुझे गिरफ्तार कीजिए, मैंने स्वप्न में सौ हत्याएं की हैं। उस समय पुलिस वाला क्या कहेगा? आप विचार कीजिए जिस स्वप्न में यज्ञ करके फूल रहे थे और पाप से डर रहे थे, वह जागने के पश्चात् एकाएक गायब कैसे हो गया। उसमें कारण यही है कि स्वप्न में जिस शरीर से आपने कर्म किये थे वह बाधित हो गया। इसलिये आपका उससे सम्बन्ध नहीं रहा तो उससे होने वाले कर्म से भी सम्बन्ध नहीं बना। पर यह अनुभूति जागने पर ही होगी।

जाग्रत और स्वप्न में अन्तर इतना ही है कि स्वरूप से सो कर जगत्-दृष्य देखने का नाम जाग्रत है और जाग्रत से सो कर दृष्य देखने का नाम स्वप्न है। जैसे स्वप्न से जागने पर स्वप्न का अनुभव बाधित हो जाता है उसी प्रकार अविद्या के नष्ट होने से जब आप स्वरूप में जागेंगे तब जाग्रत का अनुभव बाधित हो जाएगा अर्थात् वर्तमान में शरीर आदि से जो सम्बन्ध मालूम पड़ रहा है वह बाधित हो जाएगा। तब शरीर, इन्द्रिय आदि से होने वाले कर्म और कर्मफल से आपका सम्बन्ध नहीं रहेगा। यही है कर्म भस्म होने का तात्पर्य। अब कोई वहाँ जले हुए कर्म की राख ढूँढ़ने जाये तो नहीं मिलेगी।

जिज्ञासा :- ज्ञानी के संचित कर्म तो नष्ट हो जाते हैं। उसके क्रियमाण पुण्य-पापात्मक कर्मों का सम्बन्ध किससे बनता है?

समाधान :- कौषितकी उपनिषद् में इस विषय पर विचार किया है। वहाँ उसके कर्मों के २ विभाग कर दिये। जो **पुण्य-भाग** है वह उसकी सेवा, प्रशंसा करने वाले के पास चला जाएगा। जिसकी जितनी भावना है उसके अनुसार ही बँट जाएगा। इससे उन्हें लाभ होगा। जो थोड़ा बहुत **पापात्मक अंश** है वह उसकी निन्दा करने वालों में बँट जाएगा। वहाँ उसका फल दिखाई देगा, उन लोगों का कुछ अनिष्ट हो जाएगा। पर यह स्वतः होता है, ज्ञानी का इसमें कोई संकल्प नहीं रहता। इसके अलावा जो लटापटा (कमण्डलु, घड़ी इत्यादि) है वह उसके उत्तराधिकारी अथवा सेवक के पास रह जाता है। ज्ञानी की तरफ से तो कुछ नहीं हो रहा है पर ये विभाग अपने-आप हो जाते हैं।

****

जिज्ञासा :- ईशावास्योपनिषद् में कहा है - **तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।**(७) एकत्व के ज्ञान से शोक, मोह का अभाव कैसे हो जाता है?

समाधान :- देखो! शोक, मोह इत्यादि जो भी होते हैं वे दो में होते हैं एक में नहीं। सुषुप्ति में दो नहीं होते इसलिये न वहाँ शोक की प्रतीति होती है, न मोह की और न अन्य कोई व्यवहार होता है। जब भेद होगा तभी व्यवहार सम्भव होगा। वस्तु का भेद हो या न हो भेददर्शन मात्र से सब प्रकार का व्यवहार हो जाता है, वास्तविक भेद होने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसीलिये श्रुति कहती है -

यत्र द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति,
तदितर इतरं जिघ्रति..... (बृह.उप.-४.५.१५)

जहाँ द्वैत के जैसा होता है, अर्थात् वास्तविक भेद की कोई जरूरत नही। भेद-प्रतीति हो जाए तो देखना, सुनना आदि सारा व्यवहार शुरु हो जाता है। **यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् तत्केन कं जिघ्रेत्.....(बृह.उप.-४.५.१५)**

जहाँ भेददर्शन का अभाव है वहाँ कोई व्यवहार संभव नहीं। जिस ज्ञानी को एक आत्मा ही दिख रहा है उसमें कोई व्यवहार नहीं हो सकता। ईशावास्य के जिस मन्त्र के विषय में प्रश्न है वहाँ ऐसे ही ज्ञानी की दृष्टि बताई गई है-**यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।(७)** इस ज्ञानी की दृष्टि में तो एक आत्मा ही है उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं। इस एकत्व-ज्ञान से उसका भेददर्शन समाप्त हो जाता है क्योंकि भेददर्शन का कारण अज्ञान था, वह ज्ञान से नष्ट हो चुका है। इसलिये इस ज्ञानी के लिये शोक, मोह आदि संसार का सम्पूर्ण व्यवहार समाप्त हो जाता है।

****

भेदाभेदौ सपदि गलितौ पुण्यपापे विशीर्णे
मायामोहौ क्षयमधिगतौ नष्टसन्देहवृत्तेः।
शब्दातीतं त्रिगुणरहितं प्राप्य तत्त्वावबोधं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः।।
(शुकाष्टकम्-१)

त्रिगुणात्मिका माया से रहित, सम्पूर्ण शब्दों के अविषय ब्रह्मतत्त्व साक्षात्कार से जिसके सारे सन्देह नष्ट हो चुके हैं, जीव और ईश्वर में भेद तथा देह और आत्मा में अभेद इस प्रकार के मिथ्याज्ञान बाधित हो गये हैं, पुण्य-पाप समाप्त हो गये हैं, माया और मोह नाश को प्राप्त हो चुके हैं, ऐसा गुणातीत मार्ग में विचरण करने वाला ब्रह्मज्ञानी महापुरुष शास्त्रों के समस्त विधि-निषेधों से परे हो जाता है।

लोकव्यवहार

जिज्ञासा :- कबीरदासजी की समाज में अच्छी प्रतिष्ठा थी, फिर उन्होंने जीविकोपार्जन के लिये कोई अच्छा धंधा क्यों नहीं चुना?

समाधान :- कोई कर्म अच्छा या बुरा नहीं होता। शास्त्र इस बात को नहीं मानता कि अध्यापन कर्म अच्छा है और कपड़ा बुनने वाला कर्म बुरा।

सभी कर्म दोष मिश्रित हैं। फिर किसी विशेष कर्म के बारे में क्या कहा जाये। शास्त्र के अनुसार महत्त्व इस बात का है कि व्यक्ति उस कर्म को भगवान् से सम्बन्धित कर पाता है या नहीं। यदि भगवान् की सेवा के रूप में करता है तो उसके मन में क्यों आएगा कि हम कोई दूसरा व्यापार करें। भगवान् ने गीता में कहा है -

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।।(१८.४८)

अपना सहज कर्म जो जन्म से प्राप्त है उसको भगवद्-आराधना समझ कर करना चाहिए। भगवान् ने तो यहाँ तक कह दिया कि उसमें कोई दोष हो तो भी उसे छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि उस कर्म के संस्कार उसके रक्त में हैं। इसी प्रकार कबीरजी का कपड़ा बुनने का कर्म पुश्तैनी था, इसलिये उनके लिये वह सहज कर्म था। उन्होंने भगवान् से सम्बन्धित करके उस कर्म को किया।

****

जिज्ञासा :- किसी लड़के-लड़की का परस्पर स्नेह हो जाये और

दोनों एक ही धर्म के हों तो क्या वे परस्पर विवाह कर सकते हैं?

समाधान :- वे परस्पर स्नेह करते हैं उसके विषय में तो हम कुछ नहीं कह सकते, पर जीवन में एक बात अवश्य ध्यान में रखें कि कामना या वासना के आधार पर लिया गया निर्णय ठीक या सफल हो इसकी कोई गारण्टी नहीं। जब भी कामना में विघ्न आएगा वह निर्णय गलत सिद्ध हो जाएगा। इसलिये आपके विवाह में हेतु कामना-वासना तो नहीं है? पहले तो यह निश्चय कर लेना चाहिए। दूसरी बात, मनुष्य जीवन में विवाह का सम्बन्ध मात्र इस लोक से ही नहीं है, इसका सम्बन्ध परलोक से भी है। इसलिये वह शास्त्रसम्मत होना चाहिए। इसके लिये यह विचार करना पड़ेगा कि हमारे कार्य को माता-पिता, गुरु, धर्म तथा ईश्वर का समर्थन है अथवा नहीं। आपके माता-पिता प्रसन्न तो हैं। कहीं आप ऐसा करके माता-पिता को थप्पड़ तो नहीं लगा रहे हैं? उनका आशीर्वाद नहीं लिया तो जीवन में सुखी नहीं रह पायेंगे।

हमने कई घटनाएं ऐसी देखी हैं जिनमें युवक-युवतियाँ आवेशवश किसी की न सुनकर प्रेम-विवाह कर लेते हैं। अन्त में उनके जीवन में शान्ति नहीं मिली। माता-पिता के साथ-साथ यह भी देखना पड़ेगा कि समाज इस कार्य को स्वीकार करता है कि नहीं। नहीं तो एक गलत निर्णय के कारण जीवन भर नीचा देखना पड़ेगा क्योंकि उनके जीवन में न गुरु का आशीर्वाद रहेगा, न माता-पिता का और न ही समाज के अन्य बड़े लोगों का।

इसके साथ-साथ उनको धर्मशास्त्र के अनुसार भी विचार करना पड़ेगा कि दोनों की जाति मिलती है या नहीं। कहीं दोनों का गोत्र तो नहीं मिल रहा है? सजातीय होने पर भी यदि सगोत्र हैं तो विवाह नहीं करना चाहिए, इसका विशेषकर उत्पन्न होने वाले बच्चों पर कुप्रभाव पड़ता है। शास्त्र में सगोत्र के बीच में भाई-बहिन का रिश्ता बताया है। इसलिये उन्हें परस्पर विवाह नहीं करना चाहिए। विवाह करते समय ऐसा निर्णय लें जो हमारे इस लोक के साथ-साथ परलोक को भी बिगाड़ने वाला न हो। उपरोक्त बातों पर

विचार कर लें। यदि इनके साथ कोई विरोध नहीं हो रहा है तो विवाह कर सकते हैं।

****

जिज्ञासा :- व्यवहार में शान्ति भंग न हो इसके लिये क्या किया जाए?

समाधान :- शान्ति आपका स्वरूप है। वह कहीं बाहर से प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है। आप बाहर से शान्ति चाहते हैं और उसके बदले में अन्दर की शान्ति बाहर फेंक रहे हैं। यह जो बाहर से शान्ति प्राप्त करने की कामना है यही अशान्ति में हेतु है। कामना वाला व्यक्ति शान्त कैसे रह सकता है? एक कामना की पूर्ति हुई कि दूसरी कामना प्रकट हो जाती है। जगत् में शान्ति का एक ही उपाय है - प्राप्त कर्म को कर्तव्य भाव से करते रहो। उसका फल जो भी मिले इसकी चिन्ता मत करो क्योंकि आप के हाथ में कर्म करना ही है, फल तो ईश्वर के हाथ में है। इसलिये आप की चिन्ता का कोई औचित्य नहीं है। इसके साथ ही एक निश्चय आप यह कर लीजिए कि संसार में ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे हम सभी को प्रसन्न कर पाएं -

विद्यते हि न स कश्चिदुपायः सर्वलोकपरितोषकरो यः।

(शतगाथा-२८)

जिसको आप सन्तुष्ट नहीं कर पाये वह आपकी बुराई कर सकता है, गाली भी दे सकता है। उस समय आपकी शान्ति क्यों भंग हो जाती है? उस समय आपको विचार करना चाहिए कि वह जो बुराई कर रहा है या गाली दे रहा है, उसका सम्बन्ध उससे बन रहा है। हम जो सहन कर रहे हैं उसका सम्बन्ध हमसे बन रहा है। दूसरे से सम्बन्धित कर्म की हम चिन्ता क्यों करें? इस प्रकार का विचार आप करेंगे तो आपकी शान्ति कौन भंग कर सकेगा? एक बात पुनः समझ लेनी चाहिए। यह जो प्रत्येक क्षण संसार से कुछ चाहने की आदत पड़ गई है - अशान्ति में मुख्य हेतु यही है।

जिज्ञासा :- विपरीत परिस्थिति में विश्वास क्यों डगमगा जाता है?

समाधान :- विपरीत परिस्थिति में भी सभी का तो विश्वास नहीं डगमगाता। जो अन्दर से दृढ़ नहीं है, कमजोर है उसी का विश्वास डगमगाता है। जैसे कोई कहे कि मैंने वर्ष भर अध्ययन किया पर वार्षिक परीक्षा में फेल हो गया। इसका तात्पर्य यही है कि उसका अध्ययन ठीक नहीं था। ऐसे ही जिसने कामनापूर्वक, स्वार्थपूर्वक परमात्मा को अपनाया है उसे कोई समस्या आएगी या कार्य में विलम्ब होगा तो वह समझेगा कि अभी तक मैंने जो भजन किया वह व्यर्थ ही गया। ऐसे में उसकी भक्ति शिथिल पड़ जाएगी। वस्तुतः होना इसका उल्टा चाहिए, पर क्या करें यही जीव की कमजोरी है।

****

जिज्ञासा :- आजकल घरों में देखते हैं पति-पत्नी साथ में भोजन करते हैं। क्या यह उचित है?

समाधान :- नहीं! शास्त्र में इसका निषेध किया है- **नाश्नीयाद् भार्यया सार्धम्।(मनु-४.४३)** भले ही यह बात आजकल बहुत लोगों को अच्छी नहीं लगेगी। परन्तु शास्त्र तो कहता है - पति के साथ पत्नी को भोजन नहीं करना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- किसी ने हमारे ऊपर उपकार किया उस समय हमें उसे ईश्वरकृपा समझना चाहिए अथवा उस व्यक्ति की?

समाधान :- ईश्वरकृपा को तो प्रत्येक घटना से जोड़ना चाहिए। ईश्वरकृपा के बिना तो कोई उपकार कर ही नहीं सकता। परन्तु आपका कर्तव्य है कि यदि आप पर किसी ने उपकार किया है तो आप उस उपकार को न भूलें। शास्त्र में अकृतज्ञता को बड़ा पाप कहा है। इसलिये आवश्यकता पड़ने पर यथासम्भव प्रत्युपकार करना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- शास्त्र में कहीं ऐसा देखा है कि गुरु, अग्नि और स्त्री के बहुत नजदीक भी नहीं रहना चाहिए और ज्यादा दूर भी नहीं। ऐसा क्यों?

समाधान :- बहुत नजदीक रहने से कई बार खतरा हो जाता है। तुम गुरुजी के बहुत नजदीक रहोगे तो अधिक परिचय हो जाएगा- **बहुपरिचयाद् अवज्ञा।** अधिक निकटता होने से अवज्ञा हो जाती है। कुछ ऐसा व्यवहार कर दोगे जिससे गुरुजी नाराज हो जाएंगे। इसलिये बहुत नजदीक नहीं रहना चाहिए, थोड़ा डरकर रहे। यदि बहुत दूर रहोगे तो तुम्हारे ऊपर शासन कैसे होगा, तुम मनमानी करोगे, तब तो जीवन ही बिगड़ जाएगा। इसलिये गुरु का संरक्षण होना चाहिए, न अधिक दूर रहे न अति समीप। गुरु के सामने अधिक बोलना भी नहीं चाहिए। यदि तुम्हारे मुख से कुछ गलत निकल गया तो दोष के भागी बन जाओगे।

इसी प्रकार अग्नि के अत्यन्त समीप रहोगे तो थोड़ा भी असावधान होते ही जल जाओगे। यदि बहुत दूर रहोगे तो भोजन कैसे बनाओगे, ठण्डी में आग कैसे तापोगे। इसलिये न बहुत पास रहे न बहुत दूर।

इसी प्रकार स्त्री के विषय में भी समझना चाहिए। अब यहाँ पर प्रश्न है कि यह बात गृहस्थ के लिये है या साधु के लिये। स्त्री के विषय में तो साधु का कोई प्रश्न ही नहीं, यह तो गृहस्थ के लिये समझना चाहिए। परन्तु जब कोई साधु आश्रम आदि के व्यवहार में हो तो उसे भी इसका ध्यान रखना चाहिए। यदि वह बिल्कुल सम्पर्क नहीं रखेगा तो आश्रम चलाना ही मुश्किल हो जाएगा और अधिक पास जाने पर तो खतरा ही है। उसे बहुत सावधान रहना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- आज घरों में अशान्ति का वातावरण क्यों है? गृहस्थ-आश्रम में रहते-रहते जगत् से वैराग्य क्यों नहीं होता?

समाधान :- गृहस्थ आश्रम में आज सारी प्रक्रिया ही बिगड़ गई है।

पहले तो जितने द्विजाति लोग थे उनके घर में विवाह के साथ ही अग्नि की स्थापना हो जाती थी। मकान ऐसे नहीं बनता था जैसे आज बनता है। आज तो लोग मकान में पुत्र-पौत्रों का तो इंतजाम कर लेते हैं, पर जब बन जाता है तब सोचते हैं कि भगवान् को कहाँ रखें? तब कहीं सीढ़ी के नीचे तो कहीं अलमारी में भगवान् को रखते है। ऐसे लोगों की बुद्धि मारी गई है। जब नक़्शा बनाया तब क्यों नहीं सोचा कि सबसे पहला कमरा तो भगवान् का, गुरु का होना चाहिए। नहीं तो गुरुजी आएँगे तब उन्हें कहाँ ठहराएँगे?

सबसे अधिक महत्त्व भगवान् और गुरु का है। उनके लिये सबसे अच्छा कमरा होना जरूरी है। जिस कमरे में कोई व्यर्थ की संसारी बातें न की जाएँ केवल भजन ही किया जाये। गीता पाठ, रामायण पाठ करना हो तो उस कमरे में बैठो। बच्चों को भी ज्ञान होना चाहिए कि बिना स्नान किये इस कमरे में नहीं जा सकते हैं। इस कमरे में केवल कीर्तन, भजन, जप, पाठ यही सब कर सकते हैं। इसी कमरे में भगवान् की पूजा होगी। जब गुरुजी आएँगे तो उन्हें इसमें ठहराएँगे, सत्संग होगा। आध्यात्मिक दृष्टि से जो जीवन के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण कमरा है उसे नक़्शा बनाने वाला क्या जानेगा और हमें ध्यान ही नहीं है। अपने लिये बढ़िया कमरा बनाया और भगवान् को अलमारी में रख दिया तो पहले ही उनका अपमान कर दिया। फिर शान्ति कैसे होगी?

पहले तो गृहस्थ के घर के मध्य में अनिवार्य रूप से एक कुण्ड बनता था जिसमें अग्नि की स्थापना होती थी। उस कुण्ड के दक्षिण भाग में और ईशान कोण में भी एक-एक कुण्ड बनता था। दक्षिण कुण्ड में चरु आदि पकाया जाता था और ईशान कोण के कुण्ड में प्रतिदिन आहुति दी जाती थी। **अग्निर्देवो द्विजातीनाम्।** प्रत्येक घर का मालिक अग्नि होता था। प्रातःकाल और सायंकाल स्नान-सन्ध्या करके उस अग्नि में आहुति देना अनिवार्य था। अब तो यह सब न रहने से घरों में अशान्ति रहती है और जगत् से वैराग्य भी नहीं होता है। पहले तो गृहस्थ धर्म का ठीक से पालन करते-करते,

सन्ध्योपासना, अग्निहोत्र करते-करते व्यक्ति में जगत् को पढ़ने का बल आता था। जगत् को पढ़ने से वैराग्य होता था। वैराग्य होने से शान्ति का वातावरण बनता था। आजकल इन सबका अभाव होने से घरों में अशान्ति का वातावरण दिखाई देता है।

****

जिज्ञासा :- घर में सुख, शान्ति, सम्पन्नता बनी रहे इसका क्या उपाय है?

समाधान :- संसार में किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये तीन उपाय शास्त्रों में बताए हैं। पहला उपाय है, **सत्त्वाभिजय** - अपने मन को हमेशा स्थिर, प्रसन्न और एकाग्र रखना। सदा धैर्य और उत्साह की शक्ति से सम्पन्न हो कर प्राप्त कर्मों को करना। अपने कर्मों को हमेशा शास्त्रसम्मत विधि से ही करना।

दूसरा उपाय है, **देवव्यपाश्रय** - जीवन में परमात्मा का आश्रय लो, उनका भजन करो, देवताओं का पूजन करो, गुरु के प्रति समर्पित रह कर उनकी आज्ञा का पालन करो।

तीसरा उपाय है, **युक्तिव्यपाश्रय** - किसी कार्य में सफलता पाने के लिये जो व्यावाहारिक उपाय लोक में बताए हैं उनको किसी जानकार से समझकर उसके अनुसार अपने कर्म करो।

इसके अलावा और भी कुछ ध्यान देने की बातें हैं। सूर्योदय के समय सोना नहीं चाहिए। सूर्य भगवान् प्रत्यक्ष देवता हैं। उनका अपमान करोगे तो घर में शान्ति कहाँ से आएगी? मार्कण्डेय पुराण में लिखा है जिस घर में इधर-उधर कचरा फैला हो, स्वच्छता न हो, रात के जूठे बर्तन सुबह तक बिना धोये पड़े रहें तो उस घर में दरिद्रता आती है।

घर के सदस्यों को एक दूसरे के लिये त्याग करने का स्वभाव बनाना चाहिए, तभी सुख-शान्ति रहेगी। इसके अतिरिक्त घर में माता-पिता की, वृद्धों

की सेवा करो। समय आने पर पितरों के लिये श्राद्ध करो। ऋषियों के वचनों का पालन करो और उनके ग्रन्थों का स्वाध्याय करो। ये सब लोग प्रसन्न रहेंगे तो घर में सुख, शान्ति, सम्पन्नता आ जाएगी।

****

जिज्ञासा :- दाम्पत्य जीवन में यदि कटुता उत्पन्न हो जाये तो उसे दूर करने के लिये क्या उपाय करना चाहिए?

समाधान :- हमारे यहाँ दाम्पत्य जीवन का निर्धारण शास्त्र के अनुसार होता है, मनमाने ढ़ंग से नहीं। जब विवाह के मन्त्रों का विचार करते हैं तो लगता है कि इसमें एक-दूसरे को अपने मन का समर्पण करना आवश्यक है। दाम्पत्य जीवन त्याग से शुरु होता है और इसमें कर्तव्य की प्रधानता रहती है। वे दोनों एक-दूसरे की हर समस्या को भले ही दूर न कर पाएं पर उसे समझते हैं। साथ ही एक-दूसरे को भी यह बात समझा देते हैं कि हम तुम्हारी समस्या को समझ रहे हैं और यह भी बता देते हैं कि समझने के बाद भी हर समस्या को दूर करने में हम समर्थ नहीं हैं।

जगत् में केवल आन्तर भावना से काम नहीं चलता क्योंकि यहाँ प्रत्येक व्यक्ति अल्पज्ञ है वह तुम्हारे मन की बात को नहीं जान सकता। यहाँ दूसरे के प्रति मन को ठीक रखने के साथ-साथ इस बात को उसके सामने प्रदर्शित भी करना पड़ता है। ईश्वर और गुरु से प्रदर्शन की कोई जरूरत नहीं है क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं। परन्तु अल्पज्ञ के साथ व्यवहार करने में प्रदर्शन की भी आवश्यकता होती है। मानस में कहा -

बिनय प्रेम बस भई भवानी(बाल.-२३५.३)

प्रेम ही कह देते, साथ में विनय को क्यों कहा? व्यवहार बनाने के लिये प्रेम के साथ विनय भी होना चाहिए। तुम्हारा प्रेम विनय में ही दिखाई देगा। व्यक्ति जीवन को जितना कर्तव्यप्रधान बनाता है उतनी ही शास्त्र की प्रधानता रहती है। शास्त्र के द्वारा कहे कर्तव्य का वह निर्वाह करता है। जहाँ

शास्त्र-आधारित दाम्पत्य है उसी के बारे में मैं बता सकता हूँ। प्रेमविवाह या कोर्टमैरेज में न तो शास्त्र का आधार है, न माता-पिता के आशीर्वाद का और न ही समाज के आशीर्वाद का। वहाँ तो केवल कामना का आधार है। इसलिये उसमें तो कोई नियम नहीं बनाया जा सकता।

शास्त्रीय विवाह में तो धर्म का आधार है, ईश्वर का आधार है, गुरु के आशीर्वाद, माता-पिता के आशीर्वाद, समाज के आशीर्वाद इन सबका आधार है। अग्नि आदि देवताओं का आधार है। इतने लोगों के आशीर्वाद से पाणिग्रहण होता है इसलिये इसमें गम्भीरता रहती है। दाम्पत्य को ठीक चलाने के लिये मेरी दृष्टि से तीन सूत्र इसमें अनुस्यूत रहने चाहिए।

१) दोनों पर शास्त्र का नियन्त्रण है इसलिये दोनों का जीवन शास्त्र के अनुसार ही चलना चाहिए।

२) दोनों को एक-दूसरे के लिये त्याग करना पड़ता है। त्याग के बिना कहीं भी प्रेम उत्पन्न नहीं होता। खाने से तृप्ति होती है यह सोच गलत है, वास्तव में खिलाने से तृप्ति होती है। यही सिद्धान्त दाम्पत्य जीवन में है। दूसरे को सुख देने में लग जाओ, यही सुख का हेतु है। इसी पर गृहस्थ आश्रम अवलम्बित रहता है।

३) आपस में भ्रम नहीं होना चाहिए। कभी भी कोई बात हो जाए तो एक दूसरे से कहना चाहिए। किसी तीसरे से क्यों कहते हो? चाहे झगड़े की बात हो या कुछ भी, जिससे प्रेम है उससे कहो तो बात निपट जाएगी। तुम किसी तीसरे से कहोगे, वह किसी अन्य से कहेगा और वह फिर किसी अन्य से कहेगा। ऐसे में बात का बतंगड़ बन जाएगा। तुम अपने लिये व्यर्थ का संकट खड़ा कर लोगे। इसलिये सीधे बात करना चाहिए। दाम्पत्य जीवन तो विश्वास पर आधारित है। इसलिये अपना व्यवहार ऐसा रखें जिससे दूसरे का विश्वास न टूटे। तुम भी कहो कि हम तुम्हारी परिस्थिति को समझ रहे हैं, वह भी ऐसा ही कहे और दोनों एक-दूसरे की कमजोरी को समझें।

यदि ये सूत्र अनुस्यूत रहें तो दाम्पत्य जीवन का कार्य ठीक से चल सकता है, इसमें कोई संशय नहीं है। कभी-कभी ग्रह-नक्षत्र भी ऐसे आ जाते हैं कि सब विपरीत हो जाता है। जब रामजी के जीवन में भी आ गये तो आपके जीवन में आ जायें इसमें कौन सी बड़ी बात है। कभी शनि की साढ़े-साती आ जाती है। ऐसी स्थिति में ग्रह-शान्ति आदि के जो शास्त्रीय उपाय हैं उनका अनुष्ठान करना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- आजकल परिवार में बड़े लोग स्वयं कुछ न करके छोटों से ही सब कार्य करवाना पसन्द करते हैं। ऐसे में छोटों का क्या कर्तव्य है ?

समाधान :- ऐसा प्रायः घरों में होता ही है, आप जितना करते हैं उससे ज्यादा की अपेक्षा बड़े लोग रखते हैं, यह कोई नई बात नहीं है। यह तो मानव का स्वभाव है। पर आप जितना कर सकते हैं, उतना करें। अधिक की कोई विधि नहीं है। जितना कर सकते हो, बड़ों की सेवा करनी चाहिए।

****

जिज्ञासा :- संयुक्त परिवार में रहने वाले सदस्य क्या करें जिससे परिवार के सभी लोग सुखी रहें ?

समाधान :- संयुक्त परिवार में रहना एक कला है। यदि वह आपके जीवन में आ जाए तो आप सुखी रह सकते हैं। संयुक्त परिवार में दूसरों के मन की बात को महत्व देना बहुत आवश्यक है। यदि अपने मन की बात सभी चलाने लगे तो परिवार बिखर जाएगा। संयुक्त परिवार में एक-दूसरे के लिये त्याग तो अत्यन्त आवश्यक है। यदि आप दूसरे की बात को महत्त्व देंगे तो वह आपकी बात को महत्त्व देगा। यदि आप दूसरे के लिये त्याग करोगे तो वह भी आपके लिये त्याग करेगा। अपना स्वार्थ देखना तो आसुरी वृत्ति है। ऐसे में संयुक्त परिवार में रहना कठिन है।

एक राजा था। एक बार उसने देवताओं और असुरों को भोजन के लिये

निमन्त्रण दिया। दोनों साथ में आ नहीं सकते थे और पहले किसको बुलाए, यह भी कठिन था। किसी प्रकार से देवता लोग मान गये कि असुरों को पहले बुला लीजिए। असुरों को भोजन के लिए बुलाया, सभी को पंक्ति में बिठा दिया। राजा बहुत बुद्धिमान था, उसने परीक्षा लेने के लिये एक युक्ति अपनाई और कहा, "महाराज! हमारे यहाँ एक परम्परा है कि मेहमानों को भोजन करवाते समय उनके हाथ के साथ एक सीधी लकड़ी बाँध दी जाती है।"

असुर लोग सहमत हो गये और उनके हाथों में सीधी लकड़ियाँ बाँध दी गई। जब वे भोजन करने लगे तो सभी के हाथ सीधे-के-सीधे रहे, अब भोजन कैसे करें! तब उन्होंने एक युक्ति अपनाई, वे हाथ में भोजन लेकर ऊपर की ओर फेंकने लगे। इससे कुछ भोजन मुख में गिरता और कुछ इधर-उधर बिखर जाता। इस प्रकार कुछ देर भोजन किया तो राजा ने कहा, "क्षमा कीजिए महाराज! आपके लिये निर्धारित समय पूर्ण हो गया है, अब देवताओं की बारी है।" इस प्रकार असुर लोग भूखे ही रह गये और दुःखी हुए।

अब देवता लोग पंक्ति में बैठे। राजा ने उसी प्रकार कहा, "महाराज! हमारे यहाँ परम्परा है कि भोजन करते समय मेहमानों के हाथ के साथ सीधी लकड़ी बाँध देते हैं।" देवताओं ने हामी भरी और उनके हाथों के साथ सीधी लकड़ियाँ बाँध दी गईं। जब देवता भोजन करने लगे तो हाथ सीधे ही रहे। तब उन्होंने एक युक्ति अपनाई और परस्पर अपने-अपने सामनेवालों को अपनी-अपनी पत्तल का भोजन करवाने लगे। इस प्रकार प्रेम से सभी ने पेटभर भोजन किया और प्रसन्न हुए। देखिए! देवताओं ने त्याग किया, अपना भोजन दूसरे को खिलाया तो उसने भी खिलाया। इससे सुखी हुए और असुरों ने स्वार्थ दिखाया तो दुःखी हुए।

इसी प्रकार संयुक्त परिवार में रहनेवाले सदस्यों को भी एक-दूसरे के लिये त्याग करना चाहिए। यदि वे एक-दूसरे के लिये त्याग करेंगे तो देवताओं के समान सुखी होंगे और स्वार्थी होंगे तो असुरों के समान दुःखी हो जाएँगे

जिससे परिवार बिखरने की नौबत आ जाएगी।

****

जिज्ञासा :- मनुष्य का लक्ष्य शरीर-निर्वाह के लिए भोजन जुटाना भी होता है, बीमार हुआ तो दवाई इत्यादि करवाना भी लक्ष्य होता है। समाज में मान-सम्मान पाना भी एक लक्ष्य है। इस प्रकार उसे एक साथ बहुत-से लक्ष्यों को लेकर चलना पड़ता है, फिर संसार में रहते हुए मनुष्य का एक लक्ष्य कैसे हो सकता है?

समाधान :- एक लक्ष्य का तात्पर्य यह नहीं है कि कोई अन्य लक्ष्य हो ही नहीं। यहाँ पर एक लक्ष्य का तात्पर्य एक को प्रधान बनाकर अन्यों को गौण रखने में है। गौण लक्ष्य भी ऐसे हों जो प्रधान लक्ष्य में सहायक बन सके। इसलिए संसार में रहकर एक परमात्मा को ही प्रधान लक्ष्य बनाकर अन्य शरीर-निर्वाह इत्यादि सहायक कार्य होते रहें, तो कोई विरोध नहीं होगा।

****

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः।।
(भारवेः)

बिना विचार किये कोई कार्य आरम्भ नहीं करना चाहिये क्योंकि अविवेक से बड़ी विपत्तियाँ सामने आ जाती हैं। सोच-विचार कर कार्य करने वाले पुरुष के गुणों से मोहित होकर सम्पत्तियाँ स्वयं ही उसका वरण कर लेती हैं।

विविध

जिज्ञासा :- हमारा विद्याध्ययन सुदृढ़ कैसे हो?

समाधान :- जब हम लोग संस्कृत का अध्ययन करते थे तब आचार्य लोग कहा करते थे कि विद्या ऐसे ही नहीं आ जाती। विद्या के ४ पाद होते हैं उन्हें पूरा करने पर ही पढ़ी हुई विद्या पक्की होती है, केवल सर्टिफिकेट से विद्या नहीं आती। विद्या का प्रथम पाद है श्रद्धापूर्वक एकाग्र होकर गुरु से श्रवण करना। ऐसा करने पर विद्या का एक चरण(एक चौथाई) आपको प्राप्त होगा।

दूसरे चरण की प्राप्ति का साधन है विद्यार्थियों के साथ परस्पर विचार। जब हम उत्तरकाशी में पढ़ते थे तब त्रयोदशी से प्रतिपदा तक चार दिन का अनध्याय रहता था, पाठ बन्द रहता था। प्रतिपदा छोड़कर बाकी तीन दिन हम सब विद्यार्थी बैठकर पढ़े हुए पाठ का विचार करते थे, उसे पक्का करते थे। जिसने जिस विषय को ठीक से समझ लिया होता वह अन्य को भी समझा देता था। परस्पर विचार करने पर कई शंकाएँ भी उठती थीं, जिनका समाधान बाद में आचार्य से पूछने पर हो जाता था। इससे विद्या का दूसरा पाद प्राप्त होता है।

जब किसी को पढ़ा देते हैं तो विद्या का तीसरा पाद प्राप्त हो जाता है। अब भी विद्या पूर्ण नहीं हुई। लम्बे समय तक पठन-पाठन कराते-कराते समय पर विद्या का चतुर्थ पाद प्रकट होता है। तब जाकर विद्या पूर्ण होती है।

****

जिज्ञासा :- विद्यार्थी अध्ययन कैसे करे जिससे विषय अधिक

समय तक स्मरण रहे ?

समाधान :- विद्यार्थी को सर्वप्रथम तो अध्ययन का समय निर्धारित करना चाहिए। आजकल विद्यार्थी रात्रि के समय पढ़ाई करते हैं। पढ़कर सो जाने से विषय जल्दी विस्मृत हो जाता है। पुराने समय में विद्यार्थी रात्रि को जल्दी सोते थे और प्रातः तीन बजे उठकर अपना नित्यकर्म करके अध्ययन करते थे। इससे विषय का संस्कार दीर्घकाल तक रहता था।

दूसरी बात जब रात्रि को देरी से सोते हैं तो सुबह देरी से उठते हैं, जिससे एक हानि और होती है। भगवान् सूर्यनारायण प्रत्यक्ष देवता हैं, सम्पूर्ण जगत् की आत्मा हैं। जब वे उदित होते हैं उस समय आप सोते हैं तो उनका अपमान होता है। जैसे आपके घर में आपके गुरुज़ी आयें और आप सोये रहें तो आपको प्रत्यवाय(पाप) लगेगा। ऐसे ही सूर्योदय के समय सोने से प्रत्यवाय लगता है जिससे विद्यार्थी देवता की कृपा से वंचित रह जाता है। परिणाम यह होता है कि पढ़ा हुआ विषय आपके जीवन में सफलता नहीं दे पाता। इसलिये सर्वप्रथम तो विद्यार्थी को रात्रि के नौ बजे सो कर प्रातः तीन बजे उठने का अभ्यास करना चाहिए। इसके लिये उसे खान-पान में भी संयम रखना पड़ेगा। अधिक खा लेगा तो सुबह उठ नहीं पाएगा।

रोजाना कितना पढ़े यह अपनी सामर्थ्य देखकर निर्धारित करना चाहिए। किसी को कोई विषय एक घण्टे में याद होता है तो दूसरा चार घण्टे में याद कर पाता है। इसलिये कितना पढ़ना है यह आपको निश्चय करना चाहिए। हाँ! विषय इतना स्पष्ट होना चाहिए जिससे हम दूसरे को भी पढ़ा सकें।

****

जिज्ञासा :- विद्या प्राप्ति के लिये विद्यार्थी जीवन में क्या सावधानियाँ अपेक्षित हैं ?

समाधान :- इस विषय में शास्त्र कहता है - **अशुश्रूषा त्वरा**

श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः।(महाभारत उद्योगपर्व-४०.४)

विद्यार्थी को विद्या प्राप्ति काल में तीन शत्रुओं से बहुत सावधान रहना चाहिए। पहला शत्रु है अशुश्रूषा। शुश्रूषा शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक है- **श्रोतुम् इच्छा** अर्थात् सुनने की इच्छा और दूसरा अर्थ है - **सेवा**। गुरु जो कह रहा है उसे पूर्ण एकाग्रता से सुनने की जिसमें इच्छा नहीं है वह विद्या को ग्रहण नहीं कर पाएगा। दूसरी बात, विद्या गुरु की कृपा से प्राप्त होती है और कृपा मिलती है सेवा करने से। सबसे बड़ी सेवा है आज्ञापालन - **अग्या सम न सुसाहिब सेवा।(मानस अयोध्या.-३००.२)**ऋषि परम्परा में कई दृष्टान्त हैं कि सेवा से ही सारी विद्या प्राप्त हो गई।

आरुणि नामक विद्यार्थी गुरुकुल में पढ़ता था। एक बार शाम को भारी वर्षा हो गई जिससे धान के खेतों में पानी भर गया। गुरुजी ने आरुणि से कहा, ''बेटा! जाकर देखो किसी खेत की मेढ़ से पानी न बह पाये।'' उसने जाकर देखा कि एक खेत से पानी बह रहा है। बहुत मिट्टी लगाई परन्तु धारा तेज थी, पानी बहता रहा। बालक को चिन्ता हो गई कि मैं गुरु-आज्ञा का पालन नहीं कर पा रहा हूँ। उसने कुछ विचार किया और जहाँ से पानी बह रहा था वहाँ लेट गया, अगल-बगल से मिट्टी खींच कर लगा दी तो पानी बन्द हो गया। अब उठेगा तो पानी बह जाएगा इसलिये रात भर वहीं लेटा रहा। सुबह गुरुजी ने देखा कि आरुणि नहीं दिख रहा है, तो उसको खोजने खेत में गये। आवाज दी, ''आरुणि-आरुणि।'' वह वहीं से बोला, ''गुरुजी! मैं यहाँ हूँ। यदि मैं इसे छोड़कर आऊँगा तो पानी बह जाएगा।'' उसे देखकर गुरुजी का मन भर आया, उठाकर हृदय से लगा लिया। उसी समय सारी विद्या उसे प्राप्त हो गई।

इसलिये गुरुआज्ञापालन बहुत बड़ी चीज है। गुरु को प्रसन्न कर ले तो विद्या का जो मर्म गुरु के अन्दर है वह शिष्य को प्राप्त हो जाता है।

इसलिये सेवा न करने का जो स्वभाव है वह विद्याप्राप्ति में बाधक है। दूसरा बाधक है - **त्वरा** अर्थात् जल्दीबाजी, इसके रहते विद्या नहीं आती। ठीक से अध्ययन करने के लिये धैर्य की आवश्यकता होती है। हमें एक महीने में यह ग्रन्थ पढ़ लेना है, फिर प्रवचन करने जाना है, ऐसे में विद्या नहीं आती।

तीसरा बाधक है- **श्लाघा,** प्रशंसा का रस, प्रशंसा की इच्छा। प्रशंसा व्यक्ति के सामर्थ्य को कुण्ठित कर देती है। व्यक्ति प्रशंसा में फूल जाता है तो विद्याग्रहण में पूरी शक्ति नहीं लगा पाता। आगे कहा है-

आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठीरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः।।
(महाभारत उद्योगपर्व-४०.५)

सात दोषों से विद्यार्थियों को सदा बचना चाहिए। **आलस्य** विद्याप्राप्ति में बहुत बड़ा बाधक है। इसलिये आलस्य विद्यार्थी को छूना भी नहीं चाहिए। **मद** का अर्थ है घमण्ड। घमण्डी कभी पढ़ नहीं सकता। विद्यार्थी का कहीं भी **मोह** नहीं होना चाहिए। मोह में सारी चित्तवृत्ति उसी विषय में लगी रहती है। जिसके प्रति मोह है उसके वियोग में रोता रहेगा तो पढ़ेगा क्या! पढ़ने के लिये कभी घर भी छोड़ना पड़ता है। जो घर का, माता-पिता का मोह करेगा वह पढ़ाई नहीं कर पाएगा।

विद्यार्थी का शरीर और इन्द्रियाँ स्थिर होने चाहिए, उसमें **चपलता** नहीं रहनी चाहिए। जो चपल होता है वह दीर्घग्राही नहीं हो पाता, किसी विषय को लम्बे काल के लिये ग्रहण नहीं कर सकता। एक और बड़ा दोष है **गोष्ठी**, बैठ कर आपस में दुनिया भर की फालतू गप्पें हाँकना। इसमें बहुत समय व्यर्थ होता है। विद्यार्थियों को बैठ कर आपस में अपने विषय की चर्चा करनी चाहिए। यदि साधक है तो परमेश्वर की चर्चा करे। बुद्धि का

जागरुक न रहना, कुण्ठित हो जाना **स्तब्धता** कहलाती है। बुद्धि जागरुक रहे तो व्यक्ति विषय को ग्रहण कर सकता है, कुण्ठित बुद्धि वाला कुछ भी गृहीत नहीं कर सकता। बुद्धि में जड़ता नहीं आनी चाहिए, स्फूर्ति बनी रहनी चाहिए।

छठा दोष है- **अभिमानित्व।** अभिमानी व्यक्ति किसी के सामने झुक ही नहीं सकता तो विद्याग्रहण कैसे करेगा। एक और दोष है- **अत्यागित्व,** त्याग न करने का स्वभाव। विद्यार्थी को तो अपने लक्ष्य के लिये सबकुछ त्याग करने के लिये तैयार रहना चाहिए। जो भी विद्याप्राप्ति में बाधक हो उसे त्यागने का बल होना चाहिए। इसी प्रकार साधक को भगवत्प्राप्ति के लिये सारे जगत् का त्याग करने के लिये तैयार रहना चाहिए। इन सभी दोषों से जो बच सकता है वही विद्या ग्रहण करने में समर्थ होगा।

****

जिज्ञासा :- गुरुकुल के अध्ययन और आज के कॉलेज के अध्ययन में मौलिक अन्तर क्या है?

समाधान :- गुरुकुल का अध्ययन व्यक्ति को योग्यता देता था, चरित्र तथा स्वाभिमान देता था। उसका जीवन ही सर्टिफिकेट होता था, कोई कागज नहीं। महर्षि कणाद खेतों में गिरे हुए अन्न के कणों का भोजन करके अपना जीवन निर्वाह करते थे। जब राजा उनके पास बहुत सा सामान लेकर गया तो उन्होंने उसे लेने से इन्कार कर दिया। देखिए, जीवन में क्या स्वाभिमान है।

आज की शिक्षा कागजी सर्टिफिकेट अवश्य देती है पर स्वाभिमान नहीं देती। जब व्यक्ति के जीवन में स्वाभिमान नहीं होगा तो उसे चाहे पैसे से खरीद लो या भय से झुका लो! जैसे किसी पशु को चारा देकर बुला लेते हैं

या डण्डा दिखाकर नियन्त्रण में कर लेते हैं।

गुरुकुल में गुरु और शिष्य के मध्य धन का कोई सम्बन्ध नहीं था। पढ़ाने वाले लोगों की व्यवस्था राजा करता था या जनता करती थी। इसलिये उनका विद्यार्थी से कोई स्वार्थ नहीं होता था। वे अपना सम्पूर्ण बल उसके चरित्र-निर्माण में लगाते थे। विद्यार्थी भी विद्या पूर्ण होने पर समावर्तन-संस्कार के समय विद्या का ऋण चुकाने के लिये जो वस्तु गुरुजी को अत्यन्त प्रिय होती थी वह श्रद्धा से उन्हें समर्पित करता था। इस प्रकार गुरु और शिष्य के मध्य एक पवित्र सम्बन्ध बनता था जो जीवन भर रहता था। आजकल विद्यार्थी और अध्यापक के बीच में धन का सम्बन्ध अधिक दिखाई देता है, जिससे न पढ़ने वाले में श्रद्धा है न पढ़ाने वाले में दृढ़ संकल्प। इसलिये पढ़ने वाला भी सर्टिफिकेट ही चाहता है।

वस्तुतः किसी विषय को पढ़ने का प्रयोजन यही होना चाहिए कि आप उसे दूसरे को भी पढ़ा सकें। पहले ऐसा ही होता था।

****

जिज्ञासा :- आप प्रायः कहते रहते हैं ''जीवन से जीवन का प्रचार होता है।'' यह कैसे होता है?

समाधान :- सरल सी बात है कि जीवन से जीवन का प्रचार होता है और वाणी से वाणी का। यदि आपने जीवन में सत्य को धारण नहीं किया और सत्य के विषय में केवल भाषण पर भाषण ही देते रहे तो सुनने वाला भी भाषण देना सीख लेगा। वह अपने जीवन में सत्य का आचरण नहीं कर पाएगा। आप किसी को बोलने की कला दे सकते हैं पर जीवन नहीं दे सकते। इसके लिये आपको अपना जीवन वैसा बनाना पड़ेगा। आज समाज में सबसे बड़ी समस्या यही है कि व्यक्ति अपने आचरण पर ध्यान ही नहीं देता। इसका परिणाम आप देख ही रहे हैं।

एक बार गीताभवन, इन्दौर में गीता जयन्ती के पर्व पर महात्माओं

को प्रवचन के लिये बुलाया गया। प्रत्येक वक्ता को पाँच-पाँच मिनट का समय दिया गया। एक वक्ता ने बहुत हठ किया कि हमें दस मिनट चाहिए। प्रबन्धक ने कहा - ''ठीक है, परन्तु आप क्रोध के विषय में बोलेंगे।'' वक्ता ने बोलना शुरु किया - ''आजकल लोगों को क्रोध बहुत आता है। क्रोध नहीं करना चाहिए।'' क्रोध के बहुत से दोष गिनाये। विद्वान् तो थे ही, विषयनिरूपण में किसी प्रकार की कमी नहीं थी। छः मिनट के पश्चात् प्रबन्धक ने किसी को संकेत किया तो वक्ता के सामने से माईक हटा दिया गया। यह देखकर उनको स्टेज पर ही इतना क्रोध आया जिसका वर्णन करना कठिन है। पता नहीं प्रबन्धक को क्या-क्या बोल दिया। उनका क्रोध देखकर जनता हँसने लगी। प्रबन्धक ने कहा - ''क्षमा कीजिए महाराज! आप क्रोध पर बोल रहे थे।''

बस यही बात है, वाणी से निरूपण करना अलग बात है और उसे व्यवहार में लाना अलग। शब्द को रटने मात्र से काम नहीं चलता। जैसे किसी ने तोते को रटा दिया, बिल्ली आये तो उड़ जाना। वह रटता रहा - ''बिल्ली आये तो उड़ जाना, बिल्ली आये तो उड़ जाना........।'' इतने में बिल्ली आई पर वह बैठा-बैठा रटता रहा, बिल्ली उसे चट कर गई।

अर्थ को धारण न किया हुआ ऐसा शब्द किस काम का? वह न तो स्वयं अपना जीवन बना सकता है और न किसी अन्य का।

****

जिज्ञासा :- संवेदनशीलता और स्वसंवेद्य में क्या अन्तर है?

समाधान :- जो व्यक्ति दूसरों के दुःख समझता है उस व्यक्ति को संवेदनशील कहा जाता है। आजकल व्यावहारिक भाषा में संवेदनशीलता का अर्थ है दूसरों के दुःख को अनुभव करके उसे दूर करने का प्रयास करना।

आपके अन्दर बहुत से गुण ऐसे हैं जो दूसरों के द्वारा भी जाने जा सकते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें आप ही जान सकते हैं दूसरा नहीं जान सकता। ऐसे गुणों को स्वसंवेद्य कहते हैं।

****

जिज्ञासा :- किसी-किसी बालक को पूर्व जन्म की घटनाएं याद रहती हैं। यह किस बात का लक्षण है?

समाधान :- शास्त्र में आता है कि किसी साधक के जीवन में अपरिग्रह की प्रतिष्ठा हो जाए तो वह किसी के भी पूर्व जन्म की घटना को जान सकता है। यह बात विशेष है। यदि किसी बालक को केवल अपने पूर्व जन्म की घटनाओं का स्मरण है तो यह किसी विशेष लक्षण का संकेत नहीं करता। हमने ऐसे बहुत से बालक देखे हैं जिनको बचपन में स्मरण रहता है और बाद में भूल जाते हैं।

****

जिज्ञासा :- मनुष्य जीवन में पूर्ण स्वतन्त्र होने का क्या उपाय है?

समाधान :- यहाँ पर स्वतन्त्रता से आपका क्या तात्पर्य है? लोक में जिस स्वतन्त्रता की प्रसिद्धि है वह तो किसी मनुष्य के लिये सम्भव नहीं है। शरीर की दृष्टि से तो न कोई व्यक्ति स्वतन्त्र है न ही कोई राष्ट्र और न ही प्रकृति। सभी किसी न किसी नियम सेबँधे हुए हैं। हाँ! स्वरूप की दृष्टि से सभी स्वतन्त्र हैं। इसलिये अगर आपको पूर्ण स्वतन्त्रता चाहिए तो स्वरूपप्राप्ति का उपाय करना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- इष्ट किसे कहते हैं? उसकी प्राप्ति के लिये क्या करना चाहिए?

समाधान :- जो अत्यन्त चाह का विषय हो उसे इष्ट कहते हैं।

जिसको जीवन में सब कुछ मान लिया, उसे इष्ट कहते हैं। इसलिये किसी का इष्ट धन है, किसी का पद-प्रतिष्ठा है, किसी का स्त्री है, किसी विरले का ही इष्ट परमेश्वर है। जैसा-जैसा इष्ट है उसकी प्राप्ति का साधन भी वैसा-वैसा है। यहाँ पर एक बात अवश्य ध्यान रखें - सच्चा इष्ट परमेश्वर ही हो सकता है। इसलिये उसे प्राप्त करने का ही उपाय करना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- आजकल प्रशासनतन्त्र एवं जनप्रतिनिधियों में निष्काम कर्मयोग का अभाव दिखाई दे रहा है। इसमें क्या हेतु है?

समाधान :- आजकल प्रशासनतन्त्र में एवं जनप्रतिनिधि के रूप में निष्काम कर्मयोगी का पहुँचना ही कठिन है इसलिये वहाँ निष्काम कर्मयोगियों का अभाव दिखाई दे रहा है। इसमें मुख्य हेतु कालचक्र को ही समझना चाहिए। यह कालचक्र घूमता रहता है। सृष्टि त्रिगुणात्मिका है। सृष्टि में किसी एक गुण का भोग होता है और अन्य की तपस्या होती है। जिस समय जिसकी प्रधानता होती है उस समय उसका भोग होता है और अन्य दबे रहते हैं। इसलिये उनकी तपस्या होती है।

पहले जमींदार लोगों का भोग होता था और छोटे लोगों की तपस्या। आज उसका उल्टा देख रहे हैं। उनको जो पहले दबाया गया यह उसी का परिणाम है। उनकी तपस्या हो गई और वे ऊपर आ गये। आज उनसे डरना पड़ रहा है। यह परिवर्तन ऐसे ही नहीं हुआ। इसके पीछे यही रहस्य है। इसी प्रकार वर्तमान में सत्त्वगुण की तपस्या चल रही है और रजोगुण तथा तमोगुण का भोग चल रहा है। इसलिये वर्तमान में सत्त्व का फल दिखाई नहीं दे रहा है। आजकल सात्त्विक लोगों को सहन करना ही पड़ता है। लोग भी रजोगुण और तमोगुण का ही आधार लेना अधिक उचित समझते हैं। किसी राजनैतिक दल ने किसी गुण्डे को प्रतिनिधि बनाया है तो दूसरे दल वाले भी गुण्डे को ही प्रतिनिधि बनाएंगे। उनसे पूछो कि गुण्डा

जीतकर क्या करेगा तो कहेंगे इसके अतिरिक्त कोई समाधान नहीं है। सज्जन व्यक्ति उसका मुकाबला नहीं कर सकता।

ऐसे में निष्काम कर्मयोगी मिलने कठिन हैं पर एक बात निश्चय करके रखनी चाहिए कि वर्तमान में आप जो सत्त्व का बीज बो रहे हैं वह निष्फल नहीं जाएगा। एक समय अवश्य आएगा कि जब सत्त्व की तपस्या बढ़ जाएगी और रजोगुण-तमोगुण भोग से थक कर कमजोर हो जाएंगे। तब सृष्टि में कोई ऐसी हलचल होगी जिससे लोगों की सोच ही बदल जाएगी। यह विचार उत्पन्न होने लगेगा कि भौतिकवाद तो विनाश की ओर ले जाने वाला है। तब लोगों का मन अध्यात्म की ओर झुकेगा। उस समय सत्त्व प्रबल हो जाएगा, उसकी जय होने लगेगी। तब समाज में चाहे वह प्रशासनतन्त्र में हो या जनप्रतिनिधि के रूप में, कर्मयोगी दिखाई देने लगेंगे।

****

जिज्ञासा :- क्या वृक्षों में भी जीव कला होती है?

समाधान :- वृक्षों में भी जीव कला होती है। उनमें भी परस्पर स्पर्धा होती है, संवेदना होती है। उनको कोई काटने के लिये जाता है तो उनको भय लगता है। परन्तु जैसे सुषुप्ति में किसी को मच्छर काटे तो उसका अनुभव जाग्रत की अपेक्षा कम होता है। इसी प्रकार वृक्षों में संवेदना मनुष्यों की अपेक्षा कम होती है और वह अधिक समय तक नहीं रहती। इसपर बड़ा रिसर्च हो रहा है कि वृक्षों को जब कोई व्यक्ति पानी देता है या रोजाना देखभाल के लिये जाता है तो यह देखकर उनको प्रसन्नता होती है जिससे उनका पोषण होता है।

****

जिज्ञासा :- स्वभाव शब्द का अर्थ क्या है?

समाधान :- शास्त्र में स्वभाव शब्द का प्रयोग बहुत अर्थों में किया

गया है। उनमें से कोई एक अर्थ प्रकरणवश लेना पड़ता है। लोक में प्रसिद्ध है, आदत को स्वभाव कहते हैं। प्रकृति को भी स्वभाव कहते हैं - **स्वभावस्तु प्रवर्तते..... (गीता - ५.१४)**

इस श्लोक में स्वभाव शब्द का अर्थ अज्ञानात्मिका प्रकृति है। व्याकरण की दृष्टि से देखा जाए तो **स्वस्य भावः स्वभावः**, यहाँ स्वभाव का अर्थ स्वरूप होता है। इसलिये कहीं पर उसका प्रयोग परमात्मा के स्वरूप के लिये किया जाता है। प्रकरणवश अन्य भी अर्थ हो सकते हैं।

****

जिज्ञासा :- व्यक्ति की इच्छाएं, संकल्प, विचार इत्यादि क्या उसकी मौलिकता है?

समाधान :- मौलिकता का अर्थ होता है जो वस्तु पहले नहीं थी और अब आपने उसे बनाया है। इच्छाएं, संकल्प आदि में आपकी मौलिकता है ऐसा नहीं कह सकते। वे दुनियाभर की आपने बाहर से ले रखी है।

****

जिज्ञासा :- तर्जनी अंगुली को दिखाना बुरा क्यों मानते हैं?

समाधान :- यह तो एक परम्परा बन गई है कि एक को देख-सुन कर दूसरा बुरा मानता है। वस्तुतः इसमें रहस्य भी है। हमारे शरीर में विद्युतशक्ति का संचार हमेशा होता रहता है। दाहिने हाथ की तर्जनी को दिखाकर इशारा करने से, उससे दन्त मंजन करने से या जप करते समय माला को उससे स्पर्श करने से वह संचार उस अंगुली के माध्यम से क्षीण होता है। इसलिये दाहिने हाथ की तर्जनी अंगुली दिखाने वाले को हानि होती है।

****

जिज्ञासा :- कभी-कभी कुछ विशेष घटनाएं दिख जाती हैं जो बहुत समय तक मन में घर करके रहती हैं। उनको कैसे निकाला जाए?

समाधान :- उनको विशेष मानना ही गलती हो जाती है। संसार की किसी घटना को आश्चर्य के रूप में नहीं देखना चाहिए। आश्चर्य के रूप में देखने का मतलब उसके संस्कार को अन्दर प्रवेश करने के लिये दरवाजा खोल देना। इसलिये जीवन में एक सूत्र बना कर रखना चाहिए जो हमेशा स्मरण में रहे - **संसार में ऐसा होता ही रहता है। यह कोई नई बात नहीं है।** इस प्रकार देखने से वह घटना अन्दर घर नहीं कर पाएगी। जब उस घटना के संस्कार टिकेंगे ही नहीं तो बाहर निकालने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

****

जिज्ञासा :- कल्पभेद क्यों होता है? प्रत्येक कल्प में सृष्टि एक जैसी क्यों नहीं होती?

समाधान :- सृष्टि का नियम है, पहले दिन होता है फिर रात आ जाती है। उसमें लोग सो जाते हैं। जब उठोगे तो दिन बदल जाएगा या नहीं? तुम जब सोकर उठते हो तो दूसरे दिन सारा व्यवहार पिछले दिन जैसा नहीं करते। कुछ व्यवहार पूर्व के समान होता है तो कुछ अलग भी होता है। इसी प्रकार जब ब्रह्मा की रात्रि आएगी तो प्रलय हो जाएगा, सारी सृष्टि सो जाएगी। जब ब्रह्मा जागेंगे तो दूसरा कल्प प्रारम्भ होगा। जब ब्रह्मा की आयु समाप्त होगी तो महाप्रलय होगा। नये ब्रह्मा के आने पर नया महाकल्प प्रारम्भ होगा।

सत्संग में रोज बैठते हैं तो मालूम पड़ता है कि समान लोग बैठे हैं। परन्तु बहुत से समान होने पर भी कुछ व्यक्ति बदल जाते हैं। इसी प्रकार नये कल्प में बहुत कुछ पिछले कल्प की समानता होने पर भी कई बातों में भिन्नता आ जाती है। इसका कारण यही है कि जीवों के कर्म और संस्कार

बदलते रहते हैं जिससे भोग में भी भेद आ जाता है।

जिज्ञासा :- किसी सन्त ने बताया कि एक सूर्यग्रहण में कलियुग की आयु के सौ वर्ष क्षय हो जाते हैं। शास्त्र में वर्णित कलियुग के अन्त में होने वाला धर्म का ह्रास कलियुग के प्रथम चरण में ही दृष्टिगोचर भी हो रहा है। तो क्या इस समय कलियुग का अन्तिम चरण समझ लेना ठीक है?

समाधान :- सन्त की बात को कौन काट सकता है। इस समय यदि कलियुग के अन्तिम चरण का लक्षण घट रहा है तो आप वही समझ लो। पर एक बात समझने की है- ज्योतिषशास्त्र में एक सिद्धान्त है कि ग्रहों की महादशा में अन्तर्दशा भी चलती है। जैसे यदि शनि की महादशा आपको चल रही है तो उस अन्तराल में प्रत्येक ग्रह की अन्तर्दशा भी आएगी। मान लीजिए गुरु की अन्तर्दशा आई और गुरु आपकी कुण्डली में अच्छे स्थान पर है, तो उस महादशा में भी आपके जीवन में अच्छी घटनाएँ आएँगी। यदि अशुभ ग्रह की अन्तर्दशा आई, तो हानि हो जाएगी। समष्टि में भी इस समय कोई ऐसी अन्तर्दशा मालूम पड़ती है जिससे धर्म का ह्रास तेजी से हो रहा है। पहले जो परिवर्तन सौ वर्षों में होता था वह आज दो-तीन वर्षों में ही दिख रहा है।

कलियुग अभी समाप्त होगा या बाद में इसको देखने कौन आएगा? अन्तिम चरण है या प्रथम इस विचार में कोई सार नहीं है। सार तो इसी में है कि इस समय जो सुविधा है उसका उपयोग करके हम अपने जीवन को ऐसा बना लें कि किसी युग का कोई प्रभाव हम पर न पड़े। दुनिया को तो तुम बचा नहीं सकते और नही वह तुम्हारी जिम्मेदारी है। वह तो भगवान् की जिम्मेदारी है। तुम तो भगवान् की शरण लेकर अपने को बचा लो इसी में बुद्धिमानी है।

****

जिज्ञासा :- गृहस्थ और विरक्त के लोकसंग्रह में क्या अन्तर है?

विरक्त महात्मा भी आजकल लोकोपकारी कार्य कर रहे हैं। क्या यह उचित है?

समाधान :- महाभारत में कहा है-

द्वावेव न विराजेत विपरीतेन कर्मणा।
गृहस्थश्च निरारम्भः कार्यवांश्चैव भिक्षुकः।।(उद्योगपर्व-३३.५७)

शास्त्र का तात्पर्य यही है कि संन्यासी को अपनी निष्ठा में रहना चाहिए और गृहस्थ को अपनी निष्ठा में। गृहस्थ को सदा ही कुछ न कुछ निर्माण, कुछ आयोजन करते रहना चाहिए। कभी यज्ञ का आयोजन करे तो कभी दान का, कभी मन्दिर बनाने का तो कभी धर्मशाला बनाने का अथवा कभी घर बनाने का ही आयोजन करे। यही उसकी शोभा है, पैसे का अधिक संचय नहीं करना चाहिए। प्राचीन काल में हमारे देश में परम्परा थी कि पैसा इकठ्ठा होने पर राजा और सेठ लोग यज्ञ करते, मन्दिर बनाते, दान देते थे। यज्ञ करने से पैसा समाज में बँट जाता था और करने वाले को यश मिलता था। यश बहुत बड़ी चीज होती है, इसके लिये व्यक्ति कितना भी पैसा खर्च कर सकता था, पहले भारत में यही गणित था। यज्ञ करने वाले को जीवित रहते हुए समाज में यश मिलता था और मरने पर स्वर्ग। अतः समाज में धन का वितरण होता रहता था।

हमारे आज के नेता लोग यह यज्ञस्पर्धा नहीं बना पाये। नहीं तो आज किसी से बिना कर्जा लिये ही सारा विकास हो गया होता। नेता लोग तो जनता के पैसे से, कर्ज के पैसे से स्वयं यश लेना चाहते हैं। जो व्यक्ति गरीबों को मकान बनाकर दे, पुल बनवाए, सरकार की ओर से उसका नाम टी.वी. पर दिया जाए, स्तम्भ पर लिखा जाए तो समाजसेवा की होड़ लग जाएगी। इस प्रकार से कुछ न कुछ आरम्भ करना यह गृहस्थ का लोक संग्रह है।

प्राचीन काल में संन्यासी की भूमिका एकदम अलग थी। वह तो

एषणात्रय का त्याग करके आता था। **अनिकेतः, समः शत्रौ च मित्रे च, सर्वारम्भपरित्यागी, समः सङ्गविवर्जितः, ध्यानयोगपरो नित्यम्** यही उसकी जीवन चर्या थी। उसको छोड़कर यदि वह प्रवृत्ति में लग जाए तो निवृत्ति का वेष पहनने से क्या मतलब हुआ। पढ़ने के लिये, निर्माण करने के लिये संन्यास की कोई जरूरत नहीं है।

परन्तु आज की परिस्थिति में अन्य प्रकार से सोचना पड़ता है। व्यक्ति का संन्यास यदि शास्त्र के अनुसार नहीं हुआ है, उसमें एषणा बाकी है, निरन्तर वेदान्त-चिन्तन की सामर्थ्य नहीं है तब तो उसे निष्काम कर्म का अनुष्ठान करना ही पड़ेगा। आश्रम में झाडू भी लगानी पड़ेगी, भोजन भी बनाना पड़ेगा, अन्यथा उसकी चित्तशुद्धि कैसे होगी, जगत् से पूर्ण वैराग्य कैसे होगा। वहाँ रहकर जब व्यवहार को ठीक से पढ़ लेगा तो उसका मन जगत् से उठ जाएगा। यदि वह अपने लक्ष्य को ठीक रखे तो वहाँ से आगे बढ़ जाएगा।

आज संन्यासी लोग बहुत से लोकोपकारी कार्य कर रहे हैं। अस्पताल, स्कूल, गोशाला चला रहे हैं। हम इन सब को खराब तो नहीं मानते परन्तु यह विरक्त की शोभा नहीं है। हर पार्ट की एक शोभा होती है। ये कर्म शास्त्र के विपरीत नहीं है, परन्तु संन्यास धर्म के विरुद्ध हैं। वे लोग गैरिक वस्त्र की निष्ठा में नहीं चल रहे हैं। लोकोपकार करने के लिये संन्यास की क्या आवश्यकता है? हमारे पास एक महात्मा आये थे जो सफेद वस्त्र में रहते हैं और दो लाख गायों की सेवा कर रहे हैं। सफेद वस्त्र में रहने से क्या वे सेवा नहीं कर पा रहे हैं।

विरक्त का लोकसंग्रह यही है कि अपने लक्ष्य के प्रति, अपने संन्यास-धर्म के प्रति निष्ठा में रहे और गृहस्थ का लोकसंग्रह यही है कि शास्त्र के अनुसार गृहस्थ-धर्म का पालन करे। गृहस्थ का काम विरक्त करे और विरक्त का काम गृहस्थ करे यह विपर्यय ठीक नहीं।

जिज्ञासा :- जो संसार वास्तव में है नहीं उसको इतनी शक्ति कहाँ से मिलती है कि वह बड़े-बड़े ऋषियों को भी हरा देता है।

समाधान :- आप यह बताओ, जो स्वप्न है ही नहीं उस स्वप्न को इतनी शक्ति कहाँ से मिलती है कि वह आपको सुखी-दुःखी कर देता है, भयभीत कर देता है, परेशान कर देता है। यह तो आपका रोज का अनुभव है और आप यह भी जानते हैं कि स्वप्न झूठा होता है, अर्थात् वास्तव में होता ही नहीं। सामने रस्सी पड़ी है और आपके मन में आ गया कि यह सांप है तो आप भयभीत हो जाएंगे। वहाँ से भागेंगे तो हो सकता है कि गिरकर हाथ-पैर टूट जाए, यहाँ तक कि व्यक्ति भय से मर भी सकता है। अब बताओ रस्सी में सांप पैदा होता है क्या? जो चीज उत्पन्न ही नहीं हुई वह भय पैदा कर रही है, मृत्यु का हेतु बन रही है। उसे कहाँ से बल मिल रहा है? रस्सी का जो अज्ञान है उसी से बल मिल रहा है।

इसी प्रकार स्वरूप के अज्ञान से संसार को बल मिल रहा है। संसार में खुद का कोई बल नहीं है, यह तो मायिक है। संसार से जीव का कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु यह जीव जो **मैं** और **मेरा** की सृष्टि कर लेता है वही इसके बन्धन तथा पराजय का हेतु बन जाती है। यही माया है। बाहर का संसार हमारा कुछ नहीं बिगाड़ता, हमने अज्ञान से मन में जो संसार बना रखा है वही बन्धन में डालता है। **मैं** का अर्थ शरीर हो ही नहीं सकता, परन्तु यही अर्थ मन में बैठा है। यह गलत ज्ञान ही सारी समस्या का मूल है।

****

जिज्ञासा :- ज्ञान और शुद्ध प्रेम में क्या अन्तर है?

समाधान :- ज्ञान का सम्बन्ध बुद्धि से है और प्रेम का हृदय से। बुद्धि में चालाकी रहती है, इसलिये ज्ञान में चालाकी आ सकती है, चाहे वह ज्ञान संसार का हो चाहे आत्मा का बौद्धिक ज्ञान हो। प्रेम तो हृदय का

भाव है, वह अमृत है। पर सच्चा प्रेम बहुत कठिन है। जिसे जगत् के लोग प्रेम कहते हैं वह तो प्रेम है ही नहीं। जहाँ स्वार्थ का किंचित् भी सम्बन्ध है वहाँ प्रेम नहीं है। अपरोक्ष आत्मज्ञान का सम्बन्ध भी हृदय से होता है क्योंकि उसका हेतु ईश्वर से सच्चा प्रेम(पराभक्ति) ही बनता है। इस दृष्टि से अपरोक्ष ज्ञान और प्रेम में अन्तर नहीं है।

****

जिज्ञासा :- सर्वश्रेष्ठ शक्ति किसको माना गया है?

समाधान :- किसी भी वस्तु में जो कार्य करने की क्षमता है उसको शक्ति कहते हैं। शक्ति तो अनन्त प्रकार की हैं। जैसे अग्नि में दाहिका शक्ति, बीज में अंकुरोत्पादन शक्ति, ऐसे ही अनेक प्रकार की शक्तियाँ हैं। शारीरिक बल, धनबल, जनबल ये सब शक्ति के ही भेद हैं। इन सबमें आध्यात्मिक शक्ति सर्वश्रेष्ठ है। योगसूत्र के भाष्य में भी बताया है कि अन्य भौतिक शक्तियों से जो कार्य नहीं हो सकता वह आध्यात्मिक शक्ति से सम्पन्न हो सकता है।

****

जिज्ञासा :- हम पढ़ाई तो बहुत करते हैं पर परीक्षा देते समय बहुत गलतियाँ हो जाती हैं। इसे कैसे सुधारें?

समाधान :- विद्यार्थी को लिखने का अभ्यास अधिक करना चाहिए। नोट्स बनाने की आदत बनानी चाहिए। लिखने का काम अधिक करोगे तो परीक्षा में गलतियाँ कम होंगी। दूसरी बात यह है कि पढ़ाई एक व्यवस्थित तरीके से करनी चाहिए। जब तुमने एक पाठ पढ़ लिया तो पुस्तक को बन्द कर दो, फिर आँख बन्द करके जो पढ़ा उसे मन में दोहराओ, उसपर विचार करो। यह पढ़ाई का ठीक तरीका है। भले ही थोड़ा पढ़ो पर इस तरीके से उसे अपने मन में पक्का बैठाते रहो। यदि ऐसा करोगे तो तुम्हें

अपना पाठ लम्बे समय तक याद रहेगा, तब परीक्षा के समय गलतियाँ कम होंगी। इन दो बातों पर ध्यान देने से विद्यार्थी को बहुत लाभ हो सकता है।

****

जिज्ञासा :- भूत-प्रेत क्या वास्तव में किसी से मिलते हैं? शास्त्रों में कहीं-कहीं ब्रह्माजी के लिए भूत शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है?

समाधान :- हम तो बहुत जगह श्मशान में भी बैठे हैं, पर हमें कोई भूत नहीं दिखा। परन्तु शास्त्र कहता है कि भूत-प्रेत आदि योनियाँ होती हैं, इसलिए हम उसे मानते हैं। जब शास्त्र के आधार पर ही हम देवता, स्वर्ग, ब्रह्म सबके बारे में जान रहे हैं तो फिर भूतयोनि के विषय में क्यों विवाद करें? भूतयोनिवाला भूतकाल की सारी बातें जान लेता है, पर भविष्य की नहीं जान सकता, इसीलिए उसका नाम भूत है। शास्त्रों में कहीं-कहीं भूतों की गिनती देवयोनि में भी की जाती है क्योंकि उनमें विशेष शक्ति रहती है। वे अपना रूप बदल सकते हैं, उनका शरीर वायुमय होता है, उन्हें कहीं आने-जाने में दीवार आदि की रुकावट नहीं रहती, इसी प्रकार और भी उनमें कई शक्तियाँ होती हैं।

शास्त्र में ब्रह्माजी को भूत कहा इसमें कोई बड़ी बात नहीं है। शास्त्र में तो ब्रह्म को भी महाभूत कहा है – **अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस..।(बृ.उप.-२.४.१०)** जो भी सिद्ध(पहले से मौजूद) वस्तु है उसका नाम भी भूत है। आकाशादि पञ्चतत्त्वों को भी भूत शब्द से कहा जाता है। सभी प्राणियों के लिए भी भूत शब्द का प्रयोग गीता आदि ग्रन्थों में किया ही गया है। प्रकरण देखकर ही किसी शब्द का अर्थ लगाना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- स्वप्न क्यों आते हैं? स्वप्न आना ठीक है अथवा नहीं?

समाधान :- स्वप्न एक स्वाभाविक अवस्था है, वह सबको आती ही है। जैसे जाग्रत एक अवस्था है, उसी प्रकार से स्वप्न और सुषुप्ति भी अवस्थाएँ हैं। हमारे अन्दर इस जन्म के और पूर्व जन्मों के अनेक संस्कार हैं, उनको लेकर ही स्वप्न आ जाते हैं। स्वप्न आने के वैसे बहुत-से कारण हैं। शरीर में वात, पित्त और कफ के बढ़ने पर अलग-अलग प्रकार के स्वप्न दिख सकते हैं। जैसे वात बढ़ जाए तो आप अपने को आकाश में उड़ते देख सकते हैं।

स्वप्न आने में स्थान का भी प्रभाव होता है। यदि किसी गलत स्थान पर आप सोये हैं जहाँ प्रेतात्माओं का निवास हो, तो प्रायः आपको बुरे स्वप्न आएँगे। कई बार भोजन के प्रभाव से भी स्वप्न आते हैं, यदि भोजन बनाने वाले व्यक्ति में अथवा जिस पैसे से अन्न आया है उसमें अथवा बनाने के स्थान में कोई दोष हो तो ऐसे भोजन को खाने पर आपको गलत स्वप्न आ सकते हैं।

कई बार स्वप्न आगामी घटना के सूचक भी होते हैं, इनमें भी दो प्रकार हैं - कुछ स्वप्न तो आनेवाली घटनाओं का परोक्षरूप से संकेत देते हैं, स्पष्ट नहीं बताते। कुछ स्वप्न ऐसे भी होते हैं जिनमें आगे होनेवाली घटना स्पष्ट दिख जाती है। अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन को अपनी मृत्यु से पहले ठीक वैसी घटना दिख गई थी। उन्होंने अपने मित्र को बताया था, मैंने ऐसा स्वप्न देखा कि अमुक स्थान पर मैं भाषण दे रहा हूँ तब एक आदमी ने मुझे गोली से मार दिया। इसके कुछ दिन पश्चात् ही ठीक उसी स्थान पर उसी तरह उनकी मृत्यु हुई।

कुछ स्वप्न संकेत से सूचना देते हैं, उनको स्वप्नविद् ही जान सकते हैं। जैसे स्वप्न में श्वेत वस्तु का दर्शन शुभ माना जाता है, परन्तु कपास को छोड़कर। स्वप्न में काली वस्तु का दर्शन प्रायः अशुभ मानते हैं, परन्तु काली गाय, हाथी और सर्प इनका दर्शन शुभ होता है। जाग्रत की भाषा से

स्वप्न की भाषा भिन्न है। जैसे जाग्रत में कहीं आपका पैर विष्ठा में पड़ जाए तो बहुत खराब है, परन्तु स्वप्न में ऐसा दिखे तो शुभ मानते हैं, समझते हैं कि आपको धन प्राप्त होनेवाला है।

स्वप्न एक अवस्था है और वह सभी में आती है। ऐसा मत समझिए कि कुछ व्यक्तियों को स्वप्न नहीं आते। स्वप्न शास्त्र में वर्णित अवस्था है, वह सभी को आएगी ही, किसी को याद न रहता हो यह अलग बात है। आपने पूछा है स्वप्न आना ठीक है या नहीं? वह तो एक अवस्था है, आएगी ही, उसको ठीक-खराब क्या कहें? जाग्रत को आप ठीक कहें और स्वप्न को खराब, इसमें तो कोई कारण नहीं दिखता।

स्वप्न का आत्मविचार में भी बड़ा महत्व है। स्वप्नावस्था के विचार से हमें आत्मा की स्वयंप्रकाशता स्पष्ट हो जाती है, साथ ही जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए स्वप्न एक सटीक दृष्टान्त है। स्वप्न में जो पदार्थ दिखते हैं उस समय एकदम सत्य मालूम पड़ते हैं। **स्वकाले सत्यवद् भाति**, परन्तु जागने पर - **प्रबोधे सत्यसद् भवेत् (आत्मबोध-६)**, एकदम से मिथ्या हो जाते हैं। जैसे स्वप्न में पदार्थ दिखने पर भी मिथ्या होते हैं, उसी प्रकार से जाग्रत-पदार्थ भी मिथ्या हैं। इस प्रकार स्वप्न के विचार से जगत्-मिथ्यात्व के चिन्तन में बहुत सहायता मिलती है।

****

जिज्ञासा :- कुछ वैज्ञानिक लोग चैतन्य की उत्पत्ति जड़ वस्तुओं के एक विशेष अनुपात के विशेष परिस्थिति में मिलने से मानते हैं और इसमें तर्क भी देते हैं। उनके तर्कों को हम एकाएक नकार भी नहीं सकते क्योंकि आज विज्ञान से हम लोग बहुत लाभ ले रहे हैं, जिसका सभी लोग अनुभव भी करते हैं। ऐसे में वैज्ञानिक तर्क को न मानकर शास्त्र की बात को मानना कितना युक्तिसंगत है?

समाधान :- आज के युग में विज्ञान से बहुत लाभ हो रहा है, यह बात निःसन्देह सत्य होने पर भी यह सम्भव नहीं है कि किसी एक वैज्ञानिक ने भौतिकवाद को आधार बनाकर कुछ कल्पना की तो उसको हम भी मानने लगें। बहुत-से वैज्ञानिक भी इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। यदि उनके तर्कों पर विचार करें तो केवल तर्क की कोई गति नहीं होती है क्योंकि एक व्यक्ति अपने तर्क के आधार पर किसी वस्तु की सिद्धि करता है तो दूसरा उसको अपने तर्क से खण्डित कर देता है, तब तर्क की गति कहाँ हुई? इसलिए तर्क कोई अन्तिम निर्णय नहीं है। इस विषय में शास्त्र के प्रति श्रद्धा रखकर उसे ही प्रमाण मानें तो उचित होगा। हमारे वेद पक्षपातरहित, निर्दोष ईश्वर के द्वारा उपदिष्ट हैं और उनका कथन है कि चैतन्य शरीर नहीं है, वह शरीर से पृथक् है। बहुत-से महापुरुषों ने ज्ञान प्राप्त करके ऐसा अनुभव भी किया है।

वस्तुतः चैतन्यस्वरूप जो आत्मा है वह किसी वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में सिद्ध होनेवाली वस्तु नहीं है। वैज्ञानिक तो वस्तु की खोज उसके गुण को आधार मानकर बुद्धि से करता है, पर आत्मा न तो गुणवाला है और न ही बुद्धि का विषय, न ही किसी वैज्ञानिक ने चैतन्यस्वरूप आत्मा को अभी तक किसी प्रयोगशाला में उत्पन्न किया है। अतः इस विषय में अपने को कुछ समझ में न आए तो शास्त्र-कथन और महापुरुषों का अनुभव ही प्रमाण मान लेना चाहिए, न कि वैज्ञानिक तर्क।

****

जिज्ञासा :- भारतीय परम्परा में अतिथि-सत्कार का बड़ा महत्व बताया गया है। पर आजकल देखा जाता है कि चाहे आश्रम हों या घर, उनमें इसका ह्रास होता जा रहा है। इसका कारण क्या है और इस ह्रास को रोकने का समाधान क्या है?

समाधान :- आजकल जब सभी परम्पराओं का ह्रास हो रहा है तो

फिर सेवाधर्म का भी ह्रास हो रहा है, इसमें क्या आश्चर्य है! यदि ह्रास न हो तो आश्चर्य होना चाहिए। इस ह्रास में मुख्य हेतु युग का प्रभाव ही समझना चाहिए, पर इतना होते हुए भी आजकल आश्रमों में सेवा तो हो ही रही है, विशेषकर वैष्णव और उदासीन आश्रमों में आज भी सेवा देखी जाती है। सिक्ख सम्प्रदाय में देखो, आज भी बहुत अन्नक्षेत्र (लंगर) चलाए जाते हैं। हाँ, कुछ कमी अवश्य हुई है पर यह परम्परा समाप्त नहीं हुई है।

आपने इसका समाधान पूछा तो समाधान यही है कि उपदेश से काम नहीं चलता। आपको ऐसा करके लोगों के समक्ष आदर्श रखना पड़ेगा। एक ऐसे आश्रम या घर की प्रतिष्ठा करके लोगों को दिखाना पड़ेगा, मात्र दूसरों का दोष देखने से तो समाधान होनेवाला नहीं है।

साधु को अन्नक्षेत्र शुरू करना हो तो उसे पहले एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। एक बार बाबा कालीकमलीवाले (ऋषिकेश के एक महात्मा) एक अन्नक्षेत्र में भिक्षा के लिए गए। वहाँ कच्ची रोटियाँ भिक्षा में मिल गईं तो उन्होंने व्यवस्थापक से शिकायत की। व्यवस्थापक ने कहा यदि इतना सहन नहीं हो रहा है तो अपना अन्नक्षेत्र खोलकर बताओ। महात्मा को वह बात लग गई। उन्होंने ऋषिकेश से लेकर चारों धाम तक बहुत-से अन्नक्षेत्र खोल दिए।

परन्तु अन्तिम समय में लोगों ने उनसे जीवन का अनुभव पूछा तो वे बोले, यदि मैं उस दिन व्यवस्थापक की बात सहन कर लेता तो इतनी आफत में न पड़ा होता। इसके लिए मुझे क्या-क्या करना पड़ा है! जो सेठ पहले मेरे पीछे-पीछे घूमते थे, बाद में मैं उनके पीछे-पीछे घूमता रहा और वे मिलने के लिए तैयार नहीं थे। इतनी दीनता का मैंने जीवन में अनुभव किया। यह उनका अन्तिम समय का अनुभव था। इसलिए प्रश्नकर्ता को समाधान ढूँढ़ने से पहले इस बात पर विचार कर लेना चाहिए।

****

जिज्ञासा :- बालक को माता उत्पन्न करती है, पालन-पोषण इत्यादि भी करती है और बालक को कोई पूछे कि किसके पुत्र हो तो वह पिता का नाम बताता है। ऐसा क्यों ?

समाधान :- यह बात प्रसिद्ध है कि क्रिया तो शक्ति ही करती है, पर नाम शक्तिमान् का होता है। अग्नि की दाहिकाशक्ति वस्तु को जलाती है, पर लोग कहते हैं - अग्नि ने जलाया। यह इसलिए कि शक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानते हैं, वह जो कुछ भी करती है शक्तिमान् के आश्रित होकर ही करती है। इस प्रकार शक्ति का यह एक त्याग ही समझना चाहिए कि वह सब कुछ करते हुए भी अपनी पहचान प्रकट नहीं करती।

माता को भी शक्तिरूपा ही समझना चाहिए और यह उसका विलक्षण त्याग है कि बालक को उत्पन्न वह करती है, पालन-पोषण भी वही करती है, पर पहचान उसकी न होकर पिता की होती है।

****

जिज्ञासा :- भारतवासियों के स्वाभिमान का जागरण कैसे हो ?

समाधान :- यदि कोई भारतवासियों के स्वाभिमान को देखना चाहता है तो उसे विचार करना चाहिए कि उसका अपना जीवन वैसा है कि नहीं, जैसा वह दूसरों का बनाना चाहता है। उसे पहले अपने जीवन का निर्माण करना पड़ेगा क्योंकि केवल भाषणबाजी से यह काम होनेवाला नहीं है। जब वह अपने जीवन का वैसा निर्माण कर लेगा तो समझो उसका भारतवासियों के स्वाभिमान-जागरण में बहुत बड़ा सहयोग हो जाएगा क्योंकि उसको अन्दर से यह विश्वास हो जाएगा कि आज भी भारत का व्यक्ति अपने स्वाभिमान का निर्माण कर सकता है। नहीं तो आप वाणी से किसी को उपदेश करेंगे तो सुननेवाला भी उपदेश करना सीख लेगा, पर जीवन का प्रचार तो जीवन से ही होता है।

एक-एक व्यक्ति से समाज का निर्माण होता है। ऐसे समाज में जो भी आएगा, उसको उस समाज के अनुसार बनना ही पड़ेगा। इसलिए मेरे विचार में तो पहले बहुत आगे का न सोचकर अपने जीवन का ही निर्माण करें, फिर आगे की समस्या का समाधान हो जाएगा।

****

कल्पायुषां स्थानजयात् पुनर्भवात्
क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः
संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः॥
(भागवत-५.१९.२३)

जहाँ कल्पपर्यन्त दिव्य भोगों को भोगकर फिर संसार में लौटना पड़ता है ऐसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति की अपेक्षा भारत-भूमि में एक क्षण की भी आयु प्राप्त करना श्रेष्ठ है। इस भारत-भूमि में बुद्धिमान् पुरुष अपने मरणधर्मा शरीर से किये हुए कर्म भगवान् को अर्पण करके एक क्षण में ही उनके अभयपद (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है।



प.पू. स्वामी रामानन्द सरस्वतीजी महाराज के श्रीमुख से निःसृत स्वाध्याय एवं प्रवचनों की पुस्तक एवं सी.डी. की सूची

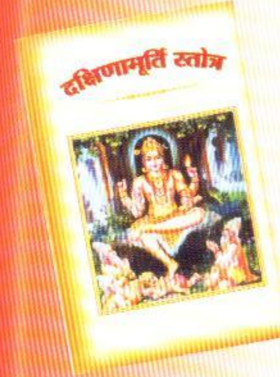
क्र.	विषय	संख्या	मूल्य रु.
	::पुस्तकें::		
१	प्रश्नोपनिषद् प्रवचन	१	३५
२	दक्षिणामूर्तिस्तोत्र प्रवचन	१	३५
३	अमृतवचन	१	५०
४	भावकुसुमाञ्जलिः	१	२०
५	शिवमहिम्नःस्तोत्रम् एवं नर्मदा महिमा	१	४०
६	प्रश्नोत्तरदीपमाला (भाग-१)	१	६०
७	प्रश्नोत्तरदीपमाला (भाग-२)	१	५०
८.	प्रश्नोत्तरदीपमाला (भाग-३)	१	५०
९.	पत्रपीयूष (भाग-१)	१	५०
१०	दक्षिणामूर्तिस्तोत्र प्रवचन (अंग्रेजी)	१	४०
	::प्रवचन MP3 एवं VCD::		
१	गीता प्रवचन	३	६०
२	गीता विचार	३	६०
३	दक्षिणामूर्तिस्तोत्र	१	२०
४	शिवमहिम्नःस्तोत्र	१	२०
५	अमृतवचन	१	२०
६	मुण्डक प्रवचन	१	२०
७	माण्डूक्य प्रवचन	१	२०
८	बाराबंकी-प्रवचन(VCD)	३	६०
९	मार्कण्डेयपुराण प्रवचन	३	६०
	::प्रस्थानत्रय स्वाध्याय MP3::		
१	गीता भाष्य	३४	६८०
२	ईशावास्योपनिषद् भाष्य	१	२०
३	केनोपनिषद् भाष्य	३	६०
४	कठोपनिषद् भाष्य	३	६०
५	प्रश्नोपनिषद् भाष्य	३	६०
६	माण्डूक्योपनिषद् भाष्य	९	१८०
७	तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य	८	१६०

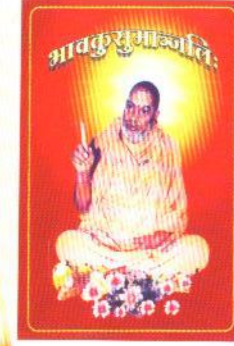
प.पू. स्वामी रामानन्द सरस्वतीजी महाराज के श्रीमुख से निःसृत
स्वाध्याय एवं प्रवचनों की पुस्तक एवं सी.डी. की सूची

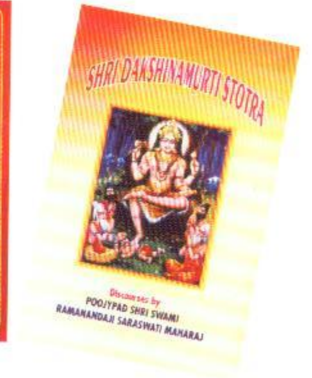
क्र.	विषय	संखया	मूल्य रु.
८	ऐतरेयोपनिषद् भाष्य	८	१६०
९	छान्दोग्योपनिषद् भाष्य	२०	४००
१०	बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य	१२	२४०
११	ब्रह्मसूत्र भाष्य	१६	३२०
	::आगम स्वाध्याय MP3::		
१	भावनोपनिषद्	१	२०
२	सुभगोदयस्तोत्र	३	६०
३	स्पन्दकारिका	३	६०
४	शिवसूत्र	३	६०
५	तन्त्रसार	२	४०
६	परमार्थसार	२	४०
७	विज्ञानभैरव	२	४०
८	परात्रिंशिका	१	२०
	::अन्य ग्रन्थों की MP3::		
१	विवेकचूड़ामणि	५	१००
२	पातञ्जलयोगसूत्र	५	१००
	::प्रश्नोत्तरी MP3 एवं VCD::		
१	प्रश्नोत्तरी ओंकारेश्वर	२५	५००
२	प्रश्नोत्तरी सुन्दरनगर	३	६०
३	प्रश्नोत्तरी मानसा	४	८०
४	प्रश्नोत्तरी हरिद्वार	५	१००
५	प्रश्नोत्तरी हरिद्वार(VCD)	३	६०
६	प्रश्नोत्तरी उल्लासनगर(VDVD)	४	२००
	::MP3:: (पू. स्वामी कृष्णानन्दजी)		
१	वेदस्तुति	१	२०
२	देवीमाहात्म्य	१	२०

****

हमारे अन्य प्रकाशन





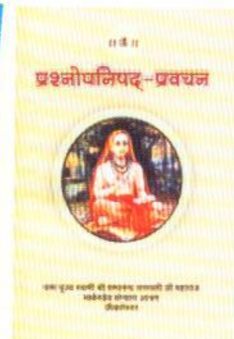


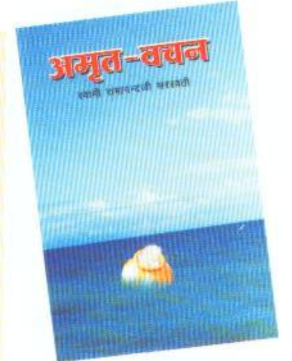












सबसे पहले तो शरीर की नश्वरता का विचार करना चाहिए। रोज कुछ काल ऐसा अभ्यास करो कि मेरा शरीर छूट गया है, इसे लोग चिता पर जला रहे हैं। मनरूपी नेत्र से शरीर को जलते हुए देखो और सोचो कि मैं शरीर को जलते हुए देख रहा हूँ, इसलिये मैं शरीर नहीं हूँ, इससे अलग हूँ। शरीर के जितने सम्बन्धी हैं उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा अभ्यास दीर्घकाल तक करने पर शरीरसम्बन्धी मोह दूर होगा और देहाध्यास शिथिल हो जाएगा। यह सत्य का अभ्यास है, मैं कोई झूठ का अभ्यास नहीं बता रहा हूँ। जो घटना घटने वाली है उसी का ध्यान करने को कह रहा हूँ।

इसी पुस्तक से (पृष्ठ - १०३)

श्री मार्कण्डेय संन्यास आश्रम पब्लिक ट्रस्ट, ओंकारेश्वर